राजनीति मेरी प्रेयसी

अरूण भोले

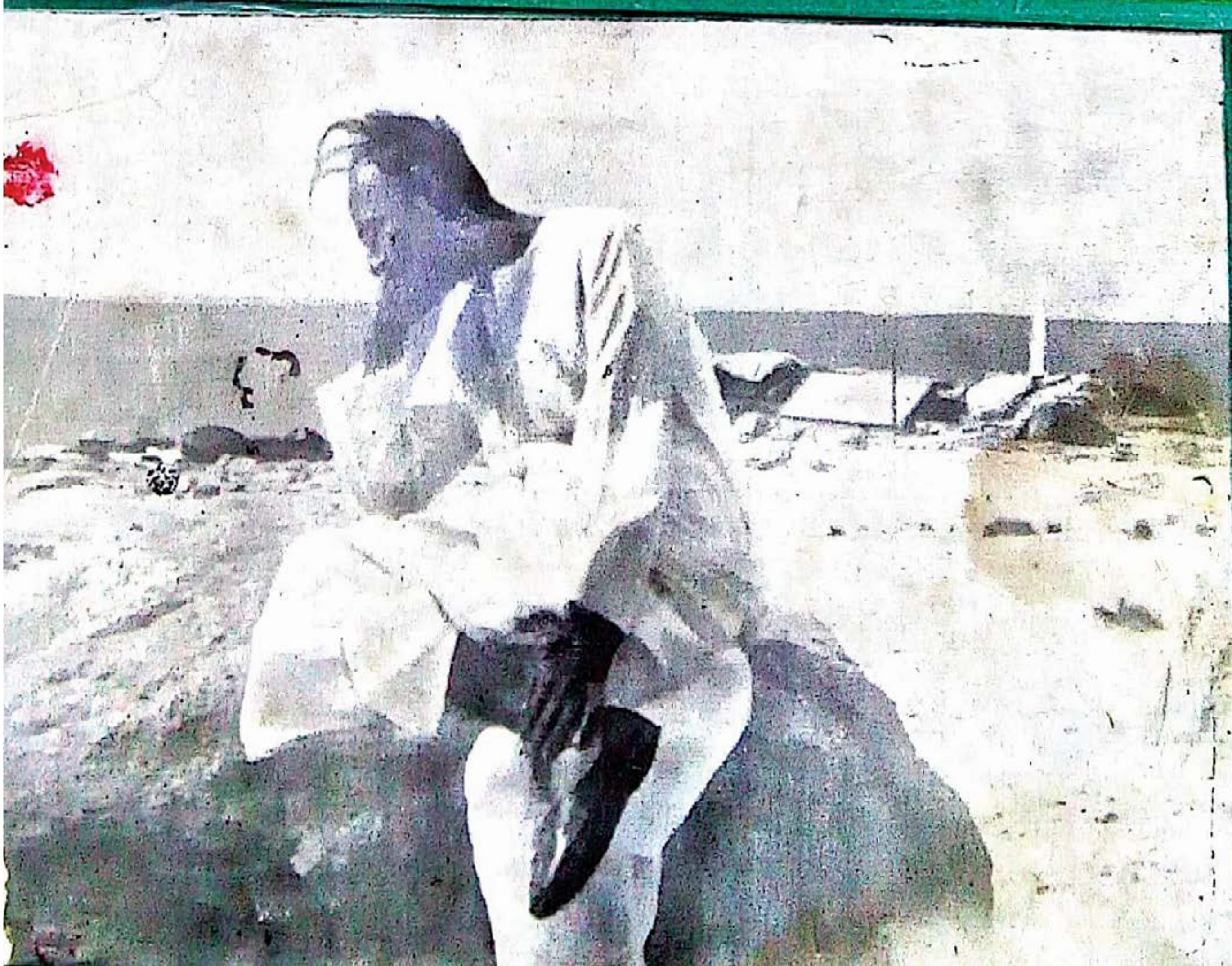

श्री भोले ने उन तमाम बुराइयों का बेरहमी से पर्दाफाश किया है जो हमारे संसदीय-लोकतंत्र के साथ जुड़कर भ्रष्ट और विभाजक तरीकों को बढ़ावा देने लगी हैं। श्री भोले के साथ कुछ मुद्दों पर मतभेद तो हो सकते हैं (ऐसे किसी भी विषय पर मतैक्य की उम्मीद कर ही कौन सकता है?) लेकिन जो सवाल इन्होंने उठाये हैं वे वैसे सवालात हैं जिन पर गौर करना हर प्रबुद्ध नागरिक के लिए लाजिम है। उनके जो जवाब अमल में पेश आयेंगे, उन्हीं से आखिरन इस मुल्क की तकदीर तय हो पाएगी।

ऐसे विषय पर तो लंबा-चौड़ा उपदेश सुनने का ही डर बना रहता है। लेकिन श्री भोले की किताब का तर्ज बिलकुल ही दूसरा है। इनकी किताबत में खानी, ऊंचे दर्जे की साहित्यिक हिंदी का रुतबा और पाठक के संग आत्मीयता कायम कर लेने की खूबी है; मैं पढ़ने लगा तो तल्लीन हो गया। ढेर सारे ज्ञानवर्द्धक तथ्यों को निहायत दिलचस्प ढंग से पेश कर देने में इन्होंने जो अंदाज अख्तियार किया है उसमें कायल कर देने वाली इनकी दलील और मोहक विनम्रता शामिल हैं।

यह किताब उन सभी लोगों के लिए है जो अपने वतन और पड़ोसियों की फिक्र रखते हैं।

—इरफान हबीब

1239

राजनीति
मेरी
प्रेयसी

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली

राजनीति मेरी प्रेयसी

अरुण भोले

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-२

मूल्य : ~~३०.००~~ ५०/-

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित / प्रथम संस्करण : १९८३ /
सर्वाधिकार : अरुण भोले
/ सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली-११००५३ में मुद्रित।
(133-9-11-1282 / IN)

RAJNITI : MERI PREYASI (Politics) by Arun Bholey; Price : Rs 30 00

उसकी एक सौत भी बसती है (राजनीति : मेरी प्रेयसी)
—यह जान कर भी जो मेरे प्रति
सदा समर्पित रही,

अपनी उसी धर्मपत्नी

माधवी वर्मा

को

सप्रेम समर्पित

भूमिका

Irfan Habib
Professor of History

CENTRE OF ADVANCED STUDY IN HISTORY
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY
ALIGARH-202001
20 February, 1982

Shri Arun Bholey : **Rajniti—Meri Preyasi**

Shri Arun Bholey offers in this book a challenging assessment of the political and moral crisis of Indian society today. The author has had a long political career—in the good sense of the term—behind him and he derives his own ideals from his long and loyal association with the Indian Socialist movement. He retains sincere pride in its past but is also frank in expressing his disappointments. To him the unity between one's political philosophy and one's political conduct is essential under all circumstances.

Shri Bholey is merciless in exposing the evils that have attached themselves to our parliamentary democracy and the temptations these present for the use of corrupt and divisive practices. One can differ with some of the points he makes (who can look for unanimity on a theme like the one he undertakes to deal with ?) But the questions he asks are the questions that every conscious citizen must ponder on. What answers are offered to them in practice, may ultimately determine the fate of this country.

On a subject like this, one may expect sermonising on the grand scale. Shri Bholey's book is, however, the opposite. Writing fluently in literary Hindi of a high order, Shri Bholey establishes an intimate rapport with the reader ; I for one felt absorbed with the book. He combines a persuasive argument, a charming humility with a very large amount of enlightening information presented in the most interesting form.

It is a book for everyone who cares for his country and his neighbours.

(Irfan Habib)

प्राक्कथन

सन् 1974 का साल। मार्च आंदोलन के तूफानी दिन। पटना शहर में कर्फ्यू। हर चौक और नुक्कड़ पर संगीनधारी जवानों की तैनात टुकड़ी। उन सबके बीच अपील के पर्चे बांटने का विकट सवाल। टैक्सी, टेम्पो, रिक्शा वगैरह कुछ भी नहीं। क्या करते हम लोग! जिससे जैसे बना, चल पड़ा। मैं उन दिनों बिहार राज्य सोशलिस्ट पार्टी का जनसंपर्क मंत्री था। जोश और जवाबदेही ने मुझे भी घर बैठने नहीं दिया। मुहल्ले के एक लड़के की साइकिल मंगवाई। एक झोले में पर्चे भर लिए। उसे कंधे से लटकाया और 'अब कोई गुलशन न उजड़े, अब वतन आज़ाद है' की धुन गुनगुनाता उछल कर साइकिल पर सवार हो गया। मेरी उमंग देख कर पत्नी हैरत में थीं। उनसे नहीं रहा गया तो बोल उठीं, 'वाह! क्या जोश है। बिल्कुल छोकड़ों की तरह फड़क रहे हैं···और अभी घर का कोई काम आ पड़े तो क्या मजाल···' वो अपनी बात अभी पूरी भी न कर पाई थीं कि मैंने चुहल कर दी—'देवीजी! जानती नहीं, तुम्हारी एक सौत भी बसती है, राजनीति : मेरी प्रथम प्रेयसी? उसका इशारा पाते ही मेरी नसें फड़क उठती हैं। फिर तो मुझे किसी और की सुध रह ही नहीं जाती।'

कैद की तनहाई में बीवी-बाल-बच्चों की याद आई, तो वह घटना भी याद आ गई। बात तो मज़ाक में कही थी, लेकिन थी कितनी सच बात! राजनीति से मेरा एक रागात्मक संबंध रहा है। मेरे जीवन में राजनीति पहले आई थी, पत्नी बहुत बाद। राजनीति ने जब जो नाच चाहा, मुझे नचाया। पत्नी बेचारी बेबस सब देखती रहीं, सहती रहीं। उस रात मेरी नींद उचट गई। पुराने पन्ने उलटते गए। मन बोझिल होता चला गया : कहां से राजनीति के फंदे में फंस गया! न अपना ही कुछ भला कर पाया, न लोगों का। जिंदगी बिगड़ गई! राजनीति का चस्का न लगता तो हमारी भी चैन-ओ-आराम से गुजरती—कहीं प्रोफेसर हुआ होता, आई०.ए० एस० अफसर होता। किसी बड़े फर्म में ऊंची तनख्वाह पाता होता, और नहीं तो इसी वकालत पेशे में ही चमक उठता। पद का मेरे लिए कोई महत्त्व न रहा हो, लेकिन

लोगों के लिए तो है। किसने कितना छोड़ा, उसका कोई मोल नहीं। किसने कितना ले लिया, सारा महत्त्व उसी का है। हितैषी कोसते रहे हैं—'कैसे-कैसे लोग कहां से कहां जा पहुंचे ! ...तुम जहीं के तहीं रह गए।' दोष मेरा है या भ्रष्ट राजनीति का ? मैं कभी कुछ नहीं बन पाया, शायद इसलिए नहीं कि मुझमें योग्यता, निष्ठा या कर्मठता कुछ कम थी; बल्कि इस कारण कि आज कुछ पाने के लिए जितना नीचे उतरना आवश्यक हो गया है, मैं उस स्तर तक उतरने को कभी तैयार नहीं हुआ।

तभी ख्याल आया : राजनीति ही करनी थी तो शुरू से कांग्रेस की राजनीति ही क्यों न की ! सत्ता-उपभोक्ता सहयोग-समिति में शामिल हो जाता। सब हुनर सीख लेता। वैसा ही संस्कार बन गया होता। लगाव भी रखा तो सोशलिस्ट राजनीति से। जयप्रकाश जी का नेतृत्व। ऊंचे आदर्श। बड़े सिद्धांत—बहुत कुछ अव्यावहारिक। साथ जयप्रकाश जी के चले थे, जयप्रकाश जी अकेले ही चलने लगे। सब को छोड़ दिया, तोड़ दिया। उनका अपना क्या बिगड़ा ? लेकिन भारत की राजनीति तो बिगड़ ही गई। मेरे जैसे अनेकों का जीवन भी इसीलिए बिगड़ा कि राजनीति ही बिगड़ गई। और राजनीति बिगड़ी, तो देश का भाग्य ही बिगड़ गया। राजनैतिक दर्शन और व्यवहार के बीच जो वैचारिक रिश्ते हैं, उन्हें तोड़ कर जब राजनीति चलाई जाए तो अनिष्ट अपरिहार्य है। असल अफसोस और फिक्र इसी बात की है।

उस रात किशोरावस्था से अब प्रौढ़ावस्था तक की अनेक स्मृतियां जाग उठीं। इन पैंतीस-चालीस वर्षों में देश की राजनीति ने कितनी करवटें बदलीं, कितना रूप बदला ! क्या सोच कर राजनीति पर फिदा हुए थे, राजनीति कैसी निकली ! कैसी-कैसी हसरतें, कैसे-कैसे अरमान : देश, आजादी, इन्कलाब; राष्ट्रीय-पुनर्निर्माण, राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक समता; अवसर की समानता और न्याय; चातुर्दिक सुख-समृद्धि। हकीकतें आज कुछ और : सत्ता की छीना-झपटी, पद-पैसों की लूट, जातीयता और भाई-भतीजावाद की तूती; सर्वत्र अनाचार और अराजकता। राजनीति की अवधारणा और प्रयोजन कितना पवित्र एवं मंगलकारी ! अपरिमेय शक्ति-पुंज है राजनीति—मनुष्य और समाज का भाग्य संवार दे। लेकिन कितना घिनौना रूप दीख रहा है उसका ! क्या इसी राजनीति के हम दीवाने थे ? क्या फरिश्तों का सपना ऐसी ही राजनीति चलाने का था ? क्या इसी आजादी के लिए उतनी कुर्बानियां दी गई थीं ? क्या ऐसा ही लोकतंत्र लक्ष्य था ? कहां चले थे लोग, कहां पहुंच गए ! कौन सी चूक हुई ? किससे भूल हुई ? उस रात एक-एक कर न जाने कितने प्रश्न उठते चले गए। मन क्षति-भाव से संतप्त हो उठा। ख्याल आया, सारी श्रुति-स्मृतियों को समेट एक किताब लिखूं—'Politics :

My first Love' (a commentary on contemporary politics) लेकिन दूसरे-तीसरे दिन ही जेल से छूट गया। बात खत्म हो गई।

महीने-डेढ़ महीने बाद 'मिसा' में फिर गिरफ्तार हुआ। मोतीहारी जेल में हमारी पार्टी के महामंत्री सुरेन्द्र मोहन जी भी साथ थे। उनकी बातों की गहराई और गंभीरता ने मन ही मन मुझे फिर उकसाया। इस बार मैं दृढ़-प्रतिज्ञ था; लेकिन किताब अंग्रेजी में नहीं, हिंदी में लिखने को। और, कॉमेन्टरि के रूप में नहीं, बल्कि एक संस्मरण के रूप में। तभी मन में एक प्रश्न यह भी उठा—मेरे जैसे अदना आदमी के संस्मरण का क्या मोल ? लेकिन यह सोच कर साहस हुआ : मैं भले ही एक छोटा आदमी रहा हूं, परंतु जिन आदर्श अभीष्टों के साथ जुड़ा रहा, वे तो छोटे नहीं थे। अपने कमजोर कंधों पर मैं भी तो उन्हीं आदर्शों को ढोता रहा हूं। उन्हीं महान् लक्ष्यों की सिद्धि हेतु अपनी सीमित शक्ति-सामर्थ्य भर सतत् सचेष्ट रहा हूं। निस्संदेह, बड़ों की बातें बड़ी होती हैं। किंतु बड़ी से बड़ी बात व्यर्थ है यदि वह छोटे आदमी के हित में न हो। वैसी बड़ी बातों के संबंध में छोटा आदमी खुद क्या सोचता है, क्या यह जानने की बात नहीं ? गांधी, नेहरू, पटेल, राजाजी, जे० पी० आदि फरिश्ते देश की सुख-समृद्धि और सार्वजनिक स्वास्थ्य के जो नुस्खे बता गए, उनकी सार्थकता-निरर्थकता की कसौटी आखिर जनसाधारण ही तो होंगे। मैं और कुछ नहीं तो भारत के जनसाधारण में एक तो हूं। तब यह निर्णय आप पर ही छोड़ देता हूं कि मेरे जैसे अदना आदमी, एक साधारण जनसेवी के अनुभव-अनुभूतियों का कोई मोल है भी या नहीं।

सब के बावजूद, मेरे अनुभव, मेरी अनुभूतियां, सब मेरे साथ ही रह जातीं। किताब बन कर हर्गिज प्रकट न हुई होतीं यदि सुहृद प्रोफेसर डा० रमेशचंद्र सिन्हा (अंग्रेजी विभाग, बी० एन० कालेज, पटना) ने मुझे प्रोत्साहित न किया होता। वे स्वयं ही भाषा-विद् और कुशल कथाकार हैं। मुझ से बार-बार कहते रहे—'आपकी भाषा बड़ी अच्छी है, बहुत अच्छा लिख सकते हैं। पर्याप्त अनुभव है। सब लिख डालिए।' अब, यह तो आप ही जानें, उनका कहना कहां तक ठीक है। गलत भी हो तो कसूर उनका नहीं। नेक-नीयत वालों को खुदा बख्श देता है। फिर आप क्यों कोताही करें ! अपनी ओर से मैं तो रमेश बाबू का सदा आभारी रहूंगा। वैसे, भाषा और व्याकरण-ज्ञान का मेरा अपना हाल तो यह है कि पुस्तक रचना के समय मुझे अक्सर अपनी बेटी निवेदिता और बेटा मिहिर की मदद लेनी पड़ती थी। लेखक-पिता अपनी दोनों संतान का आभारी है। अनुज, विश्वनेकमन और उनके स्नेही मित्र, प्रो० कृष्णानन्द द्विवेदी के सहयोग भी कुछ कम नहीं।

अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के विख्यात विद्वान प्रो० इरफान हबीब

साहब का शुक्रिया अदा करने के काबिल लफ्ज़ मेरे पास मौजूद नहीं। उन्होंने मुझसे पांडुलिपि पढ़वा कर सुनने में जितना वक्त सर्फ किया, जितनी दिलचस्पी ली, वही नायाब थी। लेकिन उन्होंने पुस्तक-परिचय लिख देने की इनायत भी फरमाई। विद्वत्ता एवं उदारता में वे अति-समृद्ध हैं। मैं अकिंचन, कैसे ऋण चुकाऊं !

अपने प्रकाशक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस के मैनेजिंग डायरेक्टर श्री के० एल० मलिक साहब के प्रति आभार प्रदर्शन न करूं तो कृतघ्नता हो जाएगी। यह पुस्तक प्रकाशित करने का उनका निर्णय सौहार्द्रसूचक भी है।

कई कारणों से लिखने का क्रम टूट गया था। किताब पूरी होने और छपने में देर होती; इसलिए मैं चाहता था कि जयप्रकाश जी से संबंधित जो प्रकरण हैं, वे उनके जीवन-काल में ही तब तक किसी पत्रिका के माध्यम से प्रकाशित हो जाएं। इसी उद्देश्य से मैंने 9 जनवरी, 1978 को उन्हें 'रविवार' के पास कलकत्ता भेजे थे। परंतु संपादक महोदय ने मेरी रचना का उपयोग न कर पाने पर अपना खेद प्रकट करते हुए एक सप्ताह के अंदर ही बड़ी मुस्तैदी से उसे लौटा दिया। उससे पूर्व, दिल्ली के 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में उसे छपवाने का भी असफल प्रयास मैं कर चुका था।

एक और अफसोस मुझे रह गया : काश ! यह पुस्तक श्री राजमोहन गांधी की 'भूमिका' से भी सुसज्जित हो जाती।

ब्लॉक-12, फ्लैट-107
राजेन्द्र नगर, पटना
अक्टूबर, 1982

एक

वह राजनीति थी जो सब बर्बाद कर गयी। कहां से दिल लगाया ऐसी बेमुरव्वत से जो जिन्दगी बेतरतीब कर चली गयी। लड़कपन और आशिकी! तेरह-चौदह साल की उम्र भी कोई उम्र होती है ऐसे संगीन मामलों के लिए? न होश, न हवास; न समझ, न बूझ; लेकिन बदकिस्मती को क्या कहिए! सियासत बानो से अपनी मुलाकात उसी उम्र में हुई। मिलते ही मचल गए। ज्यों-ज्यों परिचय बढ़ता गया, उसकी हर अदा पर रीझते चले गए—हड़ताल, जुलूस, मीटिंग। जब देखिए एक दौरे-जुनून से गुजर रहे हैं: देश···आजादी···इन्कलाब।

जिन्दगी यूं भी गुजर ही जाती,
क्यूं तेरा राहगुजर याद आया
—ग़ालिब

(रामेश्वर प्रसाद वर्मा)

पिताजी बिहार सरकार के खुफिया विभाग में एक कनीय अधिकारी थे। सन् '44 में नौकरी से बर्खास्त कर दिए गए। इल्जाम था: सरकार के खिलाफ काम करने और आजादी की लड़ाई में जुटे नेताओं और सेनानियों को मदद पहुंचाने का। गुप्तचर विभाग में थे न! सो सब कुछ गुप्त रूप से ही होता रहा। अगस्त-क्रान्ति के पूर्व से ही सम्पर्क बना लिया था उन्होंने कुछ कांग्रेस सोशलिस्ट लीडरों से। हजारीबाग जेल से निकल भागे जयप्रकाश नारायण और रामनन्दन मिश्र को पकड़ने की सरकारी योजना जब बनी, तो बिहार सरकार के गुप्तचर विभाग की ओर से पिताजी भी बम्बई भेजे गए। सरकार पर उनकी गुप्तचरी का रहस्य कुछ-कुछ वहीं प्रकट हुआ। सरकारी योजना वहां तो विफल रही परन्तु संदेह और निगरानी के साये में पिताजी बिहार वापस बुला लिए गए। कुछ समय फिक्र और बेचैनी में कटे और फिर बराबर के लिए इत्मीनान हो गए—नौकरी से बर्खास्तगी, सदा-सर्वदा की छुट्टी!

जयप्रकाश हमारी जिन्दगी में बस उसी समय उतरे। पहले-पहल सुना कि

कोई जयप्रकाश भी है जो आजादी की मशाल लेकर जेल की दीवार लांघ गया है (नवम्बर 1942)। जयप्रकाश फिर पकड़े गए। तब, लगभग ढाई वर्षों के बाद, अप्रैल सन् 1946 में, लाहौर फोर्ट जेल से वे रिहा हुए थे। फिर तो उनका 'वीर-गाथा काल' प्रारम्भ हुआ—अगस्त क्रान्ति का अग्रदूत···लाल सितारा जयप्रकाश···भारत का लेनिन जयप्रकाश···लेनिन से आगे जयप्रकाश···जयप्रकाश जिंदाबाद। मैं तब तेरह-चौदह वर्ष का था। मेरे किशोर मन पर जयप्रकाश पूर्ण रूप से छा गए। सम्मोहन की सी अवस्था में एक इच्छा पनपी और क्रमश: बलवती होती चली गयी—दूसरा जयप्रकाश बनने की। जयप्रकाश जी के व्यक्तित्व और विचारों के इर्द-गिर्द ही मेरी सारी आकांक्षाएं बनती-संवरती रहीं। लेकिन गांधी, नेहरू, सुभाष, जयप्रकाश, जब जो चाहे थोड़े ही बन सकता है! भूल अब साफ-साफ समझ में आती है।

आज मैं निश्चयपूर्वक यह भी नहीं कह सकता कि दूसरा जयप्रकाश नहीं बन पाना मेरे लिए दुर्भाग्य की बात हुई या सौभाग्य की। कई अन्य महापुरुषों की तरह जयप्रकाश, उनका जीवन और उनकी उपलब्धियां इतिहास के विवादास्पद विषय बने रहेंगे। वैसे, विषाद के किसी क्षण में उन्होंने स्वयं भी महसूस किया था कि उनका जीवन विफलताओं से भरा रहा और सफलता जब कभी उनके निकट आई तो उन्होंने स्वयं ही उसे अपने मार्ग से दूर ठेल दिया। कारण? सफलता-विफलता की उनकी निजी परिभाषा; जग जिसे विफलता कहता था, उसे वे शोध की मंजिलें मानते थे और तुष्ट भी थे अपनी विफलताओं पर। विषाद और तोष के जो अंतर्द्वंद्व उनके मन में चलते रहे, वे समकालीन अनेक प्रति-स्पर्धी मूल्यों और मान्यताओं के टकराव ही तो थे! जयप्रकाश अपने जीवन की संध्या-वेला में रुग्ण, क्लांत, अल्प-विस्मृति से ग्रस्त हो गए थे। अच्छा होता, तब जयप्रकाश सब कुछ भूल ही जाते। अल्प-विस्मृति की मन:स्थिति में वह सूरज सदा-सर्वदा के लिए अस्त हो गया। आगे उसकी कैसी स्मृति शेष रहेगी जन-मानस में, यह तो भविष्य ही बता सकेगा। देश की स्वतंत्रता, राष्ट्रीय जन-जागरण, नव समाज की रचना—इन सब के लिए क्या कुछ नहीं किया उस आदमी ने! कैसी-कैसी दुर्गम राहों से चले, कैसी-कैसी यातनाएं सहीं; जान की बाजी लगा दी मंजिल तक पहुंचने में। और मंजिल थी, कि पहुंचे तो फिर आगे बढ़ जाती।

8 अगस्त '42 की संध्या को कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक में बंबई से जब गांधी ने अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए ललकारा, तो प्रशासन नेताओं पर झपट पड़ा। पौ फटते-फटते देश के सारे नेता गिरफ्तार कर लिए गए। और 9 अगस्त को जब सूरज निकला, तो वह क्रांति का एक दहकता शोला था। सारे देश में आग लग गयी। लपटें इतनी तेज थीं कि एक हफ्ते तक लगा, मानो अंग्रेजी राज

जलकर राख हो गया हो। लेकिन बात पलटी। अंग्रजों का दमनचक्र तेजी से चला। क्रूर और पाशविक साम्राज्यवादी शक्ति ने निहत्थे लोगों को रौंद डाला। और तब लगा, आजादी की लड़ाई जैसे सौ साल पीछे धकेल दी गयी हो। सब कुछ शांत और सामान्य हो गया।

लेकिन, हजारीबाग की पहाड़ियों में जो शीतल बयार बहा करती हैं, वे उदास थीं। जयप्रकाश के मन का ताप मिटाना उनके लिए संभव नहीं हो पा रहा था। कारागार की सींखचों के पीछे जयप्रकाश के मन में क्रांति की ज्वाला अब भी दहक रही थी। वे बेचैन थे। गांधी की गिरफ्तारी के बाद ब्रिटेन के भारत सचिव, मिस्टर लियोपोल्ड एस० एमरी की व्यंग्योक्ति—'नाट ए डॉग डिड बार्क' (एक कुत्ता भी नहीं भौंका)—उनके मन को बार-बार कचोट रहा था। गांधी राष्ट्रपिता थे, आजादी के मसीहा थे। उनका उपहार प्रकारांतर से सारे राष्ट्र का अपमान था। समूचे राष्ट्र को यह एक चुनौती भी थी। स्वतंत्रता सेनानियों की ओर से जयप्रकाश उस चुनौती को स्वीकार करने के लिए आतुर हो उठे। जनता पराजित नहीं हुई है, वह केवल नेतृत्व विहीन हो गई है, यह विश्वास उनकी व्यग्रता को बल दे देता और तभी, दीवाली की रात को, जब सभी बंदी और जेल कर्मचारी सांस्कृतिक कार्यक्रमों का रस ले रहे थे, जयप्रकाश अपने पांच अन्य साथियों—रामनन्दन मिश्र, सूरजनारायण सिंह, योगेन्द्र शुक्ल, हजारीबाग के शालिग्राम सिंह और चम्पारण के गुलाली भाई के साथ, धोतियों की रस्सी के सहारे हजारीबाग जेल की ऊंची दीवार लांघ गए। कई दिनों तक पथरीली-कंटीली राहों से गुजरते, घने जंगलों में लुकते-छिपते, भूख-प्यास से त्रस्त—वे सब चलते रहे। पांव में फफोले उभर आए थे जयप्रकाश के। लेकिन उनके कदम रुके नहीं। वे बढ़ते गए, बढ़ते गए, ब्रिटिश राज को उखाड़ फेंकने की धुन में। लेकिन इतनी बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति का मुक़ाबला किया जाए तो कैसे? डॉ० राम-मनोहर लोहिया, अरुणा आसफ अली और अन्य मित्रों की मंत्रणा से गुरिल्ला-युद्ध की योजना बनी। आजाद दस्ता संगठित हुआ। मुख्यालय था—नेपाल का विराटनगर, भारत की सीमा से सटा। उस दिन आजाद दस्ते ने कमाल कर दिया। हनुमाननगर के नेपाली जेल में, जहां जयप्रकाश, लोहिया आदि गिरफ्तार कर अंग्रेजी सरकार को सुपुर्द करने के लिए रख छोड़े गए थे, दस्ता सैनिकों ने अचानक हमला बोल दिया। दोनों ओर से धुआंधार गोलियां चलीं। एक नेपाली गार्ड मारा गया। लेकिन जयप्रकाश, लोहिया और उनके सभी साथी बच निकले। दस्ता सैनिक अपने सिपहसालार और नेताओं को छुड़ा ले गए। लेकिन भारत सरकार ने तो उन्हें पकड़ने के लिए चारों ओर जाल बिछा रखा था। वे जब तक बच रहे थे, गनीमत थी। फिर लोगों को मालूम हुआ: 18 सितम्बर '43 को लाहौर जाने वाली ट्रेन के फर्स्ट क्लास कंपार्टमेंट में बंबई का एक खूबसूरत

नौजवान व्यापारी, मि० मेहता, गिरफ्तार किया गया है। वे जयप्रकाश थे।

लाहौर फोर्ट जेल में पंजाब पुलिस और सी० आई० डी० अधिकारियों ने कैसे-कैसे जुल्म ढाये थे उन पर, कैसी-कैसी यातनाएं दीं। मौत भी उतनी तकलीफदेह नहीं होती। प्रयोजन, मात्र इतना ही था कि उगल दें, बक दें ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध अपने क्रांतिकारी षड्यंत्रों के सारे रहस्य। लेकिन जयप्रकाश यातनाओं के समक्ष झुकने वाले प्राणी थोड़े ही थे ? साफ-साफ लिख भेजा पंजाब-सरकार के गृह सचिव को : "···मुझे इससे अधिक कुछ नहीं कहना है कि मैं भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का शत्रु हूं। मैं अपने देश की स्वतंत्रता के लिए काम करता रहा हूं और तब तक करता रहूंगा जब तक मेरा उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता, या मौत दखल नहीं देती···मैं किसी भी दबाव के सामने झुक नहीं सकता, चाहे मुझे अपनी जान से ही क्यों न हाथ धोना पड़े···" सरकार को इससे अधिक कोई सुराग जयप्रकाश से नहीं मिल सका। यातनाएं स्वयं पराजित होकर समाप्त हो गईं।

यह मात्र संयोग की बात थी कि खुदीराम बोस, भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाषचन्द्र बोस जैसे अमर शहीदों की गति उन दिनों जयप्रकाश नहीं पा सके, अन्यथा वे चले तो थे उसी राह पर जिसका अंजाम शहादत था।

परंतु, स्वतंत्रता-प्राप्ति के अट्ठाईस वर्षों बाद, सन् 1975 में, जयप्रकाश की देशभक्ति के प्रति जैसा आभार-प्रदर्शन उनके स्वजनों ने किया था, उसे देख स्वर्गवासी शहीदों को नाहक अपने प्राण गंवाने का अफसोस हुआ होगा।

अपने जीवन की संध्या-वेला में जयप्रकाश फासिस्ट तथा साम्राज्यवादी एजेंट बताए गए, और उन्हें बंदीगृह में डाल दिया गया। राजनैतिक मिथ्यावाद और अधोपतन का वह सर्वाधिक विकृत उदाहरण था। उसके बाद, राष्ट्र और लोकसेवा के लिए आत्मोत्सर्ग के भाव किसी के मन में क्यों और कैसे उत्पन्न हो सकते हैं, यही प्रश्न शेष रह जाता है। कैसी हुई थी वह दुर्गति निःस्वार्थ जन-सेवा की ! राजनीति और जन-सेवा से एक वितृष्णा-सी हो जाती है।

लेकिन जो कुछ भी हुआ, उसका दोष क्या स्वयं जयप्रकाशजी पर कुछ कम था ? लोहिया याद आते हैं—स्वर्गीय डाक्टर राममनोहर लोहिया। तड़प-तड़प कर रह गया वह आदमी जयप्रकाश की गफलत को दूर करने के लिए। संभवतः सन् 1964 की बात है। पटने में जे० पी० के निवास पर ही लोहिया जी उनसे मिले थे। देश की राजनीति और समाजवादी आंदोलन के संबंध में देर तक बातें हुई थीं। कुछ दिनों बाद सहरसा में जब लोहिया जी मिले, तो सर्किट हाउस में एकांत पाकर मैंने उन्हें छेड़ा, "जे० पी० से क्या सब बातें हुईं ?" पहले तो वे टाल

गए, कहा : "अरे ! अखबारों में तो देखा ही होगा ।" मगर मैंने उन्हें घेरते हुए कहा कि अखबारों में तो सारी बातें आईं नहीं । फिर मैं तो उनसे वो बातें जानना चाहता था, जो अखबारों में आ भी नहीं सकती थीं । मुझ पर कुछ नेह रखते थे लोहिया साहब, उससे शायद विवश हुए तो बोले : "वही पुराना राग, कि दलगत राजनीति से कुछ बनने वाला नहीं । देश के प्रथम श्रेणी के नेताओं को 'पावर पॉलिटिक्स' से विलग होकर 'रीकन्स्ट्रकशन ऑफ इंडियन पॉलिटि' के कामों में जुट जाना चाहिए । मुझसे भी कहने लगे कि इधर ही चले आओ; तो मैंने कहा, "तुम तो स्वयं ही प्रथम श्रेणी के लोगों में हो और काफ़ी दिनों से इस काम में लगे हो । तो क्या तुम्हारा अपना तजुर्बा काफी नहीं यह बताने के लिए कि इससे कुछ खास बनने वाला नहीं ? फिर मुझे भी नाहक क्यों घसीटना चाहते हो ?" कहते-कहते लोहिया जी एक गंभीर खामोशी में डूब गए । चेहरे परकुछ ऐसी रेखाएं उभरीं जैसे किसी छटपटाहट में हों; कुछ कहना चाहते हों और कहते न बनता हो । उनकी वो भंगिमा बहुधा मेरे स्मृति-पटल पर कौंध जाती है—आंखें सिमट गई थीं, पेशानी पर बल पड़ गए थे और अपनी हथेली पर दो उंगलियों के सहारे थोड़ा तिरछा कर उन्होंने अपना चेहरा टिका लिया था । एक दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए उन्होंने कहा था—"ये जयप्रकाश समझते हैं कि इस ढंग से हिंदुस्तान की राजनीति को उनका 'पॉज़िटिव कांट्रिब्यूशन' हो रहा है, पर सच पूछो तो वे कुछ कर नहीं पा रहे हैं । अब उनकी इस गफलत को कोई कैसे दूर करे, यह एक बहुत बड़ा सवाल है ।"

जयप्रकाश के पराक्रम को लोहिया खूब अच्छी तरह जानते थे । वे मानते थे कि सारे देश को झकझोर कर जगा देने की ताक़त किसी में है, तो जयप्रकाश में । यह धारणा उनके अचेतन मन में इतनी गहरी पैठ गयी थी कि जीवन की अंतिम घड़ियों में, जब वे दिल्ली के विलिंग्डन अस्पताल में अचेत पड़े थे, तो संज्ञाहीनता की उस अवस्था में भी वे कई बार यह बोलते सुने गए : "गरीबों का क्या होगा ? ...जयप्रकाश को बुलाओ..." लोहिया जी तो चल बसे । उनकी जिंदगी में उनके सिर पटकने का जयप्रकाश पर कोई असर नहीं हुआ । लेकिन जब वे मरे, तो जयप्रकाश जी बहुत रोए-पछताए । जे० पी० भावुक और संवेदनशील थे । द्रवित होते, तो फूट-फूटकर रोने लगते थे; नयन-नीर की झड़ी लगा देते थे । लोहिया जी उनके इस स्वभाव से कभी-कभी चिढ़ जाते और बिदककर कहते, "उरऽऽ बिच्चऽ बहत पनारे ।"

लेकिन उस बार पनार बहकर व्यर्थ सूख नहीं गया । वह बह निकला जयप्रकाश के अंतर्मन के उन खंडों की ओर जो बरसों से बंजर पड़े थे । लगता है, लोहिया जी की मृत्यु के बाद उनकी कुछ बातें जे०पी० को छू गईं और आहिस्ता-आहिस्ता उनके मन में गहरी उतरने लगीं । ऐसा ही कुछ हुआ होगा तभी तो वे

थोड़ा थमना चाहते थे, पलट कर देखना चाहते थे कि कहां से कहां जा पहुंचे थे वे काल-प्रवाह के साथ। बीस वर्ष कुछ कम थोड़े ही होते हैं किसी व्यक्ति के जीवन में ! दो दशाब्दियों की जीवन-यात्रा, समाजवाद से सर्वोदय की ओर। एक मसीहा और परिव्राजक का सा जीवन। जे० पी० कुछ दिनों का अज्ञातवास चाहते थे; किसी ऐसे स्थल पर जहां एकांत में जीवन के पिछले पन्नों को उलटकर देखें, उनका लेखा-जोखा और मूल्यांकन कर सकें। किन-किन पड़ावों से गुजरे थे वे इस बीच—समाजवादी आंदोलन से संबंध-विच्छेद, दलगत राजनीति से विलगाव, सर्वोदय, भूदान, जीवनदान, तिब्बत, हंगरी, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, अफ्रीकी देशों का नवजागरण, भारत-पाक मैत्री, नागालैंड, कश्मीर, बांगलादेश, मुसहरी, चम्बलघाटी और न जाने देश-विदेश की कितनी अन्य समस्याएं जिनसे वे जूझे थे। 'राजनीति से लोकनीति' तक की उनकी यात्रा का वृत्तांत सचमुच बड़ा अद्‌भुत और रोमांचकारी था। सिंहावलोकन के इसी क्रम में उन्हें ऐसा भी लगा था कि विगत बीस वर्षों के उनके अधिकांश प्रयोग-प्रयास समय और शक्ति के अपव्यय मात्र थे।

जे० पी० को बीच-बीच में 'बोध' हुआ करता था। भगवान् बुद्ध को बारह वर्षों की कठिन तपस्या के बाद बोध प्राप्त हुआ था; केवल एक बार। परंतु जे० पी० को कुछ वर्षों के अंतराल पर प्रायः ऐसा हुआ करता था। सन् 1952 में पुणे में अपने इक्कीस-दिवसीय उपवास-क्रम में उन्हें बोध हुआ कि भौतिकवाद से अच्छाई के लिए कोई अनुप्रेरणा प्राप्त नहीं होती, तो देश के समाजवादी आंदोलन को मंझधार में छोड़ वे सर्वोदय कीनाव पर जा बैठे। कोई बीस वर्षों तक इस नाव को खेने के बाद जब वे विचारों के भंवर में फिर फंसे, तो उन्हें अपने सारे प्रयास समय और शक्ति के अपव्यय प्रतीत हुए। और जब उनके 'दिवस का अवसान समीप था' तो उनका विचार-गगन पुनः लोहित हो चला और उन्होंने एक व्यापक जन आंदोलन में सक्रिय योगदान का व्रत ले लिया। उसी आंदोलन के संचालन-क्रम में उन्हें संपूर्ण क्रांति की अलौकिक किरणें दीखीं। फिर जब उस 'अगम-अगोचर राजनैतिक ब्रह्मवाद' की निःसंदिग्धता के प्रति वे स्वयं ही पूर्ण-रूपेण आश्वस्त न हो पाए, तो उन्हें पुनः बोध हुआ—वर्ग संघर्ष की अनिवार्यता का। गनीमत थी, जे० पी० का स्वास्थ्य ही उनका साथ छोड़ चुका था, वर्ना, जाने क्या बवाल मचता।

स्व० रामबृक्ष बेनीपुरी ने मेरे पिताजी को यह किस्सा सुनाया था। बेनीपुरी जी जे० पी० के परम सहयोगी और घनिष्ठ मित्रों में थे। शायद सन् '58 की बात है। जयप्रकाश जी यूरोप-यात्रा पर जाने वाले थे कि उनकी पत्नी प्रभावती जी की तबीयत अचानक खराब हो गई। वे लोग बंबई में अपने एक मित्र के मैरिन-ड्राइव स्थित निवास पर रुक गए। बेनीपुरी जी भी उन दिनों बंबई गए हुए थे

और अपने किसी मित्र के साथ वहीं कहीं पास ही ठहरे हुए थे। प्रायः हर शाम प्रभावती जी का कुशल-क्षेम पूछने पहुंच जाया करते थे। वैसी ही एक शाम जब वे पहुंचे, तो बालकनी पर समुद्र की ओर मुंह किए जे० पी० बैठे थे। दृश्य सुहाना था : गोधूलि की बेला, हल्का लाल क्षितिज, सामने अनंत सागर का विस्तार, उठती-गिरती लहरें और उन लहरों से जूझता दूर एक जहाज। जयप्रकाश जी भावविभोर हो निहार रहे थे। बेनीपुरी जी को निकट पाया तो और तरंगित हो उठे। बोले—"देखिए न, कितना मनोरम दृश्य है!" बेनीपुरी जी तो स्वयं सरस साहित्यिक ठहरे। भला वे क्यों न उत्फुल्ल होते। छूटते ही कहा : "अहा! अद्भुत, अद्भुत! लेकिन मान लीजिए, अभी ऐसे में ही वह जहाज डूब जाए, तो ?"

जे० पी० झल्लाए, "आपको भी कैसी मनहूस बात सूझी!"

बेनीपुरी जी ने कहा, "ऐसा हुआ है, इसी से कहता हूं।"

"ऐसा हुआ है ?" जे० पी० चौंके, "कहां ? ···क्या ?"

—"ऐसी ही किसी सुहावनी घड़ी में, जब सब कुछ बड़ा मनोरम था, हिंदुस्तान की सोशलिस्ट पार्टी का जहाज एकाएक डूब गया। और जानते हैं जयप्रकाश जी! फिर क्या हुआ ? ऊपरवाले डेक के सभी यात्री—जयप्रकाश-नारायण, आचार्य नरेन्द्रदेव, राममनोहर लोहिया, अशोक मेहता, मुझ जैसा नाचीज बेनीपुरी; सब के सब लाइफ़बेल्ट लगाकर तैर निकले। लेकिन नीचे के सभी यात्री अथाह में डूब गए, खानदान का खानदान तबाह हो गया।"

जे० पी० को काटो तो खून नहीं। बिल्कुल सर्द हो गए। बस इतना ही कह सके, "सब दोष क्या मेरा ही था, बेनीपुरी जी ?" जे० पी० को थोड़ा आश्वस्त करने के उद्देश्य से बेनीपुरी जी ने कहा—"दोष किसका था वह मैं नहीं कह सकता, लेकिन जो दुर्घटना हुई उसकी याद जरूर दिला देना चाहता हूं।"

जयप्रकाश जी की रिहाई (अप्रैल '46) के बाद पिताजी नियमित रूप से कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल हो गए। मुजफ्फरपुर का हमारा डेरा एक राजनैतिक अड्डा बन गया, खास कर सोशलिस्टों के लिए। सुबह-शाम की चौकड़ी : स्वराज्य, क्रांति, मार्क्सवाद, समाजवाद की पुरजोर बहस छिड़ जाती। लुक-छिप कर सब सुना करता था। चाय-पान पहुंचाने के बहाने कभी-कभी मंडली में दाखिल हो जाता। धीरे-धीरे ढिठाई जब बढ़ी, तो हल्की-फुलकी बहस भी करने लगा। स्वर्ण-अवसर तब मिल जाता जब पिताजी की अनुपस्थिति में उनके कुछ मित्र आ जुटते और बैठते ही किसी विवाद में गुंथ जाते। वसे मौकों

पर मेरी जबान बेझिझक और तेज चला करती थी। इस तरह, राजनीति और समाजवाद की मेरी 'श्रुति-शिक्षा' उसी विद्यापीठ में प्रारंभ हुई। दिन भी वे बड़े तूफानी थे—आजाद हिंद फौज का मुकदमा, कैबिनेट मिशन, वेवेल प्लान, सांप्रदायिक दंगे।

राजनैतिक दृष्टि से मुजफ्फरपुर बिहार का एक बहुत जागरूक शहर रहा है। अक्सर जुलूस निकलते, सभाएं हुआ करतीं, बाहर से कोई न कोई नेता आ जाते। बड़ी तबीयत लगती थी उन दिनों जुलूस में शरीक होने और चिल्ला-चिल्ला कर नारे लगाने में : 'जय हिंद, दिल्ली चलो···वेवेल को फांसी देनी है, भूलो मत, भूलो मत···आजादी लड़ कर लेनी है, भूलो मत भूलो मत···' कभी मौका पाकर चौराहे की किसी दीवार पर मोटे अक्षरों में लिख आता : **क्या आप 1857 को भूल गए ?** कभी घोड़ागाड़ी में बैठ लाउडस्पीकर से किसी बड़े नेता की सभा का प्रचार करने शहर से दूर निकल जाता, तो कभी 'जनता' अखबार या अन्य समाजवादी साहित्य बेच आया करता था। और अगर कभी छोटी-मोटी स्थानीय सभा में भाषण करने का अवसर मिल जाता, तो निहाल हो उठता था।

मुजफ्फरपुर आने वाले समाजवादी नेताओं में कोई-कोई मेरे पिताजी के मेहमान हुआ करते थे। जब तक वे रहते, हमारा भाव बढ़ जाता था। लेकिन असल लाभ तो होता उनसे बात-चीत करने और उन्हें करीब से देखने-समझने का। उनकी जनछवि को उनके व्यवहार और आचरण से मिला कर देखने की मैं बहुत कोशिश करता था। उनमें कई बड़े प्रेरणादायक व्यक्तित्व थे जिनका प्रभाव मेरे मन-मानस पर किसी न किसी रूप में आज भी है। उन्हीं दिनों के सत्संग से मन में भावी भारत की एक तस्वीर उभरी थी : आजाद देश, शोषण-रहित-समतापूर्ण-समृद्ध समाज, न कहीं कोई अन्याय, न जुल्म, सब भाई-भाई, सब बराबर; कहीं कोई पक्षपात नहीं। उसी सत्संग का यह भी प्रसाद है कि राजनीति और सत्ता को मैं व्यापक जनकल्याण का माध्यम तथा निष्ठा, सच्चरित्रता एवं साहस को जनजीवन का अनिवार्य अंग मानता रहा हूं। लेकिन भाग्य की विडंबना देखिए! जिन्हें गुण-वैभव समझ मैंने ग्रहण किया, वे ही मेरे अवरोधक सिद्ध हुए। विगत पच्चीस वर्षों के अपने कटु अनुभव के आधार पर आज मैं यह कह सकता हूं कि राजनैतिक जीवन में मेरे जैसे लोगों की विफलता के मुख्य कारण उनकी आदर्शवादी मान्यताएं ही हैं। आह! कितना आकर्षक था राजनीति का वह स्वप्निल रूप जिस पर हम मोहित हुए थे। लेकिन वह सब तो उस मोहिनी की माया थी। राजनीति के सत्य-स्वरूप से जब साक्षात्कार हुआ, तो उसमें कहीं कोई कौमार्य नहीं था। हम छल कर रह गए। परंतु उसके बाद भी मोह नहीं भंग हुआ। हो जाता तो बात कुछ बन ही जाती, आज रोना नहीं आता। लेकिन वो जो किसी ने कहा है न :

मकतबे-इश्क की निराली है चलन,
उसको फुर्सत न मिली जिसको सबक याद हुआ।

कितना ठीक कहा है ! अब हम जा ही कहां सकते ?

अनगिनत जाने-अनजाने लोगों की कुर्बानी का तोहफा थी आजादी, जो 15 अगस्त सन् 1947 को हमें मिली। अर्से से आजादी की चाह अनेक कलेजों में आग की तरह सुलगती रही थी—कहीं चिनगारी, कहीं धुआं, कहीं धिधोर। बलिदानियों की कई पीढ़ियां इसके लिए लड़ीं-मरीं और मिट गईं। उनमें कुछ की कुर्बानी का लहू जैसे तपते रेगिस्तान में गिर कर सूख गया। कुछ का सर्द इलाकों में गिरा और वहीं थक्का बन कर जम गया, तो कोई कहीं धब्बा और छींटा। कुछ किस्मतवर ऐसे जरूर हुए जिनका लहू बहा, तो दरिया बन कर उमड़ चला। लेकिन हर बलिदान अपने आप में महान् और महत्त्वपूर्ण था। वे बूंद जो तप्त रेगिस्तान में गिरते ही लुप्त हो गए, वे भी निरर्थक समाप्त नहीं हुए। बालू की गर्म और सूखी तहों के नीचे, अंदर ही अंदर, एक दबी धार की तरह वे भी बह निकले। नसीब भले ही अलग-अलग रहे हों, लेकिन बलिदान का हर एक बूंद, हर एक प्रयास, एक समान ही पवित्र था। सफलता और श्रेय की बात अलग है। यह किसके हिस्से पड़ेगा, यह तो विधाता ही जाने—'यश अपयश विधि हाथ'।

सत्ता-हस्तांतरण से संबद्ध राजकीय दस्तावेज तो सन् 1999 के बाद ही प्रकाशित किए जाएंगे। तब तक बीसवीं शताब्दी पूरी हो चुकेगी और उसके साथ ही उस पीढ़ी के तमाम लोग एक-एक कर बीत चुकेंगे जिन्होंने 'नियति के साथ समझौता' किया था या जो अर्द्ध-रात्रि में स्वतंत्रता के प्रत्यक्षदर्शी थे। लेकिन इक्कीसवीं सदी के आम लोग एक माने में ज्यादा भाग्यशाली होंगे। जनसाधारण की पहली पीढ़ी होगी जिसके जीवन काल में इतिहास का एक अत्यंत गोपनीय दस्तावेज प्रकाश में आएगा। नेपथ्य-लीला के प्रथम प्रामाणिक समाचार-दर्शन उन्हें ही नसीब होंगे। निष्पक्ष इतिहास भी तो तभी लिखा जा सकेगा।

कुछ नितांत अप्रत्याशित घटनाएं हुआ करती हैं। कहते हैं, तूफानों से जूझते नाविक के पास कभी साहिल खुद ही बहता हुआ पहुंच आता है। फारसी के किसी शायर ने कहा है :

चंदा कि दस्तो-पा जदम आशुफ़्तातर शुदम
साकिन शुदम, मयानये-दरिया कनार शुद

—जितने भी हाथ-पैर मारे, उससे और परेशान ही हुआ। लेकिन ज्योंही चेष्टा रोक दी, ऐन दरिया के बीच किनारा मिल गया। बस, ऐसा ही समझिए। वर्ना,

अंगरेज सचमुच भारत छोड़कर चले जाएंगे और देश इतनी जल्द आजाद हो जाएगा, इसकी उम्मीद किसको थी। स्वयं पंडित जवाहर लाल नेहरू जैसे प्रमुख राष्ट्रनायक ने आजादी के सिर्फ डेढ़-दो साल पहले अपने एक लेख में यह शंका प्रकट की थी कि उनकी पीढ़ी आजादी के लिए शायद लड़ते-लड़ते ही समाप्त हो जाएगी। लेकिन, समाप्त तो अंगरेजी राज को होना था। 14 अगस्त की आधी रात को ही सूरज निकल आया—भारत की स्वतंत्रता का सूरज।

उस रात स्वतंत्रता की उद्घोषणा के पश्चात् एसेम्बली हॉल से पंडित जी जब बाहर निकल रहे थे, तो सहसा उन्हें याद आया कि ठीक दस साल पहले, अगस्त सन् 1937 को, एक दिन लंदन में बड़े लाट लॉर्ड लिनलिथगो से भारत के राजनैतिक भविष्य के संबंध में बात-चीत करते हुए वे झगड़ पड़े थे और आवेश में उन्होंने लिनलिथगो से कहा था कि अगर दस साल के अंदर भारत आजाद नहीं हो जाता तो लोग उन्हें (पंडितजी को) धिक्कारेंगे। जवाब में लिनलिथगो ने मेज़ पर मुट्ठी पटकते हुए दावा किया था कि चाहे जो भी हो, भारत उन दोनों की जिंदगी में हर्गिज़ आजाद होने वाला नहीं। लेकिन भारत आजाद हुआ और दस वर्ष के अंदर ही आजाद हुआ। पंडित जी आजाद भारत के प्रथम प्रधानमंत्री भी वने। नियति ने लिनलिथगो के दावे को गलत सिद्ध कर दिया।

उधर, 'विभाजन और स्वतंत्रता' रूपक के खलनायक, जनाब मुहम्मद अली जिन्ना साहब भी जब पाकिस्तान के प्रथम गवर्नर-जनरल का पदभार ग्रहण करने कराची पहुंचे, तो गवर्नमेंट-हाउस की सीढ़ियों पर कदम रखते उन्हें ऐसा लगा जैसे सपनों के संसार में प्रवेश कर रहे हों। विस्फारित नेत्रों से राजभवन के प्रांगण को घूरते हुए अपने ए०डी०सी० सैयद अहसन को बहुत आहिस्ते से उन्होंने एक भेद की बात सुनाई : "जानते हो! अपनी जिंदगी में पाकिस्तान की सूरत देखने की हमें कतई उम्मीद न थी।" एक करिश्मा ही समझिए कि आकाश-कुसुम पाकिस्तान उस रोज अचानक जिन्ना साहब की गोद में आ टपका।

हिन्दुस्तान की आजादी की कहानी बड़ी रोचक और लम्बी है। कहां से चले थे लोग, कहां जाना था और कहां पहुंच गए! कैसे-कैसे उतार-चढ़ाव देखे, कैसी-कैसी मंजिलों से गुजरे; किन-किन आंतरिक और बाह्य, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने कभी हल्के और कभी जोरों से, गतिक्रम को प्रभावित किया—यह सब अनेक खंडों वाला एक वृहत् इतिहास-ग्रंथ है। लेकिन सारे इतिहास को कितनी निपुणता से निचोड़ कर प्रस्तुत किया था देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने। यों समझिए जैसे संपूर्ण भारतीय स्वतंत्रता इतिहास की परिक्रमा वामन अवतार की भांति मात्र तीन पग में ही पूरी कर डाली हो। 14 अगस्त की आधी रात को नई दिल्ली में संविधान परिषद के सभासदों एवं विशिष्ट अतिथियों के समक्ष जब ब्रिटिश सम्राट की ओर से उनके प्रतिनिधि वाइसराय लार्ड लूई माउंटबेटन

ने भारत की पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा की तो, परिषद के अध्यक्ष के नाते उस ऐतिहासिक उद्घोषणा का स्वागत करते हुए डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था : "हम कृतज्ञतापूर्वक यह स्वीकार करें कि यद्यपि हमारी इस उपलब्धि (स्वाधीनता-प्राप्ति) का श्रेय हमारे अपने कष्टभोग और बलिदानों को कुछ कम नहीं, तथापि, विश्व-स्थिति और घटनाओं का भी यह प्रतिफल है। और, यह भी तो कुछ कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं कि, ब्रिटिश जाति की ऐतिहासिक परंपरा एवं लोकतांत्रिक आदर्शों का उत्कर्ष एवं निर्वाह भी इसके साथ हुआ है..."

सत्य के साथ पूरी ईमानदारी बरती थी राजेन्द्र बाबू ने। निस्संदेह, भारतीय स्वाधीनता के वे ही तीन प्रबल कारण थे : स्वतंत्रता सेनानियों के बलिदान, अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति, तथा अंग्रेजों का लोकतंत्रवादी चरित्र।

सृजन-संहार, संहार-सृजन : सृष्टि का शाश्वत चक्र। सुन्दर कानन जल कर राख हो जाते हैं। कालांतर में उसी राख की ढेर के बीच नए-नए पौधे उग आते हैं। फिर एक नव कानन, नई कूक, नया कलरव। द्वितीय विश्व युद्ध इस भांति एक संहार भी था और सृजन भी। छह वर्ष, इक्कीस घंटे और तेईस मिनट तक चलने वाले उस प्रलयंकारी महायुद्ध के आहुति-कुंड में लगभग तीन करोड़ मनुसंतति और खरबों डालर स्वाहा हो गए—प्रतिदिन कोई साढ़े चौदह हजार लोग और डेढ़ अरब की संपत्ति। मानव जाति के इतिहास में एक अभूतपूर्व अविस्मरणीय संहार था वह। लेकिन उसके साथ ही मानवीय सभ्यता की एक दुर्व्यवस्था, उपनिवेशवाद, भी जल गई। और तब, उसके भस्मावशेष के बीच ही एशिया-अफ्रीका के विस्तृत भूभाग में उग आए स्वाधीनता के नए-नए कोमल पौधे। द्वितीय विश्वयुद्ध इस माने में दुनिया के समस्त पराधीन देशों के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ।

यूरोप में सितम्बर का महीना लोगों को बड़ा भाता है। गर्मी से ऊबे लाग वड़ी बेसब्री से सितम्बर का इंतजार करते हैं। वर्षा की फुहार और रिमझिम से मौसम की तपिश कम हो जाती है और लोग समुद्र, नदियों अथवा झीलों के किनारे ऋतु के संगीत का आनंद लेते हैं। लेकिन उस साल का सितम्बर प्रलय बन कर आया। यूरोप की धरती पर वर्षा की बूंदों की जगह आग बरसने लगी। सन् 1939 की पहली सितम्बर। शुक्रवार का दिन था। सुबह के ठीक पौने पांच बजे थे। सूरज की किरणें अभी छिटक भी न पाई थीं कि पोलैंड की राजधानी वारसा में अचानक आकाश से बम बरसने लगे। कुछ ही मिनटों में औरत-मर्द, बच्चे-बूढ़े—अनगिनत लाशें बिखर गईं। अनेक मकान, सड़क, पुल, रेल लाइन ध्वस्त

हों गए। आक्रमणकारी हिटलर की सेनाओं ने एकाएक झपट्टा मार कर सारे नगर को दबोच लिया। मात्र अड़तालीस घंटों के अंदर पोलैंड की वायु सेना धराशायी हो गई।

इतिहास साक्षी है, उस बर्बरतापूर्ण आक्रमण पर क्रेमलिन से सोवियत रूस के विदेशमंत्री मोलोतोव ने 9 सितम्बर को हिटलर को बधाई भेजी थी। 17 सितंबर को पोलैंड के बचे-खुचे भाग पर रूस खुद चढ़ बैठा था और 28 सितम्बर को क्रेमलिन में स्टालिन-मोलोतोव के साथ हिटलर के विदेश-मंत्री रिबेनत्राप की शानदार दावत हुई थी। दूसरे दिन सुबह, 'जर्मन-सोवियत सीमा एवं मैत्री-संधि' पर हस्ताक्षर कर मोलोतोव और रिबेनत्राप ने पोलैंड का आपस में बंटवारा कर लिया था। कहते हैं, कलियुग में पाप शीघ्र फलित होता है—इस हाथ से करो, उस हाथ से पाओ। नौ महीने भी बीत न पाए कि रविवार की ढलती रात, साढ़े तीन बजे, 22 जून 1941—ठीक उसी दिन, जिस दिन 119 साल पहले नेपोलियन की सेना निमेन नदी पार कर मास्को की ओर बढ़ी थी—हिटलरी सेनाओं ने भी उसी निमेन नदी को पार कर आक्रमण कर दिया। रूस को अपने कुकृत्यों का फल पाते देर न लगी। द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर के हाथों सबसे ज्यादा नुकसान रूस को ही उठाना पड़ा था।

हिटलर बावला हो उठा था। पोलैंड पर आक्रमण के तीसरे ही दिन, रविवार 3 सितम्बर को सुबह नौ बजे, लिवरपूल से मांट्रियल जाते हुए एक ब्रिटिश यात्री-वाहक जहाज 'एथेनिया' को जर्मन पनडुब्बी ने बिना चेतावनी दिये समुद्र में डुबो दिया। जहाज पर सवार 1400 यात्रियों में से 112 मारे गए जिनमें 28 अमरीकी नागरिक भी थे। घटना के तीन घंटे बाद इंगलैंड ने जर्मनी के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ हो गया। हिटलर युद्धोन्मत्त था और उसके उन्माद का कारण था उसका राज्य-दर्शन नात्सीवाद—डार्विन, कान्ट, हेगेल, फिख्ते, नीत्से आदि के सिद्धांतों का अति विकृत रूप। नात्सियों की बाइबिल 'मेन-काम्फ़' में हिटलर ने लिखा है :

"किसी भी राष्ट्र के स्वतंत्र अस्तित्व की एक ही गारंटी है—धरती के प्रचुर क्षेत्र पर उस राष्ट्र का स्वामित्व...शाश्वत संघर्ष द्वारा ही मानव जाति ने श्रेष्ठता प्राप्त की है और अखंड शांति के बीच मानव जाति नष्ट हो जाएगी...जो जीवित रहना चाहते हैं, उन्हें लड़ना पड़ेगा, और शाश्वत संघर्षमय इस संसार में जो लड़ना नहीं चाहते, उन्हें जीने का कोई अधिकार नहीं...प्रकृति स्वामित्व उन्हें ही प्रदान करती है, जो सर्वाधिक बली, साहसी एवं उद्यमी होते हैं...जर्मन जाति संसार की श्रेष्ठतम जाति है।"

लेकिन, जर्मन जाति और जर्मन राष्ट्र से भी ऊंचा था स्वयं हिटलर का अहंकार, उसका दम्भ। 22 अगस्त सन् '39 को जर्मन सैनिक अधिकारियों के

समक्ष हिटलर की गर्वोक्ति सुनते ही बनती थी :

"सब कुछ मुख्यतः मुझ पर ही निर्भर करता है, मेरी राजनैतिक प्रतिभा के कारण मेरे अस्तित्व पर निर्भर करता है। समस्त जर्मन जनता का मुझ जितना विश्वसनीय नायक संभवतः फिर कोई नहीं होगा। भविष्य में मुझ से अधिक प्रभुता संपन्न व्यक्ति शायद फिर होगा ही नहीं'''अतः मेरा अस्तित्व जर्मन राष्ट्र के लिए एक बड़े ही महत्त्व की बात है।" उस दर्पपूर्ण घोषणा द्वारा हिटलर अपने सहयोगियों को जैसे यह बताना चाहता हो कि उस श्रेष्ठ कुल (जर्मनजाति) का वह पहला और आखिरी चिराग है। उसके पहले उस जैसा न कोई हुआ था और न आगे होगा—"न भूतो न भविष्यति।"

अपनी दंभपूर्ण भ्रांति से मदांध होकर ही उसने 'थर्ड रीख' (जर्मन साम्राज्य) की स्थापना, उसके विस्तार और सुदृढ़ीकरण की योजना बनाई थी।

लेकिन जब तक विश्व की महाशक्तियां मार्ग में बाधा बन कर खड़ी थीं, हिटलर अपने सपनों का संसार नहीं बसा सकता था। महाशक्तियों से निबटने के लिए उसने रणनीति निर्धारित की—बारी-बारी से उन्हें पराजित करना। पहले इंगलैंड, तब रूस और अंत में अमेरिका। हिटलर की मान्यता थी कि रूस और अमेरिका, युद्ध में इंगलैंड के शक्ति-स्रोत हैं। ब्रिटेन की पराजय के लिए उन स्रोतों को सुखा देना होगा। हिटलर का खयाल था कि रूस में कोई दम नहीं। बस, दरवाजे पर एक जोर का धक्का लगाने की देर है कि उसका सड़ा ढांचा स्वयं ही अर्रा कर गिर जाएगा। कुछेक मोर्चों पर स्टालिन को शिकस्त मिलते ही रूस की जनता स्वयं ही स्टालिन को उठा फेंकेगी। स्टालिन के बाद रूस को पराजित करना आसान होगा। उसकी पराजय से यूक्रेन का अति समृद्ध कृषि एवं खनिज-सम्पन्न क्षेत्र जर्मनी के अधिकार में आ जाएगा जिससे जर्मनी की सामरिक शक्ति को अत्यधिक बल मिलेगा। बस, करना यह है कि जर्मनी जब ब्रिटेन से भिड़ा हो, तो किसी विधि रूस और अमेरिका को दूर रखा जाए। और फिर, जब वह रूस से भिड़े, तो अमेरिका अलग रहे। हिटलर की विवेचना के अनुसार अमेरिका के समक्ष मात्र तीन ही विकल्प थे—या तो अमेरिका अपने शस्त्रीकरण में संलग्न रहे, या इंगलैंड की सहायता में जा कूदे या फिर खुद ही एक नया, तीसरा मोर्चा खोल दे। विशेष गुप्त सूचनाओं के आधार पर हिटलर जानता था कि सन् '43 के पहले अस्त्र-शस्त्र से पूरी तरह लैस हो पाना अमेरिका के लिए संभव नहीं है। उस बीच अमेरिका यदि इंगलैंड की मदद में बढ़ता है, तो उसकी निजी-शस्त्रीकरण-योजना पूरी नहीं हो पाएगी, और यदि वह इंगलैंड को उसकी किस्मत पर छोड़ देता है, तो असहाय इंगलैंड शीघ्र ही टूट जाएगा। इंगलैंड के पिट जाने के बाद, अकेला चना अमेरिका भला क्या भाड़ फोड़ लेगा। रूस और ब्रिटेन की पराजय के बाद जर्मनी की अपनी शक्ति कितनी बढ़ चुकी होगी। फिर जर्मन शक्ति के

साथ दो और शक्तियों—इटली और जापान—का भी तो संगम होगा। उस विशाल संयुक्त सैन्य-शक्ति के समक्ष एकाकी अमेरिका को शीघ्र ही घुटने टेक देने पड़ेंगे। हिटलर ने यही सब समझ रखा था।

हिटलर में सामरिक सूझ-बूझ की कमी न थी। वह जानता था कि लंबी लड़ाई खतरे से खाली नहीं होती। कई मैत्रीपूर्ण अथवा तटस्थ राष्ट्र, जैसे इटली रूस, अमेरिका विरोधी खेमे में चले जा सकते थे। जैसा कि प्रथम महायुद्ध में ही हुआ था। जर्मनी के सीमित अन्न-भंडार तथा कच्चे माल की न्यूनता के कारण लंबी लड़ाई में जर्मनी को अत्यधिक कठिनाई होगी। हिटलर की सबसे चिंता-जनक आशंका यह थी कि यदि रुह्र के क्षेत्र को, जो जर्मनी की औद्योगिक रीढ़ है, शत्रु ने आक्रमण कर संकटग्रस्त कर दिया तो जर्मनी की सारी अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायेगी और उसके साथ ही उसकी सारी प्रतिरोध-शक्ति का ही क्षय हो जाएगा। इसलिए वह सब कुछ चट-पट ही कर लेना चाहता था।

ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार एशिया-अफ़्रीका के विस्तृत भूभाग में था। एशिया-अफ़्रीका-यूरोप, इन तीन विशाल भू-खंडों के बीच फैली अपार जलराशि में सामरिक दृष्टि से तीन क्षेत्र बड़े ही महत्त्व के हैं—अतलांतिक महासागर, भूमध्य सागर और प्रशांत महासागर। ब्रिटेन के अफ़्रीकी उपनिवेशों को भूमध्य सागर की ओर से तथा एशियाई उपनिवेशों को प्रशांत महासागर की ओर से घेरा जा सकता था। प्रशांत महासागर में सैनिक अड्डे भी थे। उन दिनों हिटलर की दृष्टि में प्रशांत महासागर की चाबी जापान के हाथ में और भूमध्य सागर की इटली के हाथ में थी। सो हिटलर ने इटली के अधिनायक मुसोलिनी तथा जापान के सम्राट तोजो के साथ साठ-गांठ कर ली।

हिटलर का आक्रमण एक प्रचंड आंधी की तरह तेजी से बढ़ता चला गया। जब तक लोग समझें-संभलें, कई देश पराजित हो चुके थे। नौ महीने के अंदर ही नार्वे, डेनमार्क, हालैंड, बेल्जियम और फ़्रांस ने हिटलर के समक्ष हथियार डाल दिये। अब जर्मन तोपों का मुंह इंगलैंड की ओर घूम गया। ग्रेट ब्रिटेन पर नाजी आक्रमण के बादल तेजी से मंडराने लगे। सन् '40 की 7 सितम्बर को लंदन पर धुआंधार बमबारी हुई। शायद एक गोला बकिंघम पैलेस पर भी जा गिरा था। अगले महीने में लगभग सारा यूरोप हिटलर के कदमों में लेट गया। उसका सितारा उन दिनों पूरी बुलंदी पर था और उसके मनसूबे सातवें आसमान को छू रहे थे। उसके तेवर का कहना ही क्या : 'इंगलैंड अब दम तोड़ रहा है। खबरदार जो कोई उसकी मदद को आया—रूस या अमेरिका। रूस को कुछ ही हफ्तों में दुनिया के नक्शे से मिटा दूंगा; अमेरिका यदि युद्ध में कूदा तो उसके दांत खट्टे कर दूंगा। अब हमारा थर्ड-रीख एक हजार वर्ष फले-फूलेगा।' नाजी जर्मनी के प्रसिद्ध इतिहासकार, विलियम एल० शिरर ने अपनी पुस्तक, 'दि राइज एण्ड फ़ाल आफ़ दि

थर्ड रीख' में लिखा है कि अपने सामरिक अभियान की प्रारंभिक विजयों से हिटलर उन दिनों इतना अधिक आश्वस्त हो चुका था कि सितम्बर 1941 के अंतिम दिनों में उसने पैदल सेना के चालीस डिविज़नों को विघटित कर देने का आदेश दे दिया था।

तांडव-लीला में मग्न हिटलर को रोकना उन दिनों एक विकट समस्या थी। 'धुरी- राष्ट्रों' का अकेले मुकाबिला कर पाना ब्रिटेन या किसी भी अन्य राष्ट्र के बूते की बात नहीं थी। वह एक विश्वव्यापी मानवीय विपत्ति थी जिसका सामना सामूहिक रूप से ही किया जा सकता था। प्रश्न केवल धुरी-राष्ट्रों की विशाल सैन्यशक्ति को ही ध्वस्त करने का नहीं, वरन् हिटलर-मुसोलिनी के अति अमानुषिक राजनैतिक दर्शन, नात्सिज्म व फासिज्म को पराजित कर युद्धोत्तर विश्व को स्वतंत्रता और लोकतंत्र के लिए सुरक्षित बनाने तथा स्थायी विश्व-शांति की सुदृढ़ नींव डालने का भी था।

ग्रेट ब्रिटेन स्वयं भी चारों ओर से समुद्र से घिरा हुआ है और उसके साम्राज्य का विस्तार भी सात समुद्र पार तक था। आत्म-रक्षा और साम्राज्य की सुरक्षा, दोनों ही के लिए यह नितांत आवश्यक था कि सागरों की लहरों पर ब्रिटेन का आधिपत्य रहे। लेकिन उन दिनों सागर अशांत हो उठे थे। उनमें भयंकर तूफान उठा था और उनकी लहरें अनियंत्रित हो गई थीं। शायद सागर भी बेचैन थे यह जानने के लिए कि आखिर युद्ध का उद्देश्य क्या है: प्रादेशिक विस्तार एवं साम्राज्य का सुदृढ़ीकरण अथवा स्वतंत्रता और समानता पर आधारित नई व्यवस्था, नई सभ्यता का निर्माण? उन्हीं प्रश्नों से जूझता ब्रिटेन के प्रधान मंत्री विन्सटन चर्चिल का युद्धपोत अतलांतिक महासागर के बीच प्रचंड लहरों के साथ भयंकर ढंग से हिचकोले खा रहा था। बाध्य होकर उस दिन 14 अगस्त 1941 को, महासागर के बीच, युद्धपोत पर ही, चर्चिल को अमरीकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट के साथ एक अधिपत्र द्वारा युद्ध-उद्देश्यों की घोषणा करनी पड़ी जो 'अतलांतिक-चार्टर' के नाम से विश्वविख्यात हुई। उस ऐतिहासिक चार्टर द्वारा उद्घोषित आठ सिद्धांतों में मुख्य थे:

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन अपना प्रादेशिक अथवा किसी प्रकार का विस्तार नहीं चाहते। वे ऐसे कोई प्रादेशिक परिवर्तन भी नहीं चाहते जो उस देश की जनता की स्वतंत्र इच्छा के प्रतिकूल हों। वे मानते हैं कि दुनिया के सभी देशों को अपनी शासन-पद्धति स्वयं चुनने का अधिकार है और वे लोगों के उस अधिकार का सम्मान करते हैं। वे यह भी चाहते हैं कि जिन लोगों से स्व-शासन के अधिकार बलपूर्वक छीन लिए गए हैं, उन्हें वे वापस कर दिए जाएं··· नात्सी अत्याचार को अंतिम रूप से नष्ट करने के बाद वे ऐसी शांति-स्थापना की आशा करते हैं, जो सभी राष्ट्रों को अपनी-अपनी सीमाओं के भीतर सुरक्षित

रहने का साधन दे सके तथा जो यह आश्वासन भी दे सके कि सभी मनुष्य, सभी देशों में, भय तथा युद्ध से मुक्त होकर अपना जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

आगे चलकर वे ही सिद्धांत साठ करोड़ पराधीन उपनिवेशी जनता की चिर आकांक्षित स्वाधीनता की आधार शिला बने। लेकिन उन दिनों अतलांतिक उद्-घोषणा ने हिटलर की क्रोधाग्नि को लहकाने में घी का काम किया था। रूज़वेल्ट और चर्चिल नात्सी योजनाओं को अत्याचार की संज्ञा दें और उन्हें अंतिम रूप से नष्ट करने की बात करें; उनकी वैसी धृष्टता पर हिटलर बौखलाया था। उसने जापान की पीठ ठोंकी।

सन् '41 की 7 दिसम्बर, रविवार को, सुबह साढ़े सात बजे, प्रशांत महा-सागर के हवाई द्वीप स्थित पर्ल हार्बर में प्रसिद्ध अमरीकी जहाजी बेड़े पर जापानी बमवर्षकों ने अचानक हवाई हमला कर आठ युद्ध-पोत, तीन क्रूज़र, तीन डेस्ट्रायर और एक सौ सतहत्तर युद्धयान नष्ट कर दिए। बाध्य होकर अमेरिका को विधिवत् युद्ध में कूदना पड़ा। अगले दिन अमेरिका ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। पर्ल हार्बर के बाद जापानियों का हौसला बढ़ा। अगले अड़तालीस घंटे के अंदर उन्होंने दूसरा बाघ मारा। मलाया के तट से दूर, जापानी लड़ाकू विमानों ने ब्रिटेन के दो महाबली युद्धपोत, 'प्रिंस ऑफ वेल्स' तथा 'रिपल्स,' को जलसमाधि दिला दी। उन दो महत्त्वपूर्ण सफलताओं से प्रशांत महासागर, हिंद महासागर और चीन सागर पर जापानियों की सामरिक प्रभुता स्थापित होते देर न लगी। उत्साहित होकर बर्लिन में जर्मनी-जापान-इटली ने, अगले दिन, एक त्रिपक्षीय-संधि कर यह एलान किया कि अमेरिका और इंगलैंड को युद्ध में पूरी तरह परास्त कर ही वे दम लेंगे। उसी दिन, कुछ ही घंटे पहले, जर्मनी, अमेरिका के विरुद्ध भी युद्ध की घोषणा कर चुका था। महायुद्ध ने विश्व-युद्ध का रूप धारण कर लिया। शीघ्र ही हांगकांग, फिलिपाइन्स, मलाया, इंडो-चाइना, थाईलैंड सभी देश जापानियों के कब्जे में आ गए। उधर यूरोप में जर्मनी की, तो इधर एशिया में जपान की तूती बोलने लगी। सन् '42 का मार्च आते-आते बर्मा, सिंगापुर, रंगून सभी जगहों से ब्रिटेन के पांव उखड़ गए। समस्त ब्रिटिश साम्राज्य—कहते थे जिसमें सूरज कभी अस्त नहीं होता था—एक घुप अंधेरे में डूबता जा रहा था। युद्ध भारत के द्वार पर आ खड़ा हुआ। बंगाल प्रशासन तो इतना आतंकित हो उठा था कि गवर्नर सर जॉन हरबर्ट ने प्रांत के सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों को खाली कर देने तथा कई पुल और कारखाने ध्वस्त कर देने की योजना बना ली थी। एक गुप्त परिपत्र जारी कर कुछ विशेष उच्च अधि-

कारियों को यह आदेश भेजा गया था कि सामान्य प्रशासन का दायित्व वे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को सौंप, खुद हट जाने को तैयार रहें और उन कर्मचारियों को यह हिदायत कर दें कि यदि उन क्षेत्रों पर दुश्मनों का कब्जा हो जाए, तो वे उन्हीं के आदेशानुसार प्रशासकीय कार्य संपादित करें। कलकत्ते में भगदड़ मच गई। महानगरी को छोड़ कर भागने के लिए नागरिकों में होड़ लगी थी। कई मुहल्ले वीरान हो गए।

भारत के तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड लिनलिथगो उस रोज सारी सुध-बुध खो बैठे। सामान्य शिष्टाचार तक का ध्यान उन्हें नहीं रहा। सामने ही मेज में बटन लगी थी। दबाते, तो कमरे के बाहर की घंटी बज उठती और पलक मारते उनके ए० डी० सी० कमरे के अंदर हाजिर हो जाते—गांधी जी को बाहर तक पहुंचा आने के लिए। हर बार तो ऐसा ही होता था। लेकिन आज वाइसराय को क्या हो गया? दिल्ली के आलीशान वाइसराय-हाउस में उस 'अर्द्ध-नग्न फकीर' गांधी का ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधि के साथ बराबरी में बात-चीत करना चर्चिल को चाहे जितना भी घृणास्पद एवं अपमानजनक लगता हो, किंतु अपनी भेंट में वाइसराय गांधी जी के साथ शिष्टाचार निभाना नहीं भूलते थे। वाइसराय-हाउस में गांधी जी के आगमन पर, वाइसराय की ओर से उनके ए० डी० सी० गांधी जी की अगवानी करते तथा वार्तालाप समाप्ति के पश्चात् उन्हें उनकी कार तक छोड़ आते। लेकिन, उस दिन गांधी जी को गवर्नर जनरल के कक्ष से अपनी कार तक अकेले ही जाना पड़ा। उनका प्रस्ताव सुन कर लार्ड लिनलिथगो स्तब्ध थे। यह घटना सितम्बर 1940 की है जब उधर यूरोप में घमासान युद्ध चल रहा था।

हिटलर का अकेले मुकाबिला कर पाना ब्रिटेन के सामर्थ्य की बात नहीं थी। उसे दूसरे देशों की सहायता की नितांत आवश्यकता थी। 10 मई को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री का पदभार ग्रहण करने के बाद सर विंसटन चर्चिल ने शत्रु का सामना करने के लिए अपने देशवासियों से 'खून, पसीना, परिश्रम और आंसू' की मांग की थी। लेकिन साम्राज्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग, भारत, की ओर से गांधी जी ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधि वाइसराय लार्ड लिनलिथगो को अहिंसा का अमोघअस्त्र भेंट करने गए थे। उस रोज उन्होंने वाइसराय के समक्ष प्रस्ताव रखा था कि, विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रों के बदले, 'आध्यात्मिक-शक्ति' से हिटलर का मुकाबिला किया जाए। कुछ ही दिनों पहले गांधी जी ब्रिटिश जनता को भी सलाह दे चुके थे कि वे हिटलर-मुसोलिनी को आमंत्रित कर, उनसे ब्रिटिश

आधिपत्य के अपने मनपसंद देश चुन लेने को कहें। और यदि नाजियों की निगाह सुन्दर ब्रिटिश द्वीप समूह पर लगी हो, तो ब्रिटेनवासी समस्त भव्य अट्टालिकाओं सहित, अपना संपूर्ण द्वीप पुंज उन्हें सौंप दें। वे अपना सर्वस्व परित्याग कर दें, केवल अपनी आत्मा अक्षुण्ण रखें। सुन कर लिनलिथगो को जैसे सांप सूंघ गया।

3 सितम्बर 1939 को लिनलिथगो ने भारतीय नेताओं की सहमति के बिना ही भारत को भी युद्धरत घोषित कर दिया था। गांधी जी किसी भी मूल्य पर युद्ध में सम्मिलित हो, विश्वव्यापी जनसंहार को प्रोत्साहित करना नहीं चाहते थे। अहिंसा उनके लिए धर्मसूत्र था। उसे वे जीवन-मरण का प्रश्न मानते थे। युद्ध की विभीषिका रोक पाने की अपनी असमर्थता पर वे उन दिनों इतने खिन्न थे कि उस व्यापक मानवीय विपत्ति का एक मूकद्रष्टा बने रहने की अपेक्षा आत्मघात कर अपनी जीवनलीला समाप्त कर लेना उन्हें सहज स्वीकार था। गांधी आत्महत्या की बात सोचें, सुन कर कैसा लगता है ! गांधी का सर्वथा अगांधीवादी विचार ! सहज ही विश्वास नहीं होता। लेकिन उन्होंने तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद को अपनी मनोव्यथा सुनाते हुए वह विचार प्रकट किया था, ऐसा खुद मौलाना साहब ने अपनी किताब 'इंडिया विंस फ्रिडम' में लिखा है। ऐसी संताप की घड़ियां थीं वो गांधी जी के लिए।

लेकिन युद्ध के प्रश्न पर प्रारंभ से ही गांधी जी और अन्य कांग्रेसी नेताओं में घोर मतभेद रहा। बहुसंख्यक कांग्रेसजनों के लिए अहिंसा कोई धर्मसूत्र नहीं, मात्र एक कुशल रणनीति थी जिसका उपयोग वे स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए करना चाहते थे। युद्ध की स्थिति में हिंसा की अपरिहार्यता को अस्वीकारा नहीं जा सकता था। युद्ध को समाप्त करने के लिए युद्ध करना ही होगा। और युद्ध होगा, तो अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग अनिवार्य होगा, हिंसा अपरिहार्य होगी। मूल प्रश्न हिंसा (युद्ध) का नहीं, युद्ध के उद्देश्यों का था। यदि युद्ध का उद्देश्य साम्राज्यवाद का विस्तार और उपनिवेशवादी व्यवस्था को सुदृढ़ करना है, तो युद्ध का बहिष्कार किया जाए। किंतु यदि युद्ध करने से राष्ट्रीय स्वतंत्रता और विश्व लोकतंत्र का भविष्य उज्ज्वल होता हो, तो युद्ध में ब्रिटेन और लोकतांत्रिक शक्तियों का साथ देना वांछनीय होगा। लेकिन जो देश स्वयं पराधीन है वह संसार की स्वतंत्रता तथा लोकतंत्र की सुरक्षा के लिए कैसे लड़े ? क्या ब्रिटेन भारत को अविलंब स्वतंत्र करने को तैयार है अथवा युद्ध के तुरंत बाद उसकी स्वतंत्रता का वचन देता है ? यदि हां, तो भारतीय जनता और सेना अपनी पूरी शक्ति और सामर्थ्य के साथ युद्ध में ब्रिटेन और उसके मित्रों का पक्ष लेगी, नहीं तो असहयोग किया जाएगा—यह रुख खासकर युद्धकालीन कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद और राजगोपालाचारी का था। सरदार पटेल, राजेन्द्र बाबू, आचार्य कृपलानी आदि पूर्णत: गांधी जी के ही विचारों के साथ थे।

विश्वविख्यात भारतीय विप्लवी-विचारक एम० एन० राय चाहते थे कि भारत की आजादी के लिए लड़ने वाले सभी लोग अभी पहले फ़ासिज़्म के खिलाफ लड़ें। उनका कहना था कि एक स्वतंत्र विश्व में ही भारत भी स्वतंत्र रह सकेगा। इस युद्ध में अंग्रेज अगर हार भी जाते हैं तो उससे भारत की पराधीनता में कोई अंतर नहीं पड़ेगा। केवल अंग्रेजों की जगह जर्मन या जापानी फ़ासिस्ट लोग भारत के स्वामी वन जाएंगे। अपनी एक किताब 'इंडिया ऐण्ड वार' में उन दिनों उन्होंने लिखा :

"हम फ़ासिज़्म की पराजय चाहते हैं क्योंकि हम क्रांतिकारी हैं, और यह भी जानते हैं कि उनकी पराजय से स्वयं साम्राज्यवाद भी निर्बल हो जाएगा। अगर फ़ासिज़्म विजयी हुआ, तो समस्त संसार के स्वतंत्रता-समर्थक कुचल दिये जाएंगे और तब उस स्थिति में हमारी अपनी आजादी की लड़ाई घोर विपत्तियों से घिर जाएगी…ब्रिटिश लोकतंत्र और ब्रिटिश साम्राज्यवाद में भिन्नता है, अतएव, विश्वव्यापी लोकतंत्र की रक्षा के लिए, भारतीय स्वतंत्रता सेनानियों को भी ब्रिटिश लोकतंत्र के साथ सहयोग करना चाहिए।"

रायसाहब का ख्याल था कि फ़ासिज़्म के विरुद्ध एक सशक्त संग्राम के क्रम में ही ऐसी प्रबल सामाजिक शक्तियां उभर आएंगी तथा साम्राज्यवाद स्वयं ही इतना अधिक निर्बल हो जाएगा कि भारत तथा अन्य उपनिवेशों को दासता के बंधनों में जकड़े रखना साम्राज्यवादी अंग्रेजों के लिए असंभव हो जाएगा। राय का चिंतन पंडित नेहरू की विश्व-चेतना के अनुकूल पड़ता था। पंडित जी भी धीरे-धीरे यह मानने लग गए कि यह युद्ध दो शिविरों की सेनाओं की भिड़ंत नहीं, बल्कि यह सभ्यता का संकट है तथा इसके प्रभाव समस्त मानव जाति पर पड़ने वाले हैं।

सुभाषचन्द्र बोस और उनके समर्थकों को अंग्रेजों की नीयत पर तनिक भी भरोसा नहीं था। वे मानते थे : ब्रिटेन लाख कहे, लेकिन लड़ाई के वक्त या लड़ाई के बाद, स्वेच्छा से तो कभी भी भारत को उसकी आजादी लौटाने से रहा। आजादी कोई देता नहीं, आजादी ली जाती है। अंग्रेज अभी संकट में फंसे हैं। उनके संकट का लाभ उठाना चाहिए। दुश्मन का दुश्मन दोस्त हो जाता है। अंग्रेजों के दुश्मन, नाजी और फासिस्टों का साथ पकड़ना एक कुशल रणनीति होगी। युद्ध में अंग्रेज हारेंगे तो भारत आजाद होगा। इसी भावना से प्रेरित होकर सुभाष बाबू ने युद्ध छिड़ते ही अंग्रेजों की युद्ध-योजना का प्रबल विरोध प्रारंभ किया। वे गिरफ्तार हुए। फिर छूटे। फिर कलकत्ते के अपने एलगीन रोड निवास में ही नजरबंद रखे गए जहां से अंततोगत्वा 26 जनवरी, 1941 को वे वेश बदलकर भाग निकले—देश की सीमा से दूर, बहुत दूर, पता नहीं कहां। कोई साल भर बाद, मार्च महीने में एक दिन देश और दुनिया के लोगों ने जर्मनी के बर्लिन

रेडियो से सुभाषचन्द्र बोस का भाषण सुना, और तब जान पाये कि हिटलरी क सांठ-गांठ से वे एक ब्रिटिश विरोधी मोर्चा संगठित करने में संलग्न हैं। सुभाष बाबू जर्मनी से जापान गये, जापान से सिंगापुर आए और वहीं उन्होंने आजाद भारत सरकार गठित की। भारतीय सेना के जिन सैनिकों को जापानियों ने मार्च '42 में सिंगापुर और रंगून के मोर्चों पर युद्धबंदी बनाया था, उन्हें सुभाष बोस के हवाले कर दिया। उस क्षेत्र में उपस्थित, भारतीय सेना के बहुतेरे प्लावी सैनिकों ने भी उनका साथ दिया। नेताजी सुभाष बोस ने खून मांगा और बदले में उन्हें मादरे-वतन की आजादी देने का वादा किया। इस तरह, आजाद हिन्द फौज संगठित हुई।

लेकिन विधाता की कुछ और ही योजना थी। 17 अगस्त 1945 को नेताजी सुभाष अपने साथी कर्नल हबीबुर्रहमान के साथ, कुछ जापानी सैनिकों सहित, सैगोन के हवाई अड्डे से विमान द्वारा रवाना हुए। उन्होंने रात ताउरेन में गुजारी और अगस्त 18 की सुबह उनका विमान फिर उड़ान भर कर दोपहर दो बजे ताई-पेह हवाई अड्डे पर उतरा। पैंतीस मिनट बाद विमान फिर उड़ा, लेकिन हवा में कुछ ही ऊपर पहुंचते ही उसमें आग लग गई। विमान के दो टुकड़े हो गए और वह जमीन पर आ गिरा। नेताजी बहुत अधिक जल गए थे। उन लोगों को एक स्थानीय सैनिक अस्पताल में भर्ती किया गया। डाक्टरों की पूरी कोशिश के बावजूद उन्हें नहीं बचाया जा सका। उसी रात उनकी मृत्यु हो गई। दो दिन के बाद वहीं उनका अंतिम संस्कार कर दिया गया। सितम्बर 1945 के आरंभ में उनकी अस्थियां तोकियो के रैनकोजी मंदिर में पहुंचा दी गईं। विप्लवी सुभाष के साहस और साधन संपन्नता से गांधीजी भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। सुभाष के प्रति उनके मन का मैल अब तक धुल चुका था। लेकिन अब पछता कर होता ही क्या? सुभाष की राख तो कहीं विदेशी धरती पर बिखर चुकी थी।

जयप्रकाश नारायण, नरेन्द्र देव, राममनोहर लोहिया आदि कांग्रेस सोशलिस्ट नेता सुभाष की विचारधारा के ही निकट थे। हां, इतना अंतर अवश्य था कि शत्रु के शत्रु, नाज़ी और फासिस्टों को, अपना मित्र बनाना उन्हें कदापि स्वीकार न था।

युद्ध जब तक ब्रिटेन के एशियाई साम्राज्य से दूर था, तब तक तो ब्रिटिश सरकार को उपनिवेशी नेताओं की कोई परवाह न थी, लेकिन जब जापानी धक्के से एशिया हिलने लगा, तो चर्चिल-रूजवेल्ट-चांगकाई शेक, सब के सब घबड़ा उठे। बड़ी तेजी से स्थिति बिगड़ती जा रही थी। उसे संभालने का एक ही उपाय था, युद्ध में व्यापक जन-सहयोग। और जन-सहयोग प्राप्त करने के लिए आवश्यक था जनता के नेताओं के साथ समझौता। तभी, सन् '42 की 15 फरवरी को सिंगापुर का पतन हो गया और केवल तीन हफ्तों के अंदर, 8 मार्च को, जापा-

नियों ने रंगून में भी प्रवेश कर लिया। अब आसाम और बंगाल की बारी थी। रूजवेल्ट और चांगकाई शेक ने चर्चिल को चेतावनी दी—वह देखो! सामने तुम्हारा विनाश खड़ा है। हठधर्मी छोड़ो और अब भी संभलो। चर्चिल साहब और उनकी कैबिनेट के अधिकांश सदस्यों के होश ठिकाने आ गए। आकुल होकर तीसरे ही दिन, 11 मार्च सन् 1942 को, ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाउस ऑफ कामन्स में प्रधान मंत्री महोदय ने घोषणा की कि भारतीय नेताओं के साथ समझौता वार्ता के लिए वे अपने मंत्रिमंडल के एक सदस्य, सर स्टेफ़ोर्ड क्रिप्स को दिल्ली भेज रहे हैं।

25 मार्च '42 को, लंदन से जो प्रस्ताव अपने साथ लेकर क्रिप्स साहब दिल्ली पहुंचे, वो 'कुछ नगद और कुछ उधार' वाला सौदा था: अभी जब तक युद्ध चल रहा है, वाइसराय की एक्जीक्यूटिव काउंसिल के सभी अंग्रेज सदस्य हटा दिए जाएंगे और उनकी जगह सब भारतीय सदस्य रहेंगे। काउंसिल के अधिकार क्षेत्र बढ़ा दिए जाएंगे। वह सब तो टटका हो जाता, उधार रह जाती हिन्दुस्तान की मुकम्मल आजादी, जिसका क्रिप्स साहब हिन्दुस्तानियों को भरोसा दिला कर जाना चाहते थे कि लड़ाई के बाद वह भी मिल जाएगी, फिलहाल लड़ाई में सरकार की तहेदिल से मदद होनी चाहिए। गांधीजी के रहते ऐसा कच्चा सौदा कैसे हो जाता। जिस सौदागर का दिवाला अब पिटने ही वाला था, उसका चैक भला गांधीजी क्यों स्वीकार करने लगे! उन्होंने कांग्रेस नेताओं को आगाह कर दिया—"इट इज़ ए पोस्ट-डेटेड चेक ऑन ए फेलिंग बैंक।"[1] अठारह दिनों की माथा-पच्ची के बाद बेचारे क्रिप्स साहब हाथ मलते लंदन वापस लौट गए।

खूब आदमी थे लोहिया साहब भी। बापू को ही चकमा देना चाहते थे, लेकिन चली नहीं। क्रिप्स के लौटने के कुछ दिनों बाद, शायद अप्रैल या मई महीने में, अपने कुछ मित्रों के संग लोहिया साहब गांधीजी के पास वर्धा पहुंचे। उन दिनों कलकत्ता और उसके आस-पास के शहरों पर बमबारी की आशंका से वहां के नागरिक बड़े आंतकित थे। लोहिया साहब को एक युक्ति सूझी। उन्होंने बापू को मंत्रणा दी कि वे कलकत्ता, दिल्ली, बम्बई, मद्रास आदि महानगरों को 'खुला शहर' एलान कर देने की सरकार से मांग करें। गांधीजी ने उस एलान का फायदा जानना चाहा तो अंतर्राष्ट्रीय कानून की दुहाई देते हुए लोहिया साहब ने कहा: इसमें तो बस फायदा ही फायदा है। अतंर्राष्ट्रीय कानून के मुताबिक किसी भी खुले शहर पर दुश्मन की तरफ से हमला नहीं किया जा सकता। उस पर बमबारी नहीं की जा सकती। कोई भी ऐसा काम नहीं किया जा सकता जिससे

1. दादा कृपलानी ने लिखा है कि गांधी जी ने इसका खंडन करते हुए कहा था कि यह 'सरासर झूठ है'। (देखें, महात्मा गांधी : जीवन और चिंतन—जीवतराम भगवानदास कृपलानी, पृ० सं० 198)

नागरिकों के जान-माल को नुकसान पहुंचे या नगर का सामान्य जीवन अस्त-व्यस्त हो जाए। इसलिए ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान के इन बड़े शहरों को 'खुला शहर' एलानकर दे ताकि जापानी फौज बम गिरा कर इन शहरों को ध्वस्त न करे। गांधीजी की तीक्ष्ण वणिक-बुद्धि को तुरत लगा, तब इसके साथ कोई बड़ी शर्त भी जरूर होती होगी। बिना बड़ी लागत लगाए, बड़ा मुनाफा कोई कमा कैसे सकता है! पूछा तो लोहिया जी खुले कि अंगरेजी सरकार को भी एक शर्त का पालन करना होगा—खुला शहर एलान कर देने के बाद उन शहरों में या उनके इर्द-गिर्द, उन्हें अपनी प्रतिरक्षा का भी कोई प्रबंध नहीं रखना होगा। वहां कोई सैनिक छावनी या अड्डा रखने का अधिकार तब सरकार को भी नहीं रह जाएगा। गांधीजी लोहिया साहब की चाल समझ गए। मुस्करा कर बोले, सीधी बात क्यों नहीं करते कि अंग्रेजों की लड़ाई की तैयारी में विघ्न डालना चाहते हो ताकि दुश्मनों से अपनी हिफाजत करने लायक वे रह ही न जाएं। लोहिया साहब की 'खुले शहर' वाली बात तो गांधीजी ने नहीं माना, लेकिन युद्ध में भारत की तटस्थता के समर्थन में अपनी साप्ताहिक पत्रिका 'हरिजन' में हर हफ्ते अपना एक लेख लिखते रहने का उनका आग्रह स्वीकार कर लिया।

आखिर बात क्या थी कि गांधीजी ने लोहिया साहब का खुले शहर वाला प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया? हर्ज क्या था यदि उससे लड़ाई की तैयारी में अंगरेजों को बाधा पहुंचती या वे हार ही जाते? अटकल करूं तो, शायद उसके तीन कारण थे: पहला, गांधीजी की व्यावहारिक बुद्धि कि, नाहक ऐसी मांग सरकार से करें ही क्यों जिसे वह कभी माने ही नहीं। दूसरा, उनका नैतिकवादी दृष्टि-कोण कि अंगरेजों की मुसीबत का नाजायज फायदा उठाना अनुचित होगा, कुछ लोकलाज भी कि देश-विदेश के बहुतेरे लोग क्या कहेंगे? अगर मौलाना साहब की बात मान ली जाय तो तीसरा कारण हो सकता है गांधीजी का अपना यह ख्याल कि जापानी सेना यदि भारत में पहुंच भी गई, तो वह भारतीयों का शत्रु बन कर नहीं आएगी। अपनी एक भेंट में गांधीजी ने मौलाना साहब को विश्वासपूर्वक कहा था कि यदि अंगरेज तुरत भारत छोड़ कर चले जाएं, तो जापानी भारत पर आक्रमण करेंगे ही नहीं। लगता है, इन सब में पहला और आखिरी कारण ही प्रबल था, नहीं तो कुछ ही दिनों बाद उस साल अगस्त महीने में, जब अंगरेज सर्वाधिक संकटग्रस्त थे, गांधीजी 'भारत छोड़ो' आंदोलन क्यों छेड़ते?

सुना है, 'भारत छोड़ो' का नारा देने के लिए आचार्य नरेन्द्र देव ने ही गांधी जी को तैयार किया था। कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद और पंडित जवाहरलाल नेहरू बिल्कुल उसके पक्ष में थे ही नहीं। आखिर-आखिर तक उन लोगों ने गांधीजी के साथ इस प्रश्न पर घोर असहमति प्रकट की थी। आजाद और नेहरू के विरोध के कारण गांधीजी इतना क्षुब्ध हो उठे थे कि आवेश

में आकर उन्होंने 7 जुलाई '42 की सुबह मौलाना साहब को एक खत लिखा कि वे कांग्रेस-अध्यक्ष पद से इस्तीफा कर दें और जवाहरलाल जी को भी लिखा कि वे कांग्रेस-कार्य-समिति से विलग हो जाएं। वो तो सरदार पटेल ने स्थिति संभाल दी वर्ना कांग्रेस कार्य-समिति के एक सदस्य ने माइकेल ब्रेचर को बताया था कि कार्यसमिति की बैठक में गांधीजी ने खुद कांग्रेस से हट जाने की धमकी दी और कहा कि भारत के रजकण से ही वे इतना बड़ा आंदोलन खड़ा कर लेंगे जो कांग्रेस से कहीं ज्यादा बड़ा होगा।

सन् बयालीस की अगस्त क्रांति के बाद तो स्वतंत्रता आंदोलन का शरद्काल आ गया। इतना पाला पड़ा, इतनी बर्फ गिरी की कंपकंपी से लोगों के दांत से दांत बज उठे। खिड़की-दरवाजे बंद कर सब अपने-अपने घरों में ठिठुरे पड़े थे। वो तो तीन वर्षों के बाद जब मित्रराष्ट्रों का सौभाग्य-सूरज कुछ तेजी से चमकने लगा, तो भारत में भी कुहासा छंटा, बर्फ पिघली, बंद घरों के दरवाजे खुले और सर्दी से उजले हुए लोग धूप सेंकने बाहर निकल आए।

हिटलर कोई मामूली दैत्य तो था नहीं। हारने को हारा और अपनी नवोढ़ा पत्नी इवा ब्राउन के संग आत्महत्या भी कर ली, लेकिन छक्के छुड़ा दिये थे उसने अपने विपक्षियों के। जीत के बावजूद वे सीधा तनकर खड़े न हो सके। सारे यूरोप की आर्थिक रीढ़ ही तोड़ डाली थी हिटलर ने।

इंगलैंड की हालत तो इतनी खस्ता हो चुकी थी कि लंदन, मैनचस्टर, बर्मिंघम, ग्लैसगो, लिवरपूल आदि सभी छोटे-बड़े नगरों की गली-बाजारों में, हर तरफ तख्तियां झूलने लगीं : कहीं 'नो मीट' तो कहीं 'नो एग', कहीं 'नो कोल' तो कहीं 'नो लॉग'। सिगरेट ढूंढ़ो तो सिगरेट नहीं, सलाई खोजो तो सलाई गायब। दूध-ब्रेड, रोशनी-पानी, सभी पर राशन। सर्वत्र अभाव ही अभाव। इतनी तंगी और तबाही हो गई कि देश के विख्यात अर्थशास्त्री, जॉन मेनार्ड किन्स को देशवासियों को यह सलाह देनी पड़ी कि ब्रिटिश जनता अब एक गरीब देश के वासी हैं और उन्हें गरीबी में गुजर करने का ढंग सीखना चाहिए। रुतबा ही उतर चुका था इंगलैंड का, हुकूमत क्या करते ? लेकिन राजनीति में कोई एक बात तो होती नहीं, कई बातें मिली-जुली होती हैं।

यूरोप के सारे मुल्कों को एक अच्छा-खासा सबक मिल चुका था कि लोकतंत्र के मान्य सिद्धांतों की अवहेलना कर उसे निर्बल करने के परिणाम क्या और कैसे भयंकर होते हैं। दुनिया को फिर वैसा दुर्दिन न देखना पड़े, इसलिए सभी चिंतित थे कि समस्त विश्व में लोकतंत्र की जड़ मजबूत की जाए। सर्वत्र शासनतंत्र

जनता के लिए, जनता से और जनता द्वारा ही संचालित हो। यह भावना सारे यूरोप में इतनी तीव्रता से व्याप गई कि युद्ध के बाद यूरोप के जिस देश में भी चुनाव हुए, प्राय: सभी जगह प्रगतिशील विचारधारा के वामपंथी लोगों का ही बहुमत रहा। ब्रिटेन में भी वही हुआ। लेबर पार्टी बहुमत में आई। उसके नेता क्लीमैंट ऐटली प्रधानमंत्री बने।

यदि अमेरिका की अपार धनराशि, प्रचुर साधन और प्रबल सैन्यशक्ति की सहायता मित्रराष्ट्रों को उपलब्ध न हुई होती, तो वे संभवत: युद्ध जीत ही नहीं पाते। फिर युद्धोत्तर विश्व के आर्थिक पुनर्निर्माण का सर्वाधिक भार अमेरिका ने ही संभाला। और अमेरिका सिद्धांत और नीतियों में निस्संदेह घोर उपनिवेश विरोधी था। रूस भी था। चर्चिल साहब भी मन ही मन यह अच्छी तरह समझ गए थे कि उपनिवेशवाद के दिन अब लद चुके हैं; ब्रिटेन को भारत तथा अन्य उपनिवेशों को मुक्त करना ही पड़ेगा। लेबर पार्टी तो अपनी चुनाव-घोषणा द्वारा ही वचनबद्ध थी। ब्रिटिश जनता ने बहुमत द्वारा उस घोषणा को अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। भारतीय स्वतंत्रता ऐटली सरकार का एक प्रमुख कार्यक्रम बन गई।

लेकिन उन सब के बावजूद, ब्रिटिश जनता की लोकतंत्रवादी आस्था एवं चरित्र को भी श्रेय कुछ कम नहीं है, वर्ना इसमें कोई शक नहीं कि हिटलरी तरीकों से चाहते तो वे अभी काफी दिनों तक अपना राज्य चला ही लेते। यह बात कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि भारत को उसकी स्वाधीनता पराजित ब्रिटेन ने नहीं, अपितु विजयी ग्रेट ब्रिटेन ने दी थी। भारत को आजाद कर निस्सन्देह ग्रेट ब्रिटेन ने अपनी लोकतंत्रवादी परंपराओं का भरपूर निर्वाह किया था।

दो

इतिहास की गतिशीलता के नियम कुछ अलग ही होते हैं। आदमी का उस-पर कोई वश नहीं चल पाता, चाहे वह आदमी कितना भी बड़ा क्यों न हो—सिकन्दर या जुलियस सिजर, नेपोलियन या हिटलर, लेनिन या गांधी या नेहरू। प्रकारान्तर से सबों ने उसकी प्रभुता को स्वीकारा है; अपने-अपने ढंग से सभी उसके सामने झुके हैं। सब कुछ अपना ही चाहा नेपोलियन भी न कर पाया। सेंट हेलेना के निष्ठुर चट्टानों के बीच आह भरते हुए उसने कहा था, "इटली में अपनी प्रथम विजय के बाद···मुझे लगा, मैं आकाश में ऊपर उठता चला जा रहा हूं और सारा संसार मेरे चरणों के नीचे लुप्त होता जा रहा है···यूरोप का एक संयुक्त राष्ट्र··· विवेक का साम्राज्य स्थापित करना···यूरोप का सामाजिक पुनर्जन्म मेरा अभीष्ट था, लेकिन जब तक मैं अपना व्रत पूरा कर पाऊं, भाग्य हस्तक्षेप कर बैठा···अब तो यहीं (सेंट हेलेना में) मेरी मृत्यु हो, नक्षत्रों में यही अंकित है···"

लेनिन भी युगपुरुष थे। बहुत कुछ कर गए देश और दुनिया के लिए। इतिहास को एक नया मोड़ देने की आपने भरसक कोशिश की। लेकिन अन्त में उन्हें भी मन मसोसते हुए कहना पड़ा, "इतिहास सदा हमारी कल्पनाओं से अधिक धूर्त सिद्ध होता है।"

मनुष्य के स्वतंत्र संकल्प से परे, इतिहास की निर्बाध शक्तियों के संबंध में पंडित जवाहरलाल जी नेहरू यद्यपि कोई निर्णायक मत प्रकट करने से बचना चाहते थे, तथापि स्वतंत्र-संकल्प (फ़्रीविल) एवं नियतिवाद (डिटर्मिनिज्म) के पारस्परिक प्रभावों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक बेमिसाल बात कही थी। कभी भूल नहीं पाता हूं उसे। अमेरीकी पत्रकार मि० नार्मन कजिंस से इस विषय पर बातचीत करते हुए उन्होंने ताश के एक खेल, ब्रिज, का दृष्टांत दिया और बोले, "नियति ताश के उन पत्तों की तरह हैं जो खेल में आपके हिस्से पड़ जाते हैं। उन पत्तों से आप कैसा (भला या बुरा) खेलते हैं यह आपके स्वतंत्र-संकल्प (कौशल) पर निर्भर करता है। उन दोनों की पारस्परिक क्रिया ही यह निश्चित करती है

कि एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र के रूप में आप कैसे हैं।"

तो आइए, पंडितजी के उसी सूक्ति-दीप के आलोक में हम अपने देश में आगे होने वाली घटनाओं को देखें :

चार साल बाद क्रिप्स साहब फिर दिल्ली तशरीफ लाए। मार्च महीने में ही, जब दिल्ली गर्म होने लगती है। मगर इस बार वे अकेले नहीं आए थे। उनके साथ मंत्रिमंडल के दो अन्य सदस्य भी थे—लार्ड पेंथिक लॉरेंस तथा मिस्टर ए० वी० एलेक्जेण्डर। पिछली बार क्रिप्स को अनुदार दल के प्रधान मंत्री विंस्टन चर्चिल ने भेजा था, इस बार मजदूर दल के प्रधान मंत्री क्लीमैंट ऐटली ने। भूत-पूर्व ब्रिटिश सरकार के सामने प्रश्न था—पूरी आजादी अभी क्यों दें? वर्तमान सरकार के सामने समस्या थी—पूरी आजादी ही सही, लेकिन किसे और कैसे दें? तब झगड़ा भारतीय बनाम अंग्रेज था, अब वह भारतीय बनाम भारतीय बन चुका था। तब केवल एक ही प्रश्न मुख्य था—स्वाधीनता। अब दो प्रश्न खड़े हुए थे—स्वाधीनता तथा विभाजन। उस बार क्रिप्स साहब भारतीय समस्या को सुलझाने के लिए अपनी सरकार की ओर से ही योजना लाए थे। इस बार सरकार की ओर से उनका कैबिनेट-मिशन भारतीयों से यह जानने आया था कि समस्या के समाधान की उनकी स्वदेशी योजना क्या है।

दिल्ली यमुना किनारे बसी है। इन चार वर्षों के अंतराल में ढेर सारा पानी यमुना के नीचे से बह निकला था। कुछ लोग कहते हैं कि युद्ध के दिनों में गांधीजी ने जो युद्ध-विरोधी रुख अपनाए, भारत को उसका दंड अंग्रेजों ने तो कम, लेकिन घटनाचक्र ने बहुत अधिक दिया। उस अवधि में गांधीजी दो बार सरकार-विरोधी आंदोलन छेड़ चुके थे—एक बार अक्टूबर 1940 का व्यक्तिगत सत्याग्रह, और फिर दो वर्षों के अन्दर ही अगस्त 1942 का 'भारत-छोड़ो' आंदोलन।

जब आंदोलन छिड़ जाता तो अंग्रेजी सरकार भी प्रत्याक्रमण करती। तरह-तरह की सख्ती, तरह-तरह की पाबंदी। कांग्रेस नेता और कार्यकर्त्ता जेलों में बंद कर दिए जाते। सारा मैदान खाली हो जाता। जिन्ना साहब और उनकी मुस्लिम लीग को इससे एक सुन्दर अवसर हाथ लग जाता था सरकार को अपनी खैर-ख्वाही दिखला और साथ ही, मुस्लिम जनता को बहकाने का। कांग्रेस के लोग तो बाहर रहते नहीं थे जो शासकों तथा जनता को समझावें कि गलत क्या है और सही क्या है। इसका पूरा फायदा उठाते हुए जिन्ना साहब ने इस बीच अपनी और लीग की शक्ति बहुत बढ़ा ली। दुबले-पतले जिन्ना साहब की राज-नैतिक शक्ति का ठीक-ठीक अंदाजा कांग्रेस नेता नहीं लगा पाए। उनसे ग़फ़लत हो गई।

उस साल शिमला में कैबिनेट मिशन के तत्त्वावधान में जो त्रि-पक्षीय वार्ता

हुई, उसमें कांग्रेस पक्ष से मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और लीग पक्ष से मोहम्मद अली जिन्ना सम्मिलित हुए। मौलाना साहब अब भी कांग्रेस के अध्यक्ष थे और जिन्ना साहब तो लीग के सर्वेसर्वा थे ही। कैबिनेट मिशन के साथ राष्ट्रीय समस्या एवं राजनीति पर, भारतीय पक्ष की ओर से उन्हीं दो मुसलमान प्रमुखों ने बातचीत की। लेकिन कितना अन्तर था उन दो मुसलमानों में। एक देश के बंटवारे के लिए बेचैन था और दूसरा, उसे अखंड रखने के लिए परेशान। एक केवल मुसलमानों के लिए हाय-तौबा मचा रहा था और दूसरा, हिन्दु-मुसलमान, तमाम हिन्दुस्तानियों के लिए फिकरमन्द था।

मौलाना साहब केवल कांग्रेस के अध्यक्ष तथा एक महान् राष्ट्रीय नेता ही नहीं थे बल्कि समस्त इस्लामी दुनिया की एक मोहतरम हस्ती भी थे। उनकी "पैदाइश एक ऐसे खानदान में हुई थी जो इल्म और शेखपन की बुजुर्गी रखता था।" बाबर के ज़माने में उनके पुरखे हिरात (अफगानिस्तान) से हिन्दुस्तान आए और पहले आगरा और फिर दिल्ली में बस गए। मौलाना साहब का जन्म मक्का में हुआ था। वे उर्दू, फारसी, अरबी के प्रकांड पंडित थे। क़ुरान शरीफ़ की उनकी व्याख्या के सम्बंध में कहा जाता है कि इस्लाम के धार्मिक साहित्य को उतनी अमूल्य देन पिछले चार सौ साल में किसी ने नहीं दी। वे एक ही साथ महान विद्वान, विचारक, वक्ता, लेखक, साहित्यिक और राजनीतिज्ञ थे। उनकी वक्तृत्व-कला की प्रशंसा मैंने जयप्रकाश जी और अशोक मेहता साहब से भी सुनी थी। कहते थे कि मौलाना आजाद और पं० मदन मोहन मालवीय की जिह्वा पर साक्षात सरस्वती विराजती थीं।

करीने से रखी हुई दाढ़ी और मूंछ, संवार के पहना हुआ अलीगढ़ी पाजामा, देहलवी शेरवानी और बीवर कैप में मौलाना साहब मुस्लिम तहजीब की बेहतरीन नुमायंदगी करते थे। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि एक व्यक्ति, जो सही अर्थ में इस्लामी संस्कृति की उपज था, उसे पाकिस्तान की योजना में हिन्दुस्तान के न केवल दूसरे बाशिंदों बल्कि, खास तौर से, मुसलमानों की ही बर्बादी के आसार नजर आए। व्यक्तिगत रूप से अन्त तक मौलाना साहब उस योजना के खिलाफ रहे।

दूसरी ओर, ठीक उनके विपरीत, जिन्ना साहब का हाल यह था कि न उन्होंने कभी रोजा रक्खा, न नमाज पढ़ी। न कभी क़ुरानशरीफ के सफ़े उलटे और मस्जिद की दहलीज भी शायद ही कभी लांघी हो। उर्दू तक नहीं जानते थे। अंग्रेजी ही उनकी ज़ुबान थी। बेहतरीन विलायती सूट उनका लिबास। बिल्कुल साह-बाना अंदाज़। केवल दो पुश्त पहले उनके दादा अपना धर्मपरिवर्तन कर हिन्दू से मुसलमान बने थे। यह भी अजीब बात थी कि जिस शख्स में इस्लामी संस्कृति की बू-बास भी न हो, उसे इस्लाम खतरे में नजर आया और बहुतेरे मुसलमान आंख

मूंद कर उसी के पीछे हो लिए।

भारतीय समस्या को सुलझाने के लिए कैबिनेट मिशन के सामने जिन्ना साहब ने 'देश के बंटवारे और पाकिस्तान की स्थापना' का नुस्खा पेश किया। उस नुस्खे की खामियों और खतरे की तरफ मिशन के सदस्यों तथा देश की जनता का ध्यान खींचते हुए मौलाना साहब ने घोषणा की :

"मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की जो तजवीज़ पेश की है, मैंने हर मुमकिन नज़रिए से उस पर गौर किया है। एक हिन्दुस्तानी की हैसियत से सारे हिन्दुस्तान पर पड़ने वाले इसके नतीजों को मैंने जांचा है। एक मुसलमान के नाते, मुसलमानों की किस्मत पर होने वाले इसके तमाम मुमकिन असरात को परखा है।

तमाम पहलुओं पर ग़ौर करने के बाद मैं इसी नतीजे पर पहुंचा हूं कि महज सारे हिन्दुस्तान के लिए ही नहीं, बल्कि ख़ास तौर पर मुसलमानों के लिए, यह एक नुकसानदेह तजवीज़ है और इससे मसले जितना हल नहीं होते, उससे ज्यादा बढ़ ही जाते हैं।

मैं इसे ज़रूर ज़ाहिर कर देना चाहता हूं कि पाकिस्तान लफ़्ज ही मेरी फितरत के खिलाफ है। इसके मायने तो ये हुए कि दुनिया के कुछ हिस्से पाक, और कुछ नापाक हैं। हल्क़ों का इस क़दर पाक और नापाक इलाकों में बंटवारा गैर-इस्लामी है और इस्लाम के मक़सद के खिलाफ पड़ता है। इस्लाम ऐसे किसी तक़सीम की इजाज़त नहीं देता और हज़रत पैगम्बर फरमाते हैं—अल्लाह ने सारे जहान को ही मेरे लिए मस्जिद बना रखा है।"

मौलाना साहब के विचार कैबिनेट मिशन के सदस्यों, गवर्नर-जेनरल लार्ड वेवेल तथा देश की जनता के दिल व दिमाग़ को छू गए। सब बड़े प्रभावित हुए। कितनी बहुमूल्य वस्तु थी भारत की अखंडता। अंग्रेजों तक को वह प्यारी थी। केवल मि० जिन्ना, 'दो-कौम' की थोथी दलील देकर उसे भंग करने को व्याकुल थे। मिशन ने जिन्ना साहब के 'बटवारे और पाकिस्तान' की मांग को ठुकरा दिया और मुख्यत: मौलाना साहब के सुझावों के आधार पर ही भारतीय समस्या के निराकरण की एक योजना प्रस्तुत की :

संपूर्ण भारत के लिए एकात्मक सरकार (यूनिटरी फ़ॉर्म ऑफ़ गवर्नमैंट)। प्रान्तों का तीन वर्गों में पुनर्गठन—वर्ग 'अ' में हिन्दू बाहुल्य वाले प्रांत। वर्ग 'ब' में पूर्ण मुस्लिम बहुमत वाले प्रांत (पंजाब, सिंध, ब्रिटिश बलूचिस्तान और सीमांत प्रांत)। वर्ग 'स' में नगण्य मुस्लिम बहुमत वाले प्रांत (बंगाल और आसाम)। केन्द्रीय सरकार के अधीन तीन विषय—प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामले और संचार। अन्य विषय प्रांतीय सरकारों के हाथ में।

अपने एक मित्र, सेन्ट्रल एसेम्बली के भूतपूर्व सदस्य श्री हरिशरण प्रसाद श्रीवास्तव के साथ, एक दर्शक के रूप में पिताजी भी कान्फ्रेंस के अवसर पर

शिमला गए थे। लौटकर आए तो कहा, लगता है अब जल्द कोई रास्ता निकल आएगा।

कांग्रेस ने मिशन की योजना स्वीकार कर ली जो एक अखंड भारत की ही योजना थी। झख मार कर मुस्लिम लीग को भी वही तजवीज कबूल करनी पड़ गई। क्रिप्स साहब और उनके साथी खुशी-खुशी अपने देश लौट गए।

तभी एक चिनगारी उड़ आई और उससे अखंड भारत का सारा नक्शा ही जल कर भस्म हो गया। कैबिनेट मिशन-प्लॉन के संबंध में नवनिर्वाचित कांग्रेस अध्यक्ष, पंडित जवाहरलाल नेहरू का एक वाक्य—'समझौते का कोई बंधन नहीं, किसी भी नई परिस्थिति का अपने ढंग से सामना करने को हम मुक्त हैं'—विस्फोटक सिद्ध हुआ। सारे इतिहास की दिशा ही बदल गई।

अन्तरात्मा की आवाज सुनते और दूर की देखते थे गांधी जी। भारत की आजादी उन्हें आती दीख पड़ी। उसकी अगवानी के लिए निश्चित था, कांग्रेस अध्यक्ष ही भेजे जाते। संभावित सत्ता-हस्तांतरण की पूर्व-वेला में, कांग्रेस पक्ष के साथ वार्ता के लिए, ब्रिटिश सरकार कांग्रेस अध्यक्ष को ही आमंत्रित करती, सारा निर्णय उसी के साथ विचार-विमर्श कर होता। और तब यह भी निश्चितप्राय था कि आजादी की नई नवेली दुल्हन के गले में जयमाला डालने का सौभाग्य भी कांग्रेस अध्यक्ष को ही प्राप्त होता। राष्ट्रपिता ने, मन ही मन, वह सलोना वर भी ढूंढ़ ही रखा था, जवाहरलाल नेहरू—इंगलैंड के हैरो स्कूल का छात्र, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी का ग्रैजुएट, लंदन इनर टैंपल का बैरिस्टर। अभिजात लाड़लों के बीच शिक्षित-दीक्षित जवाहरलाल नेहरू ने हैरो और कैम्ब्रिज के अधिकांश पूर्वाग्रहों को हृदयंगम कर रखा था और अपनी रुचि और अनुरुचियों में वे संभवतः, भारतीय कम, अंग्रेज ही ज्यादा थे। उनके व्यक्तित्व और दृष्टिकोण के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्ष पर इंगलैंड की अमिट छाप थी, ऐसा उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया था। लेकिन गांधीजी मान बैठे थे कि उनकी मृत्यु के बाद जवाहरलाल ही उनकी भाषा बोलेंगे। और इसी विश्वास के साथ कुछ ही वर्ष पूर्व, उन्होंने जवाहरलाल को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था।

कौतुक का देश है भारत। अहिंसा के पुजारी यहां युद्ध का शंखनाद करते हैं और क्रांति के प्रोन्नायक, संधिवार्ता। स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम दशकों में सभी उल्लेखनीय जनआंदोलनों का आह्वान और नेतृत्व महात्मा गांधी ने किया और संधिवार्ता के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण अवसरों पर कांग्रेस के मुख्य प्रवक्ता सोशलिस्ट

जवाहरलाल ही रहे। उन दिनों फिर इतिहास के एक बहुत ही नाजुक समझौते की घड़ी निकट आ रही थी। दो हठधर्मी पक्ष, ब्रिटिश सरकार और मुस्लिम लीग, से समझौता-वार्ता कोई सरल काम नहीं था! एक को देश की पूर्ण स्वतंत्रता, और दूसरे को भारत की अखंडता के लिए राजी कराना था। इसमें संदेह नहीं कि उस समय के शीर्षस्थ नेताओं में जवाहरलाल नेहरू ही ऐसे व्यक्ति थे जो भारतीय भी थे और विलायती भी। राष्ट्रवादी भी थे और अंतर्राष्ट्रवादी भी। हिंदू भी थे और मुसलमान भी—समन्वयवादी कहिए। सरदार पटेल तो कहा करते थे कि भारत में केवल एक ही असली राष्ट्रवादी मुसलमान है, और वह है जवाहरलाल।

वैदेशिक संबंध तो प्रारंभ से पंडित जी का ही 'प्रिरॉगेटिव' (विशेषाधिकार) रहा था। भारत के राजनैतिक मानस को बहिर्मुखी बनाने में सर्वाधिक योगदान उन्हीं का था। सच पूछिए तो पंडित जी ने ही भारतीय मुक्ति-आंदोलन को अंतर्राष्ट्रीय स्वर दिया था। वे बीसवीं सदी की भाषा बोलते थे जो सभी देशों के प्रबुद्ध समाज को बोधगम्य थी। और जब किसी की भाषा सुगमतापूर्वक समझ में आ जाए, तो उसके दृष्टिकोण को भी सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। उसके बाद का काम तो आसान हो जाता है। सहानुभूति, सद्भाव, समर्थन, सहयोग—सब उसी के अनुगामी हैं। बड़े व्यापक अंतर्राष्ट्रीय सम्पर्क थे पंडित जी के। दुनिया के प्रायः सभी छोटे-बड़े देशों के बुद्धिजीवी, जनसेवी, राजनयिक उनके प्रशंसक, समर्थक अथवा मित्र थे :

अमेरिका में प्रसिद्ध पादरी होम्स स्मिथ, नागरिक स्वतंत्रता संघ के निदेशक-संचालक रोगर बाल्डविन, विख्यात जननायक वेन्डेल विल्की, प्रसिद्ध पत्रकार लूई फिशर, एडगर स्नो, अमरीकी राष्ट्रपति के विशेष प्रतिनिधि क्लेयर बूथ ल्यूस;

ग्रेट ब्रिटेन के जगत विख्यात विचारक बर्टरेंड रसेल, प्रो० लास्की, प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता एडवर्ड थॉमसन, चार्ल्स ट्रिवेल्यां, फिलिप नोएल बेकर, प्रभावशाली सांसद सर स्टैफार्ड क्रिप्स, लार्ड लोथियन, एलेन विल्किन्सन, ख्यातिनामा सेनानायक लार्ड माउंटबेटन;

फ्रांस के रोमां रोलां;

जर्मनी के प्रसिद्ध लेखक अर्नेस्ट टॉलर, रिचार्ड रित्नजर, वेन्जेन जैक्स;

चेकोस्लोवाकिया के प्रोफेसर एस० लेसनी, पत्रकार एवं राजनयिक ए० सी० एन० नैम्बियर;

चीन के अध्यक्ष च्यांग काई शेक और श्रीमती च्यांग काई शेक;

मिस्र के लोकप्रिय जननायक मुस्तफा नहास पाशा—सब के सब, पंडितजी के संपर्क और परिचय के लोग थे। उनमें कई से तो उनके बड़े ही सौहार्दपूर्ण संबंध थे। मेरी समझ में, कूटनीतिक दृष्टि से यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात थी।

क्योंकि वे सब जानते थे कि वर्तमान भारत की राजनीति और जनजीवन में नेहरू का जितना लोकप्रिय और प्रभावकारी स्थान बन चुका है, वह भविष्य में भी अक्षुण्ण रहेगा। नेहरू भावी भारत के भी कर्णधार होंगे, इस धारणा और विश्वास के कारण उनके पारस्परिक व्यवहार और समझौतों में निश्चितता और दृढ़ता आ गई थी।

पंडित जी की अंतर्राष्ट्रीय अनुरक्ति के कारण लोगबाग उनपर कटाक्ष भी कर बैठते थे। सुना है, एक बार शायद सन् 39-40 के जमाने में, सरदार पटेल कांग्रेस अधिवेशन की कार्यवाही के बीच मंच से उठकर कुछ मित्रों के साथ बाहर चाय पीने गए। किंतु वे किसी को यह भी कह गए कि जवाहरलाल जब बोलने लगें तो मुझे बुला लेना। आदेशानुसार, जब वे सज्जन उन्हें बुलाने पहुंचे, तो सरदार ने यह जानना चाहा कि पंडित जी कितनी देर से बोल रहे हैं (पंडित जी का भाषण ज़रा लम्बा हुआ करता था)। जवाब मिला—"यही कोई दस-पंद्रह मिनटों से।" सरदार पटेल ने बड़े इत्मीनान से मित्रों से कहा, "अरे! तब इतनी जल्दी क्या है? अभी तो जवाहरलाल पोलेंड भी नहीं पहुंचे होंगे। उन्हें स्वदेश तो लौट आने दो।"

कुछ लोग मानते हैं कि स्वाधीनता की पूर्व-बेला में जवाहरलाल जी को कांग्रेस-अध्यक्ष के महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कर गांधी जी ने अच्छा नहीं किया। बारी सरदार पटेल की थी और पंद्रह में से बारह प्रान्तीय कांग्रेस समितियां उन्हीं को अध्यक्ष बनाने के पक्ष में थीं। वरीयता की दृष्टि से भी बारी पटेल की ही थी। देश के प्रधानमंत्री बनने का सरदार पटेल के जीवन में वह प्रथम और अंतिम अवसर होता जिसे गांधी जी ने उनसे झपट कर जवाहरलाल को दे दिया। तभी से उन दोनों के प्रति सरदार के मन में जो कड़ुवाहट पैदा हो गई वह शायद अंत तक नहीं मिटी। वैसे, इतिहास के भावी गंभीर एवं संयतचित्त शोधकर्ता ही इस संबंध में निष्पक्ष रूप से कुछ कहने के अधिकारी हो सकेंगे किंतु मैं समझता हूं, स्वतंत्र भारत के लिए दुर्भाग्य की बात यह नहीं हुई कि पं० जवाहरलाल नेहरू उसके प्रथम प्रधानमंत्री बने, अपितु, वास्तविक दुर्भाग्य तो यह हुआ कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के मात्र तीन वर्ष चार माह के अंदर भारत के प्रथम उप-प्रधानमंत्री, लौहपुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल की मृत्यु हो गई। अक्सर सोचता हूं, यदि नियति ने तीन मृत्युओं को एक दशक के लिए भी और टाल दिया होता, तो हिंदुस्तान का भाग्य आज कुछ और ही होता। 15 दिसम्बर 1950 को सरदार पटेल, 10 जनवरी 1966 को लाल बहादुर शास्त्री और 12 अक्तूबर 1967 को राममनोहर लोहिया हमें छोड़ कर चल नहीं बसे होते, तो देश एक फौलादी ढांचे में ढल गया होता; भारतीय गणतंत्र का पक्ष-प्रतिपक्ष, दोनों ही निखर जाता।

कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से 10 जुलाई '46 को वम्वई में पंडित जी ने जो पहली प्रेस कांफ्रेंस बुलाई, उसमें एक पत्रप्रतिनिधि ने उनसे प्रश्न कर दिया, "ए० आई० सी० सी० द्वारा पारित हो जाने के वाद अब तो यह मान लिया जाए कि कांग्रेस ने कैबिनेट मिशन-प्लॉन को पूर्णत: स्वीकार कर लिया है और उस स्वीकृत प्लॉन के ही अंतर्गत वह अन्तरिम सरकार गठित करेगी ?" उत्तर में पंडित जी ने कहा कि कांग्रेस केवल संविधान सभा में सम्मिलित होने के लिए ही वचनबद्ध है, परंतु संविधान सभा में प्रवेश करते समय "हम पर समझौतों का कोई बंधन नहीं होगा, और जो भी परिस्थिति उत्पन्न होगी, उसका सामना अपने ढंग से करने के लिए हम स्वतंत्र होंगे।" पत्रप्रतिनिधि ने स्पष्टीकरण के उद्देश्य से आगे पूछा कि क्या उनका अभिप्राय यह है कि प्लॉन में परिवर्तन भी किए जा सकते हैं ? पंडित जी ने बेझिझक कहा कि कोई भी उपयुक्त संशोधन करने के लिए कांग्रेस स्वतंत्र है। उन्होंने इस बात की संभावना की ओर भी संकेत कर दिया कि कालक्रम में केन्द्रीय सरकार प्रांतीय सरकारों की अपेक्षा, प्लॉन की परिकल्पना से कहीं अधिक, शक्तिशाली वन जाएगी।

अखबारों में वात आई, तो पढ़ कर जिन्ना साहव को विजली का करेंट लग गया। वे चौंक-चिल्ला कर पीछे हट गए (दरअसल, हटने का वे कोई वहाना चाहते थे, सो मिल गया) : कोई भरोसा नहीं कांग्रेस का···ये बदनीयत लोग हैं···आज ही अपने वायदों से मुकरने लगे, इनकी हुकूमत बन जाएगी तब तो धत्ता बता देंगे लीग और मुसलमानों को···अच्छा हुआ जो बात आज ही खुल गई।

बस जिन्ना साहब ने पैंतरा बदला। लीग कांउसिल की बैठक बुलाई। कैबिनेट मिशन-प्लॉन को दिया गया अपना समर्थन वापस ले लिया और संवैधानिक तरीकों को 'अलविदा' कह कर "डाइरेक्ट-ऐक्शन" (सीधी कार्रवाई) का फ़तवा दे डाला। बस शुरू हो गया पाकिस्तान के हिमायतियों का डाइरेक्ट-ऐक्शन—'लड़ कर लेंगे पाकिस्तान···' शुरुआत बंगाल से हुई जहां मुस्लिम लीग के सुहरावर्दी का मंत्रिमंडल सत्तारूढ़ था। कलकत्ते में सभी समारोह बड़ी धूमधाम से मनाए जाते हैं। सो, 16 अगस्त '46 को उस महानगरी में 'जश्ने-कत्ल' भी धूम-धाम से शुरू हुआ। कुछ गुण्डों ने शुरू किया। गुंडे न हिंदू होते हैं, न मुसलमान। गुंडे बस गुंडे होते हैं। हैवानियत ही उनका मजहब होता है। हत्या, बलात्कार, लूट-मार, अग्नि-काण्ड जैसे नृशंस कार्य उनके सामान्य धार्मिक अनुष्ठान में ही आते हैं। किंतु दुर्भाग्य यह हुआ कि जो बात गुंडों ने शुरू की, वह उन तक ही सीमित न रह पाई। पशु-धर्म ने जैसे मानव धर्म को रौंद डाला हो। देश के उत्तरी इलाकों में अगले सोलह महीनों तक उसी का बोल-बाला रहा। अमन-चैन तब भी न लौटा जब सांप्रदायिक एकता के लिए देश की अखंडता शहीद हुई और लोगबाग उसे काफी गहरी कब्र में दफन कर अगल-बगल

दो मुर्झाए पौधे रोप आए : हिंदुस्तान-पाकिस्तान।

कलकत्ता में तीन दिनों के अंदर करीब छह हजार लोग मारे गए। बीसियों हजार घायल हुए थे जिनमें बहुत मरे, कुछ बचे। बचने वालों में ज्यादातर अपंग जिंदा लाश थे। लूट-मार, आगजनी की वारदातों का हिसाब तो कोई कर ही न पाया। चिनगारी कलकत्ता से उड़ कर बिहार चली आई। मुजफ्फरपुर में एक दिन हमने सुना कि शहर से कोई पच्चीस मील दूर, बेनीबाद गांव में, कुछ मुसलमान कलकत्ता से किसी हिंदू औरत को जबरदस्ती भगा लाए थे, सो हिंदुओं ने गांव के मुसलमान टोले को ही जला कर खाक कर दिया और कई मुसलमानों को मार डाला। दंगे की लहर लौट कर फिर बंगाल चली गई—नोआखाली, त्रिपुरा, जहां अल्पसंख्यक हिंदुओं पर मुसलमान खूंखार भेड़ियों की तरह टूट पड़े। किस्से फैलते गए और किस्सों के साथ दंगे भी। बिहार, बंगाल, यू० पी० के अनेक शहरों और गांवों में हिंदू-मुस्लिम दंगे हुए।

लीग, लड़कर पाकिस्तान लेने का फैसला कर चुकी थी। फीरोज खां नून जैसे लीगी नेता ऐसी भयंकर मारकाट चाहते थे जिसके सामने 'चंगेज खां और हलाकू की खूंरेजी भी फीकी पड़ जाए'। सो, छह महीने बाद, दंगा जब पंचनद के प्रदेश पंजाब में पहुंचा तो रावी, सतलुज, ब्यास, झेलम और चिनाब में पानी की जगह खून की धारें हिलोरें लेने लगी थीं। लाहौर, अमृतसर, रावलपिंडी, सियालकोट, मुल्तान सभी शहरों में लपटें उठती रहीं, शोले भड़कते रहे। निर्दोष लोगों की चीख-पुकारों से दिशाएं कांप रही थीं।

उन सोलह महीनों में देश के लाखों हिंदू-मुसलमान मारे गए। करोड़ों उजड़े। बेगुनाह लोगों के खून से देश की धरती पर जो विभाजक रेखा खींची गई, उसे लांघ कर कोई दो-ढाई करोड़ शरणार्थी इधर से उधर गए और उधर से इधर आए। मीलों लंबी कतार दोनों तरफ आने-जाने वाले लोगों की, जिनके पीछे एक खौफनाक मौत थी और आगे, एक मुर्झाई जिंदगी का कमजोर इशारा। बस उसी इशारे की तरफ वे बढ़ते चले गए।

किस्मत के बड़े धनी थे पंडित जी। नक्षत्र ही उनके बड़े प्रबल थे। राज मिलना था तो सारे समर्थक ग्रह जुटते चले गए। भारत का नया वाइसराय किसे नियुक्त कर भेजा जाए, इस बात में भी पंडित नेहरू की राय अंग्रेजों ने चुपके-चुपके जान लेनी चाही। प्रधानमंत्री ऐटली ने अपने सहयोगी सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स से और क्रिप्स ने नेहरू के अंतरंग, कृष्ण मेनन से पता किया कि इस पद पर नेहरू किसे पसंद करेंगे। ब्रिटेन में लेबर पार्टी की सरकार बनने के बाद वेवल का पत्ता

कटने ही वाला था।

वैसे, वेवल था तो निहायत ईमानदार किस्म का आदमी। उसकी नेकनीयती की मौलाना आजाद ने बड़ी तारीफ की है। लेकिन उसकी दिक्कत थी कि वह एक खालिस फौजी आदमी था। दो टूक बोलने वाला, अक्खड़ किस्म का। डिप्लोमैटिक बारीकियों का उसे कोई ज्ञान नहीं था। कम बोलने और बातचीत में बिना कोई भूमिका बांधे, सीधे 'पॉइन्ट' पर पहुंच जाने की उसकी आदत थी। जो कुछ भी वह कहता-सुनता उससे उसका अभिप्राय अंग्रेजी शब्दों के सामान्य अर्थ की परिभाषा के अंदर ही हुआ करता था। दुर्भाग्य यह था कि उसके पल्ले पड़ने वाले अधिकांश भारतीय नेता भूमिका बांधने में बड़े माहिर थे। पेशेवर वकील रह चुकने के कारण, बाल की खाल निकालने, फंदा डालने और बातों को 'बहुरूपिया' बना कर नचा देने का कमाल भी उन्हें हासिल था। गांधी, जिन्ना, जवाहरलाल, पटेल, राजा जी, राजेन्द्र प्रसाद, अम्बेदकर आदि, सब के सब पेशे से पहले वकील ही तो थे। उनके शब्दजाल में उलझ कर व्याकुल हो जाता था बेचारा फौजी वेवल। खास तौर पर गांधी से बात करने में उसकी रूह कांप जाती थी। एक बार इस सोच में वह रात-भर सो नहीं पाया था कि अगले दिन होने वाली बातचीत में गांधी से वह कैसे निबटेगा। प्रसंगवश अपने एक सचिव को उसने कभी कहा था कि कोई आध घंटे तक गांधी उससे बात करते रहे, फिर भी वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि आखिर गांधी उससे कहना क्या चाहते थे। उनके प्रत्येक वाक्य के, कम से कम, दो भिन्न अर्थ तो निकल ही आते थे।

कैबिनेट मिशन प्लान के आधार पर अंतरिम सरकार की स्थापना के संबंध में बात करने के लिए 27 अगस्त 1946 को गांधी और नेहरू को वेवल ने वाइसराय-भवन में बुलाया था। कैबिनेट मिशन योजना का वास्तविक उद्देश्य तथा उसकी व्याख्या, विवादग्रस्त विषय बन चुके थे। वेवल ने दराज से एक कागज निकाला और गांधी को थमा दिया। उसमें मिशन-योजना को स्वीकार करने के संबंध में वह गारंटी लिखी हुई थी जिसे गांधी और नेहरू से वेवल मनवा लेना चाहता था। कागज पढ़ कर गांधी ने उसे नेहरू की ओर बढ़ाया। पढ़ कर नेहरू बोले, "इसे स्वीकार करने का अर्थ है, कांग्रेस अपने पांव में जंजीर डाल ले।" वेवल ने कहा, "···कांग्रेस ने जब योजना स्वीकार की थी, तभी आपके ध्यान में यह बात भी आ जानी चाहिए थी···"

गांधी ने अंतराक्षेप किया—"···कैबिनेट मिशन की मंशा और हमारी व्याख्या में अन्तर तो हो ही सकता है···"

वेवल झुंझला उठा—"यह बात तो वकील वाली हुई। मुझ से तो सादी अंग्रेजी में बात कीजिए। मैं सीधा-सादा सिपाही हूं। आप जब कानूनी पेंच लगाते हैं तो मैं परेशान हो जाता हूं।"

जवाहरलाल जी खीज गए—"अब इसका क्या इलाज है कि हम वकील हैं?"

"…किंतु आप उन सच्चे लोगों की तरह तो बात कर ही सकते हैं जो भारत के भविष्य और कल्याण में दिलचस्पी रखते हों," वेवल ने प्रत्युत्तर दिया। बात बढ़ती चली गई। नौबत यहां तक आ पहुंची कि वेवल ने बड़े ताव में नेहरू को झाड़ते हुए कहा, "मर्द आदमी! 'ब्लैकमेल' की बात करने वाले आप होते कौन हैं?"

उस दिन वेवल की बदगुमानी से गांधी और नेहरू, दोनों ही तिलमिला उठे। वाइसराय भवन से लौटते ही गांधीजी ने प्रधानमंत्री ऐटली को तार भेजा—वाइसराय की मानसिक स्थिति ठीक नहीं। उनकी सहायता के लिए एक ऐसा सलाहकार भेजा जाना आवश्यक है जो स्वयं उनसे अधिक योग्य और विधिमर्मज्ञ हो।

एक चिट्ठी वेवल को भी भेजी। लिखा था: "…कल आपने कई बार यह कहा कि आप एक सीधे-सादे सिपाही हैं और कानून नहीं जानते। सीधे-सादे लोग तो हम भी हैं, भले ही हम सिपाही न हों और कानून भी जानते हों…कल शाम आपकी भाषा धमकी से भरी थी। सम्राट के प्रतिनिधि के नाते केवल फौजी बनने से ही आपका काम नहीं चलेगा और न ही आप कानून की उपेक्षा कर सकते हैं, खास कर जो कानून स्वयं आपने ही बनाए हैं…"

नेहरू भला कैसे चुप रह जाते? उन्होंने भी वेवल की अशिष्टता की शिकायत इंग्लैंड के अपने कई प्रभावशाली अंग्रेज राजनीतिज्ञ दोस्तों को लिख भेजी। राजनीति जितनी तेजी से करवटें बदल रही थी, नेहरू की शिकायत और पसंद का महत्त्व इंग्लैंड में समझा जाने लगा था।

भारत का वह नया, परंतु अंतिम वाइसराय भी एक फौजी ही था। दक्षिण-पूर्व एशिया में मित्रराष्ट्रों का सर्वोच्च सेनाध्यक्ष, जिसे अभी हाल के विश्वयुद्ध में कई महत्त्वपूर्ण मोर्चों पर शानदार सफलता मिली थी। सगुनिया आदमी था लार्ड माउंटबेटन। विशाल नामधारी—लूई फ्रैंसिस अलबर्ट विक्टर निकोलस माउंटबेटन। ब्रिटेन के शाही घराने का ही एक सदस्य। मां, ब्रिटिश सम्राज्ञी विक्टोरिया की नातिन। पिता के पूर्वज, जर्मनी के सम्राट कैसर के वंशज। रूस, ग्रीस, स्पेन, स्वीडन, नार्वे, युगोस्लाविया—कई यूरोपीय राजघरानों से माउंटबेटन-परिवार के नाते-रिश्ते थे। सप्राण, सलोना-सा आदमी। बड़ा चुस्त, बड़ा चतुर। औपचारिक वार्ताओं में दक्ष और निपुण। उसकी वाक्पटुता के सामने तो कोई ठहर ही नहीं पाता। आत्म-विश्वास से कूट-कूट कर भरा हुआ। 'मैं कोई भी काम पूरा कर ले सकता हूं, यह विश्वास मेरी जन्मजात दुर्बलता है, महाशय'—ऐसा उसने प्रधानमंत्री चर्चिल से उस समय कहा था जब वे एशियाई युद्ध संचालन का दायित्व सौंपने से पूर्व उसकी सम्मति प्राप्त कर लेना चाहते थे। बिल्कुल

चकाचौंध पैदा कर देने वाला व्यक्तित्व था माउंटबेटन का। पंडित जी तक की आंखें झप गईं जो स्वयं देश-विदेश के राजनैतिक रंग-मंच पर चकाचौंध पैदा करते रहे।

माउंटबेटन के लिएं भारत कोई बिल्कुल नई जगह नहीं थी। 1921 के दिसम्बर में अपने ममेरे भाई, प्रिंस ऑफ वेल्स की भारत-यात्रा के दौरान उनका ए० डी० सी० बन कर माउंटबेटन भारत आए थे और उन्होंने गांधी से युवराज की भेंट कराने का भरसक प्रयत्न किया था, लेकिन तत्कालीन वाइसराय लार्ड रिडिंग राजी नहीं हुए।

अक्टूबर 1943 से अप्रैल 1944 तक, लगभग छह महीने, सुप्रीम-एलाएड-कमांडर माउंटबेटन का मुख्यालय दिल्ली में ही था। उन दिनों पंडित जी अहमद-नगर किले में नजरबंद थे तो उनसे मिलने की उसने पूरी कोशिश की थी। दो वर्ष बाद जब युद्ध समाप्त हुआ और पंडित जी सिंगापुर पहुंचे, तो अपने सलाहकारों के मशविरे के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों का वह विजयी एशियाई सेनाध्यक्ष, ब्रिटिश-विरोधी जवाहरलाल के साथ खुली कार में शहर की सैर कर आया।

वाइसराय के पद पर माउंटबेटन की नियुक्ति की जब घोषणा हुई, तो सरदार पटेल ने इंग्लैंड में अपने एक मित्र को पता करने को लिखा कि यह नया परिंदा माउंटबेटन है कैसा। रिपोर्ट आई—"क्रांतिकारी प्रवृत्ति का एक उदार-मना अभिजात।" सरदार खुश हुए : "चलो! जवाहर लाल को एक अच्छा झुनझुना मिल जाएगा। क्रांति की तैयारी तो हम अलग से कर ही लेंगे।" लेकिन वह झुनझुना जब दिल्ली पहुंचा तो लोग हैरत में पड़ गए। किसी के बजाए बजे ही नहीं; खुद ही जब चाहे, बजे। सरदार पटेल से पहली बार मिलने के बाद उनके बारे में माउंटबेटन की धारणा बनी, "यह आदमी ऊपर से ही कड़ा है, अंदर तो पुलपुला है।" वाइसराय-हाउस में दाखिल होते ही होते सारे भारतीय नेताओं को नजरों से ही तौल लिया माउंटबेटन ने।

सबसे पहले मिलने वालों में थे पंडित जवाहरलाल नेहरू। 24 मार्च 1947 के तीसरे पहर। उसी दिन दोपहर से पहले नए वाइसराय ने अपना पदभार ग्रहण किया था। तीन घंटे तक घुल-मिल कर बातें करते रहे दोनों। ज्यादा नेहरू ही बोले। तरह-तरह की बातें। लेकिन आदमी खुद को भूल कर न कला की बात करता है और न संस्कृति की, न साहित्य की और न दर्शन की। और राजनीति? वह तो स्थल ही ऐसा है जहां 'स्व' सबसे अधिक प्रमुख और प्रबल होता है। सो, उस दिन की भेंट-वार्ता में प्रकारांतर से नेहरू भी आत्म-प्रशंसा में कई बातें कह ही गए। अपनी कुछ ऐसी लकीरें खींचीं जिससे कई संगी-साथियों की लकीरें छोटी पड़ जाती थीं। गांधी तक की नुक्ता-चीनी कर डाली : "···अब तनिक गांधी जी को देखिए! बजाय इस के कि मुल्क के जिस्म पर जो फोड़े निकल आए हैं, उसकी

वजह को समझें और सारे जिस्म का एक साथ इलाज करें, मलहम लेकर वे अलग-अलग फोड़े पर लगाते फिर रहे हैं···" (गांधी जी उन दिनों बंगाल-बिहार के दंगाग्रस्त क्षेत्रों की शांति-यात्रा पर थे)। माउंटबेटन सब कुछ भांप गया। नेहरू चलने पर हुए तो उन पर अपने तरकश से एक बड़ा ही सूक्ष्म बाण निकाल कर चला दिया, "मि० नेहरू! मैं चाहता हूं, आप मेरी गणना ब्रिटिश राज का समापन करने वाले अंतिम वाइसराय के रूप में नहीं, बल्कि उस प्रथम वाइसराय के रूप में करें जो नए भारत तक पहुंचाने वाले मार्ग का अगुआ रहा हो।" तीर निशाने पर जा लगा। नेहरू गद्‌गद कंठ से बोल उठे, "अब समझा, आपके जादू से लोग सावधान क्यों करते रहे हैं।"

माउंटबेटन को भनक पड़ गई थी कि गांधी का प्रिय अलाप है अपना वीर-गाथा काल—उन्होंने कहां, कब, कैसे क्या सब किया था। सो, छह दिनों बाद गांधी जब उससे मिलने आए तो सौहार्द्र का ऐसा उत्प्रेरक वातावरण माउंटबेटन ने प्रस्तुत किया कि सवा दो घंटे की अपनी भेंटवार्ता में गांधी इंगलैंड में अपने छात्रकाल, अफ्रीका-सत्याग्रह, बोअर युद्ध, भूतपूर्व वाइसरायों से अपने संपर्क-संबंधों की स्मारिका के पन्ने ही उलटते रहे। वाइसराय के वातानुकूलित अध्ययन कक्ष में बैठे-बैठे ठंड से उन्हें कंपकंपी हो आई। पास बैठी लेडी माउंटबेटन चीख पड़ीं, "अरे! बंद करो एयर कंडीशनर। ऐसे में तो इन्हें न्यूमोनिया हो जाएगा।" और झट उठकर अपने पति का एक गर्म कपड़ा गांधी जी के बदन पर रखने को ले आईं।

अगले दिन गांधी जी जब उनसे मिले तो बात फिर कोई दो घंटे तक चली। बीच में गांधी का खाना भी वहीं पहुंचा। मनु लाई थी। खाने में बकरी के दूध का फोका स्वाद वाला दही भी था। थोड़ा दही गांधी जी ने माउंटबेटन की ओर भी बढ़ाया। बेचारा लार्ड देख कर ही बिदक गया, "मुझ से तो नहीं चल पायगा, मैंने कभी चखा नहीं।"

"फिर तो आज आप इसे चख ही डालिए। कोई काम पहली बार करने से ही तो शुरू होता है।" गिरफ्त में आ गए माउंटबेटन साहब।

मनु की मौजूदगी से बात-चीत में कोई बाधा न पड़े, इसलिए पार्श्ववर्ती फुलवारी में उसके घूमने की इजाजत गांधी जी ने माउंटबेटन से मांगी। गांधी को प्रभावित करने का एक और अच्छा अवसर उसे मिल गया। झट मनु की ओर मुखातिब हो उसने जड़ दी, "अरे! इसमें पूछना क्या? यह सब तो तुम्हारा ही है। हम लोग तो ट्रस्टी भर हैं, तुम्हारा सब कुछ तुम्हें सौंपने के लिए ही तो हम आए हैं।"

बस, उसी दिन पहली बार, केवल आखिर के पंद्रह मिनट तक, गांधी और वाइसराय के बीच सामयिक प्रसंगों पर कुछ ठोस बात हुई:

···किसी भी प्रकार के बल के सामने नहीं झुकना ही सदा से ब्रिटिश नीति रही है, परंतु, अंत में गांधी जी के अहिंसात्मक बल के समक्ष ब्रिटेन को झुकना पड़ रहा है। ब्रिटिश सरकार ने भारत छोड़ देने का निर्णय कर लिया है। अब गांधी जी ही बतावें, कैसे क्या किया जाए—प्रसंग छेड़ते हुए माउंटबेटन ने कहा।

"जिन्ना साहब अगर पाकिस्तान की अपनी हठ पर अड़े रहें तो सारे हिंदुस्तान की ही हुकूमत उनके सुपुर्द कर दीजिए; किंतु देश का बंटवारा न कीजिये" —गांधी जी ने सुझाव दिया।

"और जिन्ना साहब की प्रतिक्रिया क्या होगी ?" माउंटबेटन ने पूछा।

"अब यदि आप उन्हें बताएंगे कि यह मेरा प्रस्ताव है, तो वे जरूर कहेंगे, हुं ! धूर्त गांधी फिर झांसा देना चाहता है," गांधी ने हास्य का पुट देते हुए कहा।

एक दबी मुस्कान के साथ माउंटबेटन ने कुरेदा—"उनका ऐसा सोचना ठीक नहीं होगा क्या ?"

गांधी की मुद्रा थोड़ी कठोर हो आई। वे गंभीर स्वर में बोले—"नहीं, बिल्कुल नहीं। मैं पूर्ण निष्कपटता से यह प्रस्ताव करता हूं।"

"तो ठीक है, कांग्रेस के लोगों से इसे आप मनवा लेने का जिम्मा लें, तो मैं इस पर विचार कर सकता हूं—" माउंटबेटन ने उन्हें थोड़ा आश्वस्त करने का प्रयास किया।

"यदि आप निर्णय कर लें, तो लोगों से इसे मनवा लेने के लिए मैं देश के हर कोने में घूम जाऊंगा—" यह कहते हुए गांधी जी उठ गए।

चार दिनों बाद जब जिन्ना साहब मिलने आए, तो बहस शुरू करने से पहले उन्होंने अपनी एक शर्त रखनी चाही। बीच में ही टोकते हुए माउंटबेटन ने कहा, "मि० जिन्ना ! मैं बहस की शर्तों या मौजूदा हालात की कोई भी चर्चा तब तक करना नहीं चाहता, जब तक मेरी आप से जान-पहचान न हो जाए और मैं स्वयं आपके बारे में बहुत-कुछ न जान लूं।" जिन्ना के चले जाने के बाद, वाइसराय ने अपने प्रेस-अॅटैशे कैम्पबेल जॉनसन से कहा था, "हे भगवान ! कितना ठंडा था वह आदमी। मेरा अधिकांश समय तो उसे पिघलाने में ही निकल गया।"

लेकिन दलील में जिन्ना को मात पर मात देते रहे माउंटबेटन। बिल्कुल 'मियां की जूती, मियां के सर' वाला हाल था। जिन्ना साहब ने कहना शुरू किया कि हिंदुस्तान कभी एक राष्ट्र नहीं रहा, यहां अलग-अलग संस्कृति रही। हिंदुस्तान के मुसलमान एक अलग कौम हैं, उनकी सभ्यता और संस्कृति भिन्न हैं। जबान, साहित्य, कानून, रस्मो-रिवाज, तौर-तरीके, कैलेण्डर, इतिहास—सभी कुछ तो अलग हैं भारतीय मुसलमानों के। हां, केवल एक ही अर्थ में भारत के हिंदू और मुसलमान एक जैसे हैं, और वह है, अंग्रेजों की गुलामी। बाकी और

कहीं कोई मेल नहीं । **देश के मुसलमान अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यक हिंदुओं की हुकूमत एक गैरवाजिब बात होगी, इसलिए देश का बंटवारा लाजिमी है :**

"तब तो पंजाब और बंगाल को बांटना भी अत्यंत आवश्यक होगा, क्योंकि उन दोनों सूबों के अल्पसंख्यक हिंदुओं पर बहुसंख्यक मुसलमानों की हुकूमत भी गैरवाजिब बात हो जाएगी—" माउंटबेटन ने पासा फेंका । (पंजाब और बंगाल में मुसलमानों का बहुमत था इसलिए, जिन्ना साहब संपूर्ण पंजाब और बंगाल पाकिस्तान के हिस्से में मांग रहे थे ।)

"नहीं, यदि पंजाब और बंगाल के टुकड़े किये गये, तब तो आर्थिक दृष्टि से पाकिस्तान बहुत कमजोर रहेगा । ऐसा दीमक खाया पाकिस्तान किस काम का ?"—जिन्ना साहब ने संभलने की कोशिश करते हुए कहा ।

"ठीक तो है, ऐसी हालत में आप पाकिस्तान लीजिए ही क्यों ?"—माउंट-बेटन ने मोहरा बढ़ाया ।

जिन्ना साहब चौंक पड़े । बात बिगड़ती दिखाई दी । झट बोले, "योर एक्से-लेंसी ! आप इसे समझते क्यों नहीं कि हिंदू या मुसलमान होने से पहले, पंजाब का आदमी एक पंजाबी और बंगाल का आदमी एक बंगाली होता है । उनकी संस्कृति, उनकी जबान, उनका इतिहास और उनकी अर्थव्यवस्था, सब कुछ तो एक ही होती है । आप उन सूबों को न बांटें । नाहक खून-खराबा होगा ।"

जिन्ना साहब जब तक संभलें-संभलें, माउंटबेटन ने उन्हें मात दे दी : "यही तो मैं भी कहना चाहता हूं, मि० जिन्ना ! और इतना ही नहीं कि हिंदू या मुसलमान होने से पहले लोग पंजाबी या बंगाली हैं, बल्कि सबसे पहले वे हिंदु-स्तानी हैं । भारतीय एकता के पक्ष में आपने स्वयं ही एक अकाट्य तर्क प्रस्तुत कर दिया है ।"

लेकिन देश आखिर बंट ही गया । विभाजन न माउंटबेटन रोक पाए, और न गांधी । किसको जिम्मेदार ठहराया जाए—अंग्रेजों को, लीग को, कांग्रेस को या परिस्थिति को ? शायद परिस्थिति को ही । परिस्थिति—जिसमें थोड़ा या बहुत, सबों का योगदान था । सहायक परिस्थिति उत्पन्न कर देना एक राजनैतिक कौशल है । कुछ करना चाहते हैं, तो परिस्थिति पैदा करिए । अपने अदृश्य बाहुओं से घटनाचक्र को ऐसा घुमाइए कि वांछित फल, परिस्थिति का अनिवार्य परिणाम बन जाए । आप सर्वथा दोषमुक्त रहेंगे; लोग परिस्थिति को ही कोसेंगे । अस-लियत तो बहुत बाद में ही खुल पाएगी ।

माउंटबेटन जब अपना पदभार ग्रहण करने दिल्ली पहुंचे तो गांधी जी पटना

में थे। भेंट करने के लिए भावी वाइसराय का तार उन्हें मिला। जवाब उन्होंने फौरन लिखवा दिया। लेकिन मन्टो दा (बिहार के ख्यातिनामा पत्रकार, श्री एस० के० घोष) मुझे बता रहे थे कि गांधी जी ने अपने सचिव को आदेश दिया कि उस जवाब को दो-एक रोज बाद ही भेजा जाए। गांधी जी शायद माउंटबेटन पर यह प्रकट करना चाहते थे कि भेंट के लिए वे बहुत लालायित नहीं हैं। वे 31 मार्च की सुबह दिल्ली पहुंचे। उस दिन सोमवार था। गांधी का मौन दिवस। लेकिन कह नहीं सकता कि उस दिन उनका मौन कैसे मुखरित हुआ। गांधी जी वाइसराय से मिले और सवा दो घंटे तक बातचीत की—अपराह्न के तीन से सवा पांच बजे तक। वाइसराय के अध्ययन-कक्ष में प्रवेश करते समय वे थोड़ा उदास भी थे। रेल-यात्रा में किसी ने उनकी घड़ी चुरा ली थी। लेकिन, वाइसराय से जब उन्होंने विदा ली, तब उनके चेहरे पर संतोष और प्रसन्नता की स्पष्ट झलक थी। पता नहीं, क्या मिल गया था उन्हें।

उस दिन सबेरे जब मौलाना आजाद उनसे मिले थे, तो गांधी जी ने छूटते ही कहा था कि, उन्हें लगता है बंटवारे के खतरे के सामने वल्लभ भाई और जवाहर लाल ने भी आत्मसमर्पण कर दिया है। उन्होंने मौलाना साहब से यह भी पूछा था, "आप क्या करेंगे? मेरा साथ देंगे या आप भी बदल गए?" मौलाना ने कहा कि बंटवारे के खिलाफ तो वे बराबर ही रहे हैं, और अब तो पहले से भी ज्यादा हैं। लेकिन, जब जवाहरलाल और सरदार पटेल ने हथियार डाल दिए हैं, तो मुल्क को बचा लेने की ताकत बस गांधी जी में ही है। वे डटकर खड़े हो जाएं, तो बिगड़ी अब भी बनाई जा सकती है। उस समय गांधी जी इतने दृढ़प्रतिज्ञ दीखे कि उन्होंने मौलाना साहब से कहा, "···कांग्रेस अगर बंटवारा स्वीकार करना चाहती है, तो यह मेरी लाश पर ही होगा। मैं जब तक जीवित हूं, भारत का बंटवारा कभी नहीं मानूंगा; और मुझसे बन पड़ा तो, कांग्रेस को भी इसे स्वीकार करने नहीं दूंगा···" उसी दिन शाम को गांधी जी से सरदार पटेल की दो घंटे तक एकांत वार्ता हुई। क्या बातें हुईं, सो नहीं मालूम। लेकिन, मौलाना जब गांधी जी से दुबारा मिले, तो उनका मनोभाव इतना ठंडा पाया कि मौलाना साहब का दिल बैठ गया। विभाजन के पक्ष में सरदार के तर्कों की पुनरुक्ति गांधी से सुनकर मौलाना चकित थे।

अवश्यंभाविता को अपने प्रज्ञानेत्रों से देख तो लिया ही था गांधी ने। परंतु —जब तक सांस, तब तक आस। विभाजन के विरुद्ध अपना प्रयास उन्होंने नहीं छोड़ा। उन दिनों कई जनसभाओं में उन्होंने कहा कि भले ही सारा देश धू-धू कर जल उठे, परंतु भारत की एक इंच भी भूमि पाकिस्तान बनाने के लिए नहीं दी जाएगी। लेकिन उनका कुछ चल नहीं पाया। देश जला भी, देश बंटा भी।

असल में गांधी स्वयं ही एक षड्यंत्र के शिकार हुए। एक ऐसा षड्यंत्र

जिसमें उनके अपने लोगों का भी हाथ था। एक नितांत अहिंसक षड्यंत्र, गांधी के सविनय-अवज्ञा से बिल्कुल मेल खाता हुआ। 11 अप्रैल को वाइसराय को जो पत्र उन्होंने भेजा था, उसी से स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। लिखा था :

"···मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि बादशाह खां के अलावा दूसरे किसी को भी अपने साथ ले चलने में मैं विफल रहा···अब आप भी मुझे इन सारी बातों से अलग ही रखिए···सी० एफ० एण्ड्रयूज की भांति मैं भी अब अपने अतिरिक्त अन्य किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करता···"

अगले दिन वे पटना रवाना हो गए। षड्यंत्र की इससे शानदार सफलता और हो ही क्या सकती थी कि माउंटबेटन-योजना के अंतर्गत विभाजन-वार्ता की निर्णायक घड़ियों में गांधी जी सारी बातों से विरक्त और विलग ही रहे।

जून की दो तारीख को भी सोमवार ही था। उस दिन वाइसराय के अध्ययन-कक्ष में प्रवेश करते हुए अपने बंद होठों पर उंगली रखकर गांधी जी ने इंगित किया कि आज उनका मौन-दिवस है। माउंटबेटन ने चैन की एक गहरी सांस ली। सामने की मेज पर पड़े एक पुराने लिफाफे का टुकड़ा फाड़कर गांधी जी ने लिखा :

"मुझे दुःख है कि मैं बोल नहीं सकता···मैं जानता हूं, आप भी नहीं चाहते कि मैं अपना मौन भंग करूं···एक-दो बातें हैं जिनकी चर्चा मैं जरूर करना चाहता हूं, लेकिन आज नहीं। अगर हम फिर कभी मिले तो मैं कहूंगा···"

अगले दिन शाम को, देश और दुनिया के लोगों ने रेडियो पर सुना, जवाहर-लाल, जिन्ना, सरदार बलदेव सिंह और अन्य भारतीय नेता माउंटबेटन की विभाजन-योजना को दी गई अपनी-अपनी स्वीकृति की घोषणा कर रहे थे। अपने महान नेता को छोड़, कारवां आगे बढ़ गया। गांधी खामोश हो, गर्द और गुबार देखते रहे।

उनके बोझिल मन को सहलाते हुए माउंटबेटन ने कहा कि वे स्वयं ही भारत की अखंडता के प्रति गांधी जी के अनुराग का सम्मान करते रहे हैं। उस अखंडता के भंग होने से गांधी जी को कितना असह्य दुःख होता होगा, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। जिस सर्वस्वीकृत-योजना के अंतर्गत विभाजन और स्वराज होने जा रहा था, उसे समाचार पत्रों ने 'माउंटबेटन-प्लॉन' की संज्ञा दी है। लेकिन असल में तो उसे 'गांधी-प्लॉन' कहना ही उपयुक्त होगा क्योंकि, उसके सारे तत्त्व वे ही हैं जिन पर गांधी जी स्वयं ही अत्यधिक बल देते रहे हैं। उन्होंने अंग्रेजों से मांग की थी कि, जितना जल्द संभव हो, वे भारत छोड़ दें। 'डोमिनि-यन-स्टेट्स' का प्रावधान कर वह मांग पूरी की जा रही है। गांधी जी चाहते थे कि भारत के भविष्य का निर्माण स्वयं भारतीय ही करें, तो प्लॉन में भी इसकी व्यवस्था कर दी गई है कि जनता द्वारा निर्वाचित प्रत्येक प्रांतीय विधान सभा

स्वयं यह निश्चय करे कि उसका प्रदेश भारत में ही रहेगा या पाकिस्तान के संग मिलेगा। "···यदि ऐसा चमत्कार हो जाए कि सभी विधान सभा अखंडता के पक्ष में ही निर्णय ले लें, तब तो आप जो चाहते हैं, वह पा ही लेंगे। किंतु यदि वे राजी नहीं होते, तो मुझे विश्वास है कि आप कदापि नहीं चाहेंगे कि हथियार के बूते पर हम उनके फैसले को ठुकरा दें···"

माउंटबेटन के इस तर्क का गांधी जी के पास क्या जवाब हो सकता था ? वे उठे, और कुछ देर बाद संध्या की प्रार्थना सभा में एकत्रित लोगों से बोले कि जो कुछ भी हुआ, उसके लिए वाइसराय को दोष देना व्यर्थ है। हम भारतवासी अपने आप को देखें और स्वयं अपने ही मन को टटोलें। उत्तर मिल जाएगा।

किंतु तीस वर्षों के बाद आज भी उत्तर ठीक-ठीक कहां मिल पा रहा है ! गांधी ने डटकर विरोध किया होता, तो मजाल थी, लोग विभाजन को स्वीकार कर लेते ! गांधी की आंधी के सामने टिक ही कौन पाता ? किंतु निर्णय की उस नाजुक घड़ी में वे चुप रहे। उस दिन उनका मौन दिवस था —सोमवार, जून की 2 तारीख। जब ऐसा ही था, तो वे एक दिन पहले या बाद में मिले होते ! मुझे हैरत तो तब हुई, जब पुराने जंतरी-पतरों से मैंने यह ढूंढ़ निकाला कि 1947 का 31 मार्च भी सोमवार ही था जिस दिन गांधी जी पहले-पहल माउंटबेटन से मिले थे। उस दिन तो पूरे एक सौ पैंतीस मिनट तक उन्होंने बात की थी। सो भी, सामयिक प्रसंगों पर कोई ठोस वार्ता नहीं, मात्र अतीत की स्मृतियां ! काम की बात तो अगले दिन, पहली अप्रैल की भेंट में जाकर हुई। सिर्फ पंद्रह मिनट ! इसे विडम्बना ही कहिए कि ईसाई रिवाज के मुताबिक पहली अप्रैल 'फूल्स-डे' (मूर्ख-दिवस) हुआ करता है।

स्वयं माउंटबेटन की अपनी नीयत क्या थी ? शानदार ब्रिटिश परंपरा के अनुसार, भारत की एकता और संपूर्णता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए क्या वास्तव में वे स्वयं भी आतुर थे ? अथवा, अखंडता के पक्ष में उन्होंने जो कुछ भी कहा, वह मात्र एक दिखावा था ? एक कुशल अभिनय ? 'फ्रीडम ऐट मिडनाइट' के लेखकों ने उनकी परेशानियों की चर्चा करते हुए लिखा है, "यदि जिन्ना वह व्यक्ति थे जिन्होंने भारत को एकजुट रखने की उनकी उम्मीद बर्बाद कर डाली थी, तो गांधी वह व्यक्ति थे जो विभाजन की उनकी सारी आशा पर ही पानी फेर दे सकते थे।" मान लीजिए यह बात सही थी और माउंटबेटन भी सच्चे हृदय से भारत की एकता के ही पक्ष में थे, तो उन्हें गांधी का ही हाथ मजबूत करना चाहिए था न ? गांधी और माउंटबेटन के सम्मिलित प्रहार से विभाजन की सारी योजना चरमरा कर चूर-चूर न हो जाती ? लेकिन, उन्होंने जो किया, सो भी मालूम है। इतिहास की निर्णायक घड़ियों में अपने अदृश्य बाहुओं से गांधी को विरक्त और विलग कर देने का जो चमत्कार माउंटबेटन ने दिखाया, उस

कौशल का उपयोग उन्होंने यदि जिन्ना को निरुत्साह और निष्प्रभावी बनाने में किया होता, तो विशाल भारत का वह नक्शा सुरक्षित रह जाता जिसे बनाने का सर्वाधिक श्रेय ब्रिटिश जाति को ही था। देश विभाजन से बच जाता। और नहीं तो विभाजन कुछ दिनों के लिए टल तो अवश्य ही जाता; और अगर टल जाता, तो फिर बच भी जाता। जिन्ना साहब तो अगले साल गुजर ही गए। पिछले कुछ वर्षों से वे कैंसर के असाध्य रोग से पीड़ित थे। उनकी मौत के बाद वह रोग विरासत में मुस्लिम लीग को ही तो मिलता। पाकिस्तान ले लेने की ताकत तब लीग में बच भी जाती क्या? पाकिस्तान तो मात्र जिन्ना साहब के दिमाग का एक फितूर था। उनकी मौत के बाद उस फितूर को भी दम तोड़ते कितनी देर लगती? गौर कीजिए, पाकिस्तान स्थापित होने के कुछ ही वर्षों के अंदर क्या हाल हो गया मुस्लिम लीग का स्वयं पाकिस्तान में? जिस मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान बनवाया, उस पाकिस्तान ने मुस्लिम लीग को ही समाप्त कर दिया। कांग्रेस तो भारत में स्वाधीनता के पैंतीस वर्षों बाद भी शान से चल रही है, और आगे भी चलती रहेगी। माउंटबेटन इस दोष से मुक्त कैसे हो सकते हैं कि जल्दबाजी उन्होंने ही कर दी। ब्रिटिश प्रधानमंत्री ऐटली की इच्छा और घोषणा तो जून 1948 तक सत्ता हस्तांतरण करने की थी।

भारत को संयुक्त रखने के अपने प्रयास में माउंटबेटन अपेक्षाकृत अधिक चिंतित इस बात के लिए रहे कि विफलता की स्थिति में विभाजन का सारा दोष भारतीयों के मत्थे ही जाए। 15 अप्रैल को गवर्नरों के सम्मेलन में वाइसराय माउंटबेटन ने कहा था कि भारत को संयुक्त रख सकने की अपनी आशा का परित्याग वे सहज ही नहीं कर सकते। फिर भी यदि विभाजन स्वीकार करना ही पड़ा, तो समस्त संसार को यह अवश्य ज्ञात हो जाना चाहिए कि यह दुर्भाग्य, ब्रिटिश निर्णय के फलस्वरूप नहीं, अपितु स्वयं भारतीय जनमत के ही कारण घटित हुआ। दो सप्ताह बाद ऐटली सरकार को जब उन्होंने अपनी पांचवीं गुप्त रिपोर्ट भेजी, तो उसमें लिखा :

"....बंटवारा मात्र एक पागलपन है। यदि सबके सब लोग इस विचित्र सांप्रदायिक सनक से ग्रस्त न हो चुके होते, और कोई भी दूसरा रास्ता खुला रह जाता, तो बंटवारे के लिए मैं कतई तैयार नहीं होता। दुनिया की नजरों में पागलपन से भरे इस फैसले की पूरी जवाबदेही भारतीयों के सिर पर ही जानी चाहिए...."

संभव है, माउंटबेटन की बाबत जो बात गांधी जी ने कही, सो ही ठीक हो। सब कुछ जान-समझकर ही तो उन्होंने कहा होगा कि वाइसराय को दोष देना व्यर्थ है। देश में उन दिनों जो भयंकर खून-खराबा हो रहा था, जो अराजकता फैली हुई थी, उसमें अंग्रेजों के सामने दो ही रास्ते तो थे—० वे भारतीयों को उनके भाग्य पर छोड़कर जल्द से जल्द चले जाएं; अथवा स्थिति पर काबू पाने के लिए बल

का प्रयोग करें और राज चलाएं। यदि बल प्रयोग करते तो उसकी प्रतिक्रिया ? आंदोलन, विस्फोट, लेबर सरकार पर भी साम्राज्यवादी लिप्सा का संदेह और आरोप; विश्वव्यापी निंदा। अपनी क्षीण शक्ति और साधन का अपव्यय अंग्रेज भारतीय स्थिति को संभालने में व्यर्थ क्यों करते ? उनके समक्ष तो स्वयं ही एक अति विकराल समस्या उपस्थित थी—युद्ध-ध्वस्त ब्रिटेन का पुनर्निर्माण। वाइसराय ने वही किया जो करना उनके लिए आसान था। ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में भारतीय मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था मुस्लिम लीग ही थी। किंतु सच्चाई यह थी कि लीग का अर्थ और कुछ भी नहीं, बस जिन्ना साहब। लीग ! जिन्ना साहब की एक पॉकेट-एडिशन जमात। जब चाहें कुछ पन्ने उलट-पलट कर देख लें, और जब चाहें उसे पॉकेट में डाल दें। इसलिए जिन्ना साहब की अवहेलना कर देना वाइसराय के लिए आसान नहीं था। आसान था गांधी को ही अलग-थलग कर देना क्योंकि, बहुसंख्यक भारतवासियों की प्रतिनिधि संस्था कांग्रेस थी और कांग्रेस का अर्थ तब तक हो चुका था—गांधी भी, नेहरू भी और पटेल भी। नेहरू और पटेल सत्ता की अंगुली पकड़ चुके थे और अब वे उसकी कलाई जकड़ने को आतुर थे। माउंटबेटन भी उन्हें कलाई पकड़ा देने के लिए तत्पर थे ही।

उन दिनों गांधी के प्रति कांग्रेस के प्रभावशाली नेताओं के व्यवहार का हाल सुनाते हुए 'फ्रीडम ऐट मिड्नाइट्' के लेखकों से माउंटबेटन ने कहा : "एक तरह से गांधी के विरुद्ध वे सब मेरे पीछे हो लिए। गांधी को चुनौती देने के लिए, एक अर्थ में, वे लोग मुझे प्रोत्साहित कर रहे थे···।" फिर तो गांधी से छुटकारा पा लेना कितना आसान हो गया होगा। और गांधी ? वे करते भी क्या ! उम्र कहां थी अब, स्वास्थ्य कहां रहा था वैसा गांधी का कि वे सबकी चुनौती स्वीकार कर लेते ? विद्रोह में अकेले ही उठ खड़े होते ? सत्ता स्वयं तो उन्हें संभालनी थी नहीं। राज तो चलाना था नेहरू, पटेल और उनके अन्य संगी-सहयोगियों को। जब वे लोग ही बंटवारा स्वीकार कर लीग के साथ रोज-रोज की चख-चख और सिरदर्द से सदा के लिए छुटकारा पा लेना चाहते थे तो, गांधी के लिए उपाय ही क्या था ? संग्राम या सत्ता, किसी के भी संचालन के लिए सुयोग्य नेताओं की एक टोली चाहिए। ऐसा चाक कहां होता है कि जब चाहो घुमाओ और मनचाहा नया नेता गढ़ लो ? बेबसी थी गांधी की।

अतीत की स्मृतियों की छांव में बैठे कई वर्षों बाद एक दिन नेहरू ने माइकेल ब्रेचर से कहा : "···बस, यही समझिए कि घटनाओं की बाध्यता थी; एक भाव यह भी था कि अब तक जिन रास्तों से हम चले, उधर से चलकर गतिरोध या दलदल से हम उबर नहीं सकते। हालत दिन-ब-दिन बिगड़ती ही जा रही थी। यह ख्याल भी कि मान लो ! वैसी पृष्ठभूमि में भारत को आजादी हमें मिल भी गयी तो वह एक अत्यंत निर्बल भारत होगा···यह बात भी कि निकट भविष्य में

स्वराज्य पाने का दूसरा रास्ता हमें दीख भी नहीं रहा था। इसलिए हमने यह सोचकर उसे स्वीकार किया कि चलो, एक मजबूत-सा भारत बनाएंगे। अब अगर और लोग उसमें रहना नहीं चाहते, तो उन्हें साथ रहने को हम कैसे और क्यों मजबूर करें ?" लेकिन, कोई चार वर्षों बाद ल्योनार्ड मोसले के साथ फिर जब वही चर्चा छिड़ी तो पंडित जी सच्चाई के और निकट गए और तब उन्होंने कहा : "सच तो यह है कि हम थके हुए लोग थे और हमारी उम्र भी बढ़ती जा रही थी। फिर से जेल जाने को हममें से कुछ ही लोग तैयार होते···विभाजन की योजना ने एक रास्ता खोला और हम उधर ही बढ़ चले···"

जिन्ना साहब अलबत्ता पूरे सफल रहे। अन्य बातों के अतिरिक्त उनकी सबसे बड़ी सफलता यह थी कि पाकिस्तान के बारे में सारी मुस्लिम जनता को अंत तक उन्होंने भ्रम में रखा। पाकिस्तान तो कोई सुनिश्चित योजना थी नहीं, मात्र एक नारा था। पाकिस्तान कहां बने, कैसे बने—क्या भारत के नक्शे में उत्तर से दक्षिण या पूरब से पश्चिम एक विभाजक रेखा खींचकर उसकी एक तरफ हिंदुस्तान और दूसरी तरफ पाकिस्तान कायम कर दिया जाए ? या फिर, मुल्क के हर एक सूबे का बंटवारा हो और हर सूबे में हिंदुस्तान और पाकिस्तान रहे ? या सिर्फ इतना ही कि जिन सूबों में मुस्लिम बहुमत हो, वह पाकिस्तान और जहां हिंदू बहुमत हो, वह हिंदुस्तान ? ये ऐसे टेढ़े सवाल थे जिनकी गहराई में जिन्ना साहब जान-बूझ कर नहीं गए। जाते तो पाकिस्तान बन ही नहीं पाता।

मुझे अब भी याद है, शायद 1945 का ही दिसंबर था। मैं सातवीं कक्षा की अपनी परीक्षा समाप्त कर मुजफ्फरपुर से पटना आया था। राजेन्द्र बाबू के बारे में पढ़ा-सुना ही था, कभी देखा नहीं था उन्हें। तबीयत हुई चलकर देखें, कैसे हैं बिहार के गांधी। तीसरे पहर साइकिल उठाई और सदाकत आश्रम जा पहुंचा। बाहर चटाई पर बैठे राजेन्द्र बाबू चर्खा कात रहे थे। कुछ देर बातचीत करने के बाद मैंने उनसे पूछा, "पाकिस्तान का ह, बाबूजी ?" मेरी अपरिपक्व बुद्धि को बोधगम्य हो सके, संभवत: मुख्य रूप से उसी का ध्यान रखते हुए उन्होंने समझाया, " 'पाक' समझे ल ? पाक के माने होखेला, पवित्र। मुसलमान लोग अपना के पवित्र समझे ला। ए लेल अपना रहे खातिर जे पवित्र स्थान उ लोग बनावे के चाहइता, ओकरे नाम होई पाकिस्तान। पवित्र स्थान; पवित्र देश।"

यहां के मुसलमानों को यह धोखा हो गया कि बंटवारे के बाद वे सब के सब अपनी पवित्र भूमि, पाकिस्तान चले जाएंगे और हिंदुस्तान में केवल काफिर हिंदू ही बसेंगे। उनसे यह भूल नहीं हुई होती, तो उन दिनों जिन्ना साहब के नेतृत्व में भारत के मुसलमान, पाकिस्तान बनाने के लिए हर्गिज जेहाद न छेड़ते। कम से कम बंगाल, पंजाब, सिंध, सीमांत प्रदेश के अतिरिक्त शेष सूबों के मुसलमान निश्चय ही उनका साथ न देते। क्योंकि पाकिस्तान बन जाने के बाद भी शेष

सूबों के मुसलमानों को हिंदुस्तान में ही रहना पड़ गया, हिंदुओं के साथ ही। सैकड़ों साल से वे रहते ही तो आए थे। प्रेम-मुहब्बत, हेल-मेल के साथ। सुख-दुख, जीवन-मरण, पर्व-त्यौहार, सभी में संग निबहता ही आया था। मैं स्वयं भी एक चश्मदीद गवाह हूं। बचपन में अपने ननिहाल दरभंगा में मुहर्रम के दिनों में हिंदुओं को भी ताज़िया निकालते और अली-अली कर बांदा भांजते देखा था। अपने नाना के साथ दीघी-दरगाह पर चादर और सिरनी चढ़ाने कई बार गया हूं। ऐसा बहुत कुछ चला करता था उन दिनों। और थोड़ी-बहुत जो फूट थी या लड़ाई-झगड़ा था, वह क्या स्वयं हिंदू-हिंदू के बीच या मुसलमान-मुसलमान के बीच नहीं था या अब भी नहीं है? देश के बंट जाने से क्या वे झगड़े समाप्त हो गए? क्या बंटवारे और आजादी के असल मकसद पूरे हो गए?

आज भी जब लार्ड माउंटबेटन की तस्वीर देखता हूं, तो लगता है जैसे उनके होंठ हिल रहे हों और उनसे आवाज आ रही हो, वही बात जो 8 अगस्त 1947 के अपने रेडियो भाषण में उन्होंने कही थी:

"...अनुभव हमें बताता है कि जंग जीत लेना तो आसान है, किंतु जंग के मकसदों को हासिल करना एक मुश्किल बात है..."

तीन

खिश्ते अव्वल चूं ने हद मे मार कज
ता सुरइया मिरवद दीवार कज

अर्थ है—नींव की पहली ईंट अगर टेढ़ी लग जाए, तो दीवार को चाहे आसमान तक उठा दीजिए, वह टेढ़ी ही रह जाएगी।

सोचता हूं, हमारी आजादी के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ। कुछ प्रारंभिक भूलें हुईं जिनके दुष्परिणाम कालक्रम में फलित और विकसित होते चले गए। महंगाई, बेरोजगारी, गरीबी, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, राजनैतिक दुष्चरित्रता, विद्यालय-परिसर-उप्पलव, युवा-उच्छृंखलता, भंग-विधि-व्यवस्था, सांप्रदायिक दंगे, जात-पात, भाई-भतीजावाद, भाषा, उत्तर-दक्षिण का सवाल, क्षेत्रीय और आंचलिक विवाद, चातुर्दिक तनाव और बिखराव की स्थिति, अवसरवादिता की रीति और आक्रोश की मुद्रा—इन सारी रेखाओं और रंगों से युक्त हमारा जो चित्र उभरा है, उसे देखकर दिल बैठ जाता है। स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में हमारा जो कद था, उससे आज हम काफी छोटे दीखते हैं।

सोचिए तो, क्या इतना ही काफी था कि हमें आजादी मिल गई? क्या स्वराज्य का प्रयोजन यह था कि अंग्रेजों की दासता से मुक्त होकर हम अपने ही चारित्रिक दुर्गुणों की दासता में ग्रस्त हो जाएं? स्वतंत्र नागरिक की हैसियत से स्वराज्य का सर्वाधिक उपयोग अपने हेय स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही तो हम अब तक करते रहे हैं न? एक माने में हमने स्वतंत्रता-प्राप्ति के कुछ ही दिनों बाद उसे खो भी दिया। यह नहीं कि हम फिर सचमुच पराधीन हो गए। मेरा अभिप्राय यह है कि स्वाधीनता का सदुपयोग करने और उसे सुरक्षित रखने के लिए अनिवार्य निष्ठा और कर्त्तव्यबोध जाग्रत करने का स्वर्ण अवसर हमने गंवा दिया। निष्ठा और कर्त्तव्यबोध के अभाव में स्वतंत्रता का सदुपयोग भला हम कर ही

कैसे पाते ? और जब सदुपयोग नहीं कर पाए, तो उसका दुरुपयोग होना ही था। अब यह भी सच है कि जो भी देश अपनी आजादी का दुरुपयोग करता है, उसकी आजादी पहले खतरे से घिरती है, फिर समाप्त हो जाती है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रारंभिक कुछ वर्ष मनोवैज्ञानिक रूप में हमारे राष्ट्रीय जीवन के सर्वाधिक उर्वर काल थे। जिन सद्गुणों और सद्वृत्तियों के बीज उन दिनों बो दिए जाते, उन्हीं की खेती आज लहलहाती होती। उन दिनों राष्ट्र को जिस सांचे में ढाल दिया जाता, उसी में ढलकर वह आज ठोस बन निकलता।

उन दिनों की एक छोटी-सी बात बताता हूं। स्वतंत्रता का सूरज अभी निकला नहीं था, निकलने वाला था। पौ फट चुकी थी, यही समझिए। मेरे नाना रिटायर हो चुके थे और बड़े मामा के अतिरिक्त दूसरे मामा लोग अभी किसी रास्ते पर लगे नहीं थे। बाप की घूस-रिश्वत की कमाई से मौज-मस्ती में कटती आई थी उन लोगों की। बाप रिटायर हो गए तो क्या, बड़े भाई तो नौकरी में लग ही गए थे। मगर नाना बड़े चिंतित रहा करते थे। उनका ख्याल था कि खद्दरधारियों के आने वाले राज में घूस-रिश्वत तो चल नहीं पाएगी। तब फिर एक आदमी के ठूंठ वेतन से उतने बड़े परिवार की बसर कैसे होगी। इसी चिंता में बहुधा वे अपने लापरवाह बेटों को फटकारते—"अभगले सब ! अब सरकार बहादुर के राज बदले वाला हई। आगे इ सब फुटानी न चल तो—अपन-अपन चेतइत जा न त बिलट जाइत जए ब।" इतना भय समा गया था आम नौकरी-पेशा लोगों में उन दिनों। मगर गांधी टोपी वाले जब गद्दी पर बैठे तो अधीनस्थ कर्मचारियों ने सहमते-सहमते उनकी नब्ज टटोलनी शुरू की और कुछ ही दिनों में उन्हें अपने पर ही हंसी आई कि वे व्यर्थ उतना क्यों डर रहे थे। उन्होंने भांप लिया कि जो सब चलता आया था, सब उसी तरह चलेगा; बल्कि पहले से भी ज्यादा।

आजादी के बाद सरकारी दफ्तरों में गांधी जी की जो तस्वीर टंगी, उसमें एक ऐसी भी तस्वीर थी जिसमें गांधी आशीर्वाद देने की मुद्रा में अपनी तलहत्थी आगे बढ़ाए खड़े थे। जानते हैं ? फ्रेम में जकड़े गांधी जी की तलहत्थी की उन पांच उंगलियों का क्या अर्थ कर्मचारियों ने जनता को समझाना शुरू किया: "उधर देखिए ! गांधी बाबा इशारा कर रहे हैं कि अब से दस्तूरी पांच से कम न देनी है, न लेनी है।"

यह भी एक विडंबना ही है कि लड़कपन में स्वराज्य के बारे में अज्ञानतावश जो धारणा मेरे मन में समाई थी, उसीसे मिलती-जुलती दुर्भाग्यपूर्ण कुधारणा आज जनमानस में बैठी दीखती है। लड़कपन में मेरी छोटी बहन मेरा लिहाज नहीं किया करती थी। बहुधा मुझसे बदतमीजी कर बैठती, मुंह चिढ़ा देती। मैं इतना कुढ़ जाता कि तबीयत होती, कसकर उसकी मरम्मत कर दूं। मगर मेरी कठिनाई

यह थी कि वह पिताजी की लाड़ली थी और जब मैं उसे पकड़ने उठता तो वह भागकर उन्हीं के पास चली जाती। मेरी हिम्मत नहीं कि पिताजी के सामने जाऊं। लहू का घूंट पीकर रह जाता। अकेले में जब मिलती तो मैं उसे धमकाता —'अच्छा ठहर ऽ ठहर ऽ! सोराज मिले दहु। गरदन काट के न फेंक देलिओं, त कहि ह ऽ।' नौ-दस साल की उस कच्ची उम्र में मुझे यह सोचकर बड़ी राहत मिलती कि अंग्रेजी राज समाप्त हो जाने के बाद, जब अपना राज आएगा, तब फिर किसी का कोई डर-भय नहीं रहेगा। पिताजी का भी नहीं। जैसे जो तबीयत होगी, करेंगे। उस नालायक की गरदन काट कर फेंक देंगे जो पिताजी के बल पर मेरे साथ गुस्ताखी कर बैठती है। मुझे फांसी भी नहीं होगी।

अब आज जो चारों तरफ आप दृश्य देखते हैं, उसे क्या कहिएगा? मनमाना-पन नहीं तो और क्या? टिकट नहीं लेंगे, लेकिन यात्रा करेंगे। डब्बे में जगह नहीं तो छत पर बैठेंगे। जहां चाहेंगे जंजीर खींचेंगे, गाड़ी रोकेंगे। बला से, सुपर-फास्ट ट्रेन ही क्यों न हो जो हजारों मील की यात्रा कम से कम समय में तय करने के इरादे से चलाई गई हो। स्लीपर-कोच हो या फर्स्ट क्लास कूपे। दूर-दराज की यात्रा रात में आराम से तय करने के उद्देश्य से भले ही आपने हफ्तों पहले लंबी कतार में घंटों खड़े होकर वर्थ रिज़र्व कराई हो, तो भी क्या अंतर पड़ता है उन मनमौजी नौजवानों के लिए जो टोली बनाकर दरवाजा पीट-पीट कर बल-पूर्वक डब्बे के अन्दर घुस आएंगे। आपको न केवल उन को जगह देनी होगी, बल्कि दो-चार घंटे अपनी नींद हराम कर उनके भद्दे गाने, गंदे मज़ाक़ और आवारा ठहाकों को भी सहन करना होगा। यदि डब्बे में जवान लड़कियां या अधेड़ आयु तक की भी औरतें बैठी हों, तो उनकी बेहूदगी का रंग और गहराता जाएगा। आप तो आप, कंडक्टर या गार्ड या रेलवे पुलिस तक की मजाल नहीं कि उनके साथ सख्ती से पेश आएं। डब्बे चूर कर दिए जाएंगे, स्टेशन जलाकर खाक कर दिया जाएगा। हिंसा पर उतारू भीड़ को नियंत्रित करने के लिए यदि पुलिस ने गोली चला दी, तो फिर तूफान देखने लायक! गली-बाजारों से गुज़रते जुलूस के गर्द-ओ-गुब्बार, नारों की गूंज: "निहत्थों पर जो गोली चलाए, वह सरकार निकम्मी है; जो सरकार निकम्मी है, वह सरकार बलदनी है।" चारों ओर से विरोधी दलों की मांग—"पुलिस अत्याचारों की अदालती जांच हो।"

रोडवेज़ यदि घाटे में चल रहा है तो अपना क्या जाता है! किराया कम दें, बिल्कुल न दें या दे के छीन लें; बोलो मत। जहां हाथ दिखाएं, बस रोको! अंदर जगह नहीं, तो छत पर बैठेंगे या लटक कर चलेंगे। चूं-चपड़ की तो बस के शीशे चूर-चूर; ड्राइवर या कंडक्टर अस्पताल दाखिल। और बात बढ़ी, तो बस डिपो में आगजनी। पुलिस ने दखलंदाजी की, तो ईंट-पत्थर से मुकाबिला होगा। लोग यदि पुलिस की गोली के शिकार हुए, तो फिर वही अविनाशी नारा—"...वो

सरकार बदलनी है···पुलिस जुल्म बंद करो, बंद करो···अदालती जांच करानी होगी···"

आजादी के बाद बिहार में छात्रों पर पुलिस की जो पहली गोली चली, वह बी॰ एन॰ कॉलेज के बरामदे पर पटना साइंस कॉलेज के छात्र दीनानाथ पांडे को लगी थी। लड़का वहीं ढेर हो गया। बरामदे पर टंगे नोटिस बोर्ड में ऐडमिशन के लिए चुने गए लड़कों की लिस्ट में वह अपने भाई का नाम ढूंढ़ रहा था। तभी सामने अशोक राजपथ से गोली उसे आ लगी। एक दिन पहले राज्य ट्रांसपोर्ट के गांधी मैदान स्थित बसडिपो के अंदर बी॰ एन॰ कॉलेज के छात्रों और बस कर्मचारियों के बीच जमकर मार-पीट हुई थी जिसमें दोनों तरफ के लोग चोट खाए थे और कुछ बसें जली थीं। विना किराए के बस पर चढ़ने को लेकर झंझट शुरू हुआ था। कल होकर फिसाद और बढ़ा। सभी कॉलेजों में हड़ताल करने और सम्मिलित रूप से विरोध-जुलूस निकालने का फैसला हुआ। सावधानी के तौर पर पुलिस की टुकड़ियां सड़कों पर गश्त लगाने लगीं। जहां-तहां पुलिस पर पत्थर बरसने शुरू हुए। मैं पटना कॉलेज में बी॰ ए॰ आनर्स का छात्र था। मेरा एक सहपाठी, जो एक बड़े खानदान का लड़का था—पिता चीफ जस्टिस थे, स्वयं परीक्षाओं में प्रथम आया करता था, अत्यंत शीलवान, भद्र, नम्र—वह भी क्रोध में एक पत्थर उठा लाया और पुलिस पर फेंकने को उतारू हो गया। मुझे आज भी अच्छी तरह याद है, जब मैंने उसे रोकते हुए उसके हाथ से पत्थर छीनना चाहा था, तो बड़ी तमतमाहट में उसने मुझसे कहा था, "तुम नहीं जानते यार! ये साले इसी के लायक हैं।" आज वो भाग्यवान एक सीनियर आई॰ ए॰ एस॰ अफसर हैं। 'मौबोक्रैसी वर्सिस ब्यूरोक्रैसी' के बारे में इस बीच उनकी क्या राय बनी है, सो सुनने-समझने को बड़ा जी चाहता है।

कुछ देर बाद जब मैं बी॰ एन॰ कॉलेज के पास पहुंचा, तो दृश्य था : चौकी, बेंच, पैंकिंग बक्से, लकड़ी के कुंदे, डस्टबिन आदि से रोड ब्लाक कर दिया गया था। एक बड़ा-सा पुलिस-वॉन वहां रुका खड़ा था। उसमें बैठे संगीनधारी पुलिस जवानों की हालत यह थी कि अवरोध के कारण उनका वॉन आगे बढ़ नहीं सकता था। टप्पर लगे होने के कारण अगल-बगल से कूदकर वॉन के बाहर कहीं वे भाग नहीं सकते थे, और वॉन का पिछला हिस्सा, जो खुला था, उससे होकर पत्थरों की उन पर भयंकर वर्षा हो रही थी। एक बड़ा-सा पत्थर एक सिपाही के मुंह पर जोरों से जा लगा। वह वॉन में ही लुढ़क गया। अनुमान कीजिए, उनके प्राण कितने संकट में रहे होंगे। मेरी दिक्कत यह थी कि पटना कॉलेज का विद्यार्थी होने के कारण बी॰ एन॰ कॉलेज के छात्रों से मेरी कोई विशेष जान-पहिचान थी नहीं। फिर पत्थर फेंकने वालों में छात्र कम, पास के गली-मुहल्लों के गुंडे-बदमाश ही ज्यादा थे। खादी का पाजामा-कुर्त्ता-बंडी भी मेरे लिए मुसीबत ही थी। उस

पोशाक में छात्र जैसा शायद मैं लगता भी नहीं था। यदि छात्र लगता होता तो उस उत्तेजनापूर्ण वातावरण में वहां उपस्थित छात्र बंधुगण मेरी बात शायद सुन भी लेते। मेरे समझाने-बुझाने की कोशिश का बस इतना ही असर हुआ कि मैं स्वयं लात खा गया। कॉलेज गेट की रेलिंग पर खड़े एक लड़के ने मुझे कोई नेता समझकर मुझ पर लात चला दी। लाठी चार्ज और आंसू गैस के बावजूद जब लोग नहीं भागे और पुलिस पर ईंट-पत्थर बरसाते ही रहे, तो मैं समझ गया, आगे क्या होने वाला है। सो, मैं लपककर प्रिंसिपल की कोठी पर पहुंचा। बाहर ही मैदान में प्रिंसिपल (स्व० डाक्टर दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी) छात्रों और स्टाफ के कुछ लोगों से घिरे घबड़ाए बैठे थे। दमा के मरीज होने के कारण उनका थोड़ा दम भी फूल रहा था। मैं बिल्कुल भूल गया कि वे मेरे दादा हैं (मेरे पितामह के सगे चचेरे भाई)। सब लिहाज छोड़, आवेश में तेज़ आवाज में मैंने उनसे कहा :

"आप यहां बैठे हैं और उधर गोली चलने को है।"

"तो मैं क्या करूं ?"—मेरी गुस्ताखी पर वे कुछ खीज कर बोले।

मैंने कहा—"आप चलकर लड़कों को समझाइए।"

"लड़के समझ जाएंगे ?" उन्होंने मुझसे सवाल किया।

मैंने कहा—"आप कोशिश तो कीजिए।"

"मैं जोर से बोल भी तो नहीं सकता," अपनी असमर्थता पर थोड़ा दुःखी होते हुए उन्होंने कुछ रुक कर कहा।

जैसे ही मैंने कहा कि अच्छा, तो मैं जाकर लाउडस्पीकर का इंतजाम करवाता हूं कि उधर धांए-धांए की आवाज हुई। फायरिंग शुरू थी। कुछ ही देर बाद जब मैं कॉलेज के बरामदे के पास पहुंचा तो देखा, फुलगेंदा भाई (भारतीय योग संस्थान के संचालक डा० फुलगेंदा सिंह, जो उन दिनों हमारे ही कॉलेज के छात्र थे) बरामदे पर पेट के बल सरकते हुए, लहू से लथपथ एक जवान लाश दीवार की ओट की तरफ खींच रहे थे ताकि लाश पुलिस के कब्जे में न चली जाए। यह बात भी नहीं भूल पाता कि दीनानाथ की अंत्येष्टि के लिए चंदे से उगाहे गए कुछ सौ रुपये जिस छात्र के जिम्मे लगाए गए थे, वे बंधु सारे रुपये लेकर चंपत हो गए।

उसके बाद तो राजनीति शुरू हो गई। लाश गिर जाए और राजनीतिक गिद्ध उस पर न मंडराएं, यह कैसे हो सकता है ! मंत्रिमंडल के अंदर महेश बाबू (तत्कालीन उद्योग एवं परिवहन मंत्री) के खिलाफ गुट के लोगों ने भी चुपके-चुपके विरोधी दलों को उकसाया था। मांग शुरू हुई—"सरकार इस्तीफा दे, घटना की न्यायिक जांच कराई जाए, दोषी अधिकारी बर्खास्त किए जाएं।"

स्टूडेन्ट्स ऐक्शन कमिटी ने भी सत्याग्रह करने और 15 अगस्त के स्वतंत्रता-दिवस-समारोह का बहिष्कार करने का फैसला किया (सन् '55 का वह गोलीकांड

अगस्त महीने में ही हुआ था)। मैं इस बात के बिल्कुल विरुद्ध था कि हम छात्र स्वतंत्रता-दिवस-समारोह का बहिष्कार करें और उस रोज़ काला बिल्ला लगाकर निकलें। सरकार की गलती का गुस्सा हम अपनी आजादी पर उतारें, यह मुझे नितांत अनर्गल लगता था। लेकिन ऐक्शन-कमिटी में मेरी बात चली नहीं। मैं उससे हट गया। 15 अगस्त को राष्ट्र-ध्वज फाड़ने की भी एकाध घटना हुई।

कुछ दिनों बाद नेहरू जी पटना आए। उनकी सभाओं में लाखों लोग जुटते ही थे, उस रोज भी जुटे। बोलने उठे तो काफी बड़ी चौहद्दी खींचनी शुरू की। बीस-पच्चीस मिनट तक इधर-उधर की बातें—अपने आसाम दौरे का जिक्र, रूस-भ्रमण का वृत्तांत, चीनी प्रगति की प्रशंसा आदि, आदि। पटना फ़ायरिंग की कोई चर्चा ही नहीं। और लोगबाग उनसे फ़ायरिंग के बारे में सुनने को बेताब। बिहार सरकार ने लड़कों पर गोली चलवाई थी, पंडित जी भी सरेआम बिहार सरकार पर अपनी प्रताड़ना की गोली दागें, तो उनका मन जुड़ा जाए। फायरिंग से दुःखी तो पंडित जी भी थे। परंतु उन्हें ज्यादा गुस्सा राष्ट्रीय झंडे के अपमान का था। सो, बीच-बीच में उठ रहे शोर-गुल को वे अनसुनी कर रहे थे। लेकिन जब बार-बार आवाजें आनी शुरू हुईं, "फायरिंग पर बोलिए···फायरिंग पर बोलिए" तो उनका दबा गुस्सा उबल पड़ा : "···ऐक्शन-कमिटी बनाई है···ये ऐक्शन लेंगे··· झंडा फाड़ेंगे···बड़ी कुर्बानी देकर इस झंडे को हमने लहराया है, इस झंडे की शान रखने में चाहे जितनी भी जानें जाएं, कम हैं। इसे ऊंचा रखने के लिए हम हर कुर्बानी देने को तैयार हैं···।" कहीं से आवाज आई, "गोलीकांड के दोषी अफसरों को सजा दीजिए," तो वे तुनकते हुए बोले—"हां, ठीक है। सारे मामले की जांच कराई जाएगी, अगर अफसर दोषी निकले तो उन्हें सज़ा मिलेगी"··· इस घोषणा का तालियों की गड़गड़ाहट से जब लोगों ने स्वागत किया तो पंडित जी ने झट जोड़ दिया, "···और अगर लड़के दोषी पाए गए तो उन्हें भी सजा मिलेगी···" और कटाक्ष करते हुए लोगों से कहा : "अब बजाइए ताली··· अब ताली बजाइए···अब क्यूं नहीं बजाते ?" किंतु ताली नहीं बजी। थोड़ी देर बाद जब पंडित जी जरा नरम पड़े तो उनकी आवाज में भविष्य की दुश्चिंता भर गई : "···मेरा क्या ! मेरी जिंदगी की तो शाम होने को आई और सूरज ढलने वाला है···फिर देश तो आपको चलाना है। कैसे चलाएंगे आप देश को ? कैसे महफूज रखेंगे अपनी आजादी को···?"

लेकिन पंडित जी के वे प्रश्न आज तक अनुत्तरित ही रह गए। तब से आज तक न जाने कितनी बार गोलियां चलीं और दीनानाथ की तरह नाहक शहादत पाने वालों का सिलसिला फिर भी बंद नहीं हुआ। जिन लोगों ने ये नारे लगवाए— "···लाठी गोली की सरकार नहीं चलेगी, नहीं चलेगी···" वे जब स्वयं सत्ताधारी बने, तो उन्होंने भी गोलियां चलवाईं। साम्यवादी, संविद, जनता—सभी

सरकारों में गोलियां चलीं। पता नहीं, यह कैसा जादू है कि प्रतिपक्षी चश्मे से देखने पर भीड़ निहत्थी तथा शांतिपूर्ण मालूम होती है और सत्ता का चश्मा लगा लेने पर वही भीड़ हिंसक दीखने लग जाती है। और यह भी एक सर्वविदित तथ्य है कि गोलीकांड की जांच के लिए अब तक जितने भी आयोग गठित हुए हैं, प्रायः सभी ने अपनी-अपनी रिपोर्ट में फायरिंग को उचित बताया है। हां, फायरिंग में अक्सर 'एक्सेसेस' (अतिरेक) भी हुए हैं, यह रिपोर्ट भी आई है। लेकिन तटस्थ भाव से किसी बीती घटना पर राय देना एक बात है तथा उस घटना से झुलसना-जूझना, बिल्कुल ही दूसरी। विध्वंसक उपद्रवों से निबटते वक्त सबसे बड़ा सवाल तो यह होता है कि उपद्रव को जल्द-से-जल्द कैसे रोका जाय। दिक्कत यह भी है कि पुलिस की आंखों में कोई 'एक्स-रे प्लांट' तो लगा होता नहीं कि घटना-स्थल पर इकट्ठे लोगों के सीने के अंदर पैठ कर वह झांक लें कि उनमें किसके दिल में तमाशा भर देखने का शौक है और किसके दिल में दंगा करने का इरादा। और न तो अब तक किसी ऐसी चलनी की ही ईजाद हुई है जो एकत्रित भीड़ में से बेकसूर तमाशबीनों को जल्दी-जल्दी छांट कर अलग कर ले और बाकी खुराफातियों को गिरा दे। उत्तेजक और विध्वंसात्मक स्थिति को शीघ्रातिशीघ्र नियंत्रित करने के प्रयास में अतिरेक से बचना सामान्यतया संभव नहीं। वैसे में, जौ के साथ घुन पिस ही जाएंगे। लेकिन हर फायरिंग के बाद पुलिस के खिलाफ जन-आक्रोश की एक प्रचंड लू चलेगी। उसमें निकलने-झुलसने का किसी में साहस नहीं। कोई दल या नेता तथ्य को सच्चाई के साथ नहीं बताएगा। और इसका प्रमुख कारण, राजनीतिज्ञों का अपना-अपना स्वार्थ—वोट बटोर लेने का लोभ और उसे खो देने का भय। अब तक बस एक बार और एक ही आदमी ने हिम्मत की थी, और वह थे बिहार के तत्कालीन मुख्य मंत्री (स्व०) कृष्णबल्लभ सहाय :

उस बार भी झगड़ा बस डिपो से ही शुरू हुआ था। तोड़-फोड़, लूट-मार के बाद लोगों ने गांधी मैदान के पास वाले खादी-भवन में आग लगा दी। गोली चली। कुछ ही दिनों बाद आम चुनाव आया। कृष्णबल्लभ बाबू पटना से खड़े हुए। साहित्य-सम्मेलन भवन में आयोजित चुनाव सभा को संबोधित करने और अपने लिए वोट मांगने पहुंचे तो पिछले गोलीकांड को लेकर लोगों ने उन पर बौछारें शुरू कर दीं। मगर दाद देनी होगी उन मरहूम को। चुनाव की उस नाजुक घड़ी में भी वे दबे नहीं और नतीजे की कोई परवाह किए बिना उन्होंने डट कर कहा—"···शहर जलता रहे और सरकार तमाशा देखती रह जाय, यह नहीं हो सकता···जो हालत पैदा कर दी गयी थी, उसमें फायरिंग बिल्कुल जरूरी थी··· और यह भी साफ-साफ सुन लीजिए, अगर मैं फिर मुख्यमंत्री बना और वैसी हालत फिर पैदा हुई, तो मैं फिर फायरिंग करवाऊंगा···" उस दिन की अपनी स्पष्टवादिता और दृढ़ता की कीमत उन्हें चुका देनी पड़ी। वे चुनाव हार गए।

मैं यह नहीं समझ पाता कि हिंसक घटनाओं में नौजवानों के घायल या मृत होने पर जिन लोगों को पीड़ा होती है, पुलिस जवानों के घायल या मृत होने पर उनका दिल क्यों नहीं दुखता ! छात्र-नौजवान अगर हमारे अपने देश के लोग हैं, अपने समाज के ही भाई-बन्धु हैं; तो पुलिस सिपाही किस दुनिया का जीव है जो उसके मरने की हमें कोई परवाह नहीं होती ! मारे गए अन्य लोगों की तरह वह भी तो किसी बूढ़ी मां का सहारा, किसी अबला की मांग का सिंदूर, किसी अबोध बालक का अवलम्ब होता है, जिसके मरने पर वे सब अनाथ और असहाय हो जाते हैं। यह फर्क भी जरूर समझिएगा कि उपद्रवों में और लोग तो मारे जाते हैं, लेकिन सिपाही ससंकल्प मरता है। और यह भी तो कोई कम अजीब बात नहीं कि वही छात्र जो कभी भीड़ की तरफ से पुलिस पर ईंट-पत्थर बरसाता था, पढ़ाई छोड़ने के बाद पुलिस की नौकरी में जाते ही, लाठी-गोली लेकर स्वयं क्रुद्ध हो भीड़ पर क्यों टूट पड़ता है !

हमने कभी ठंडे दिल से नहीं सोचा कि सरकारी या अर्द्ध-सरकारी प्रतिष्ठानों पर हमला कर जिन सार्वजनिक संपत्तियों को हम नष्ट कर देते हैं, असल में वे किसकी संपत्ति हैं—सरकार की या जनता की ? उनके निर्माण, पुनर्निर्माण या मरम्मत पर जो धन खर्च होता है, वह किसकी जेब से आता है ? वह सब हमारा-आपका और हमारी-आपकी तरह लाखों-करोड़ों लोगों की कड़ी मेहनत, गाढ़ी कमाई और खून-पसीने के ही पैसे तो हैं जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष करों के रूप में हम भरते हैं। करों से एकत्रित वे ही पैसे अपनी आकृति बदल कर सड़क-पुल, रेल-बस, अस्पताल-डाकखाना, बिजली घर और अन्य छोटे-बड़े कारखानों का रूप धारण कर हमारे समक्ष फिर आ खड़े होते हैं। तब हम उन्हें नहीं पहचानते। उनकी अवहेलना करते हैं, उन्हें तोड़ते-फोड़ते, जलाते और नष्ट करते हैं। वे गिड़गिड़ाते हैं, तड़पते-चिल्लाते हैं—'हमें बचाओ, हम तुम्हारे हैं,' लेकिन हम उनकी एक नहीं सुनते। हम भारतवासी गरीबी और पिछड़ेपन से अभिशप्त लोग हैं। पिछड़ापन और गरीबी दूर करने के लिए सार्वजनिक संपत्ति अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण साधन है। अज्ञानता और आक्रोश में हम उन्हीं साधनों को नष्ट कर देते हैं। तो गरीबी से हम उबर कैसे सकते ? जो लोग यह मानते हों कि गरीबी के कारण ही हमारा गुस्सा है, वे यह क्यों नहीं समझते कि ऐसे गुस्से के कारण भी तो हमारी गरीबी है। कल्पना कीजिए उस स्थिति की जब मात्र दो-चार हफ्तों के लिए रेल-बस सेवाएं बिलकुल बंद हो गई हों, सड़क-पुल टूटे पड़े हों, बिजली और पानी की सप्लाई रुकी हो, अस्पतालों में आपरेशन ठप्प पड़े हों, डाकखाने बंद पड़े हों, तारघर और टेलीफोन एक्सचेंज बेकार खड़े हों; तो क्या हाल हो जाएगा आपका ? और यदि आप कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मद्रास जैसी किसी महानगरी के निवासी हों जहां पचास-साठ-सत्तर-अस्सी लाख लोग बसते हैं, तब

कैसी त्राहि-त्राहि मच जाएगी ! सो, सरकार के विरुद्ध अपने क्रोध का शिकार हम उन निर्दोष सामग्रियों को क्यों बनाते हैं जो स्वयं हमारे अपने लिए ही नितांत उपयोगी एवं आवश्यक हैं ? परम अहिंसावादी संत विनोबा तक ने कभी इस आशय की बात कही थी कि गुस्सा उतारना ही हो तो आदमी पर ही उतारिए, संपत्तियों को छोड़ दीजिए; वे सब के काम आएंगी ।

आपको स्मरण होगा, राष्ट्रीय स्तर के एक महान् श्रम-नेता ने, जो उन दिनों केंद्रीय सरकार के कैबिनेट मंत्री भी थे, बड़े गर्व के साथ संसद को बताया कि रेल-सैबॅटाज् (अन्तर्ध्वंस) के पचासों मामलों में उनका हाथ था । वे पिछली सरकार को सबक सिखाना चाहते थे । लेकिन उनसे किसी ने यह भी पूछ लिया होता कि रेल में यात्रा सरकार कर रही थी या जनता ? उन दुर्घटनाओं में जो यात्री मरे होंगे, उन बेचारों का क्या कसूर था ? अब इस पागलपन को क्या कहिएगा ? और तुर्रा यह कि पागलपन भी आज गर्व की बात हो गई है । दुर्भाग्यवश आज जीवन के सारे क्षेत्रों में असामाजिक तत्त्वों का प्रवेश हो चुका है । असामाजिक तत्त्व — जिन्हें समाज के हित-अहित की कोई चिंता नहीं होती । वैसे तत्त्व आज न केवल गली-बाजारों में घूमते-फिरते हैं, बल्कि दफ्तरों, कारखानों, स्कूल-कालेजों में तथा व्यापार-राजनीति सभी में जमे बैठे हैं ।

राज्यक्रांतियों के काल में व्याप्त हिंसा एवं अराजकता की अस्थायी स्थिति का सैद्धांतिक औचित्य भले ही हो सकता है—क्योंकि उसके पीछे परिकल्पना है उस स्थिति की जिसमें सुव्यवस्था स्थायी रूप से स्थापित हो जाती है और अराजकता समाप्त—परंतु, आए दिन की समस्याओं को लेकर जब हम ध्वंसात्मक उपद्रवों में संलग्न हो जाएं, तो अनवरत अराजकता की यह स्थिति कैसे सहन की जा सकती है ? हिंसा बिल्कुल अच्छी बात नहीं, परंतु, मैं आप प्रबुद्धजनों से पूछता हूं—प्रच्छन्न असामाजिक तत्त्वों और नियंत्रित पुलिस फोर्स द्वारा संपादित हिंसा में किसी एक को ही चुनना पड़ जाए, तो आप किसे चुनेंगे ?

पंडितजी को गुलाब बहुत प्रिय थे और गुलाब की ही तरह बच्चे भी । उन्होंने कभी कहा था कि भारत का भविष्य जानने के लिए वे जंत्री-पतरों में नहीं, देश के लाखों-करोड़ों बच्चों की आंखों में झांका करते हैं । वे नौनिहाल, जो भारत के भविष्य थे, देश के भावी भाग्य-निर्माता; उन्हें सयाना और जवान होते पंडित जी स्वयं तो देख नहीं सके । उन्होंने हमें यह भी नहीं बताया कि क्या पढ़ा उन्होंने उनकी आंखों में; कैसा भविष्य झलका था उन्हें ?

पंडित जी को गुजरे सत्रह साल हो गए । दिल्ली के शांति-वन में, जहां उनकी

समाधि है, रंग-बिरंगे गुलाबों से घिरे वे चिरनिद्रा में लीन, सोए हैं। उनकी पावन-स्मृति में प्रतिवर्ष लोग मौन और शांत भाव से गुलाबों की पुष्पांजलि अर्पित कर आते हैं उनकी समाधि पर। लेकिन, इन गुलाबों में अब न वो रंग-ओ-बू है, न वो तरो-ताजगी। फीके-फीके खिलते हैं, मुर्झाये-मुर्झाये दीखते हैं। और वे प्यारे बच्चे, जो उनके सामने मंजुल-मुकुल थे, अब फूल बन कर सयाने तो हो गए हैं, लेकिन सयाना होकर गंभीर राष्ट्रीय समस्या भी।

एक व्यक्ति के शक्ति-सामर्थ्य में जो कुछ भी संभव था, वह सब किया पंडित जी ने देश के लिए; देश का भविष्य संवारने के लिए। पंडित जी के युग का भविष्य रूपांतरित होकर आज हमारा वर्तमान बन गया है। यदि सत्रह वर्ष पीछे हम लौट सकें, जब उनका निधन हुआ था, तो सन् '82 का हमारा यह वर्तमान उस काल-बिंदु का भविष्य है जिसे वे उन बच्चों की आंखों में पढ़ने की कोशिश करते थे जो अब सयाने होकर कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों में दाखिल हो चुके हैं। कॉलेज और यूनिवर्सिटी के इन छात्रों की बाबत उस रोज जब बात चली तो पटना यूनिवर्सिटी के तत्कालीन वाइस-चांसलर डॉ० टी० बी० मुखर्जी ने, जो कॉलेज के दिनों में हमारे प्राध्यापक थे, मुझसे कहा—"भोले! एक वक्त वह था जब तुम लोग कॉलेज में थे और हम लोग किसी भी स्टूडेंट का कान पकड़ लेते तो वह हंस कर रह जाता था, और एक आज का वक्त है···" तो मैंने उनसे कहा कि, सर! बात तो आज भी वैसी ही है, मगर उलट कर। पहले प्राध्यापक छात्र का कान पकड़ लेते और वह हंस कर रह जाता था, आज छात्र प्राध्यापक का कान पकड़ लेते हैं और उन्हें हंस कर रह जाना पड़ता है।

छात्र चुपचाप अकेले में शिक्षक का कान पकड़ लेते तो दोनों की ही इज्जत बच जाती। भंडाफोड़ नहीं होता। लेकिन जब सब कुछ सरेआम होने लगा है, छात्र शिक्षकों का अपहरण तक करने लग गए हैं, तो बात थानों से गुजरती हुई दूर-दूर तक फैल ही जाती है। समाचार पत्रों में समाचार छपा था कि मध्य प्रदेश के भिलाई में, रविशंकर विश्वविद्यालय छात्र संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष बालकृष्ण अग्रवाल ने कल्याण कॉलेज के प्राचार्य का इसलिए अपहरण कर लिया कि उन्होंने अपने कॉलेज में अग्रवाल को फिर से दाखिल कर लेने से इंकार कर दिया था। वह उन छात्रों में एक था जिसे सरकार ने किसी भी कॉलेज में नामांकन से वर्जित कर रखा था।

ये छात्र कॉलेजों में नाम लिखवाने को इतना परेशान क्यों रहते हैं जब ये पढ़ेंगे ही नहीं! उनकी उत्तर-पुस्तिकाएं भले ही 'सवाले दीगर, जवाबे दीगर' से रंगी हों, लेकिन उन्हें इम्तिहान तो पास करा ही देना होगा। कलकत्ते की सड़कों से गुजरते परीक्षार्थियों के जुलूस का वह नारा कभी आपने सुना—"फेल करा; चौलबे ना, चौलबे ना" (फेल कराना नहीं चलेगा, नहीं चलेगा)। परीक्षाओं में

पुस्तकों से नकल करना अब कोई कदाचार नहीं, वीक्षकों की चेतावनी के लिए डेस्क पर छुरा गड़ा रहेगा। उन्होंने विघ्न डाला तो परीक्षा-भवन के बाहर निकलते ही छुरा उनके कलेजे में। वीक्षकगण कृपया शांतिपूर्वक सहयोग करते रहें।

अध्यापक-छात्र सहयोग का कीर्तिमान स्थापित तो किया था दरभंगा चंद्रधारी मिथिला कॉलेज के परीक्षा-केंद्र-संचालकों ने। कॉलेज कार्यालय की खिड़की खुली छोड़ दी गई थी। परीक्षार्थियों को छूट थी कि वे उत्तर-पुस्तिकाएं बाहर कहीं भी ले जाकर लिख लें। आग्रह बस इतना था कि शाम ढलने तक उन्हें खिड़की के अंदर गिरा जाएं।

दृश्य उस रोज भी देखने लायक था जब मुजफ्फरपुर के लंगट सिंह कॉलेज से एक छात्रा एम०ए० की परीक्षा देकर बाहर निकली तो, अपने पिता को पास आते देख कर, जो उसे घर ले जाने आए थे, तमतमाए चेहरे और डबडबाई आंखों से घूरते हुए उन पर बरस पड़ी—"ए ही से साल भर पहिले से कहइत रहलियो ह जे पढ़ऽ पढ़ऽ लेकिन तू बात न मान लऽ सब सवाल के गलती जवाब तैयार कर देले रहऽ हम उहे सब कॉपी में उतार के चल अइली। हमर सब चउपट हो गेल!" हुआ यह था कि परीक्षा समाप्ति के बाद हॉल से बाहर निकलने पर अपने उत्तर संगी-परीक्षार्थियों से मिलाने शुरू किये तो उसे पता चला कि अधिकांश उत्तर उसने गलत लिख दिए थे। दोष तो उसके पिताजी का था जिन्होंने सवालों को बगैर ठीक से समझे उलटा-सीधा जवाब तैयार कर उसे थमा दिया था। उस बेचारी ने तो अपने पूज्य पिताजी की योग्यता पर सहज विश्वास के कारण अपनी उत्तर-पुस्तिका में उन सब की नकल भर कर दी थी। बात भी सही थी। इम्तिहान ठीक जाए, इसके लिए पढ़ना तो पड़ेगा ही। हां, प्रश्न अवश्य उठ खड़ा होता है कि पढ़े कौन—बेटा-बेटी या मां-बाप?

एक विद्यालय-परीक्षा में प्रश्न आया था कि उप-राष्ट्रपति के क्या-क्या कार्य हैं तो उत्तर में एक विद्यार्थी ने कई अन्य बेतुकी बातों के अलावा यह भी लिखा था कि उप-राष्ट्रपति भगवान से यह मनाता रहता है कि राष्ट्रपति जल्दी से मर जाए जो उसकी जगह पर मैं राष्ट्रपति बन जाऊं।

यह बात तो सभी जानते हैं कि आज-कल कॉलेजों में पढ़ाई नहीं होती; तब फिर होता क्या है? आजकल महाविद्यालय परिसरों में एक अत्यंत क्रूर मनोरंजन का रिवाज चल पड़ा है। लोग उसे रैंगिंग के नाम से जानने लगे हैं। रैंगिंग के दौरान सीनियर छात्र कॉलेज के नवागंतुक छात्रों को असह्य शारीरिक यातनाएं और मानसिक यंत्रणाएं देकर अपना मनोरंजन किया करते हैं। शायद ही कोई वर्ष ऐसा बीतता होगा जब इस क्रूर-क्रीड़ा के क्रम में किसी-न-किसी की जान न जाती हो या किसी का भविष्य नष्ट न होता हो :

कालीकट इंजिनियरिंग कॉलेज के एक छात्र ने रैंगिंग की यंत्रणाओं से

त्रस्त होकर आत्महत्या कर ली। लखनऊ मेडिकल कॉलेज के एक फ्रेशर को जब उसके सीनियरों ने हॉस्टल के पतले छज्जे पर दौड़ने के लिए मजबूर कर दिया, तो बेचारा नीचे जा गिरा। जान तो बच गई मगर एक पांव कटवाना पड़ा। एक नौजवान जीवन लंगड़ा होकर तबाह हो गया केवल यारों के मनोरंजन के लिए। लड़कियां भी अब इस मामले में इतना आगे बढ़ गई हैं कि लखनऊ के ही एक गर्ल्स-हॉस्टल की एक नई छात्रा को, जो अल्सर की पुरानी मरीज थी, मिर्च की चाय पीने पर मजबूर होना पड़ा। और दिल्ली की बात तो पूछिए ही मत। वहां के हॉस्टल्स में नई छात्राओं को निर्वस्त्र-नृत्य तक का आदेश पालन करना पड़ जाता है। ऐसी बहुत सारी बातें होती हैं, जो कही भी नहीं जा सकतीं।

असल में रैगिंग के रूप में अनेक कुकर्म और कुत्सित इच्छाएं सुविधापूर्वक पूरी कर लेने के लिए छात्र-छात्राओं को एक मुखौटा हाथ लग गया है। वैसे, हर कर्म-कुकर्म को एक दार्शनिक कलेवर दे देने का आज जो बौद्धिक-शोभाचार चल पड़ा है, उसके तहत कुछ लोग रैगिंग को युवामन का विक्षोभ और विद्रोह का दर्जा दे देने की व्यर्थ चेष्टा कर रहे हैं। ऐसी ही चेष्टा करते हुए बम्बई के एक शोध-छात्र ने 'धर्मयुग' के प्रतिनिधि, श्री सतीश अग्निहोत्री से कहा था : "जहां समाज की बुजुर्ग पीढ़ी एक ओर सारे आदर्श, मूल्य और मर्यादा युवा पीढ़ी पर थोपती है, वहीं अपने वास्तविक जीवन में वह स्वयं इन आदर्शों को ताक पर रख देती है···रैगिंग इसी विद्रोह का एक रूप है···" शोध-कार्य की संपुष्टि में भले ही यह मीमांसा थोड़ी सहायक सिद्ध हो जाए, लेकिन मेरे जैसे लोग केवल इतना ही जानना चाहते हैं कि, छात्रगण क्या सचमुच इतना सब सोच-समझ कर करने लग गए हैं? यदि ऐसी बात है, तब तो यह एक अति शुभ-लक्षण है! यह तो द्योतक है जागृत चेतना और चिंतन का। अपनी चेतना और चिंतन को जागृत कर जिस घड़ी छात्र (और शिक्षक भी) बातों के तल में डूबने का प्रयास प्रारंभ कर देंगे, उसी घड़ी से सौभाग्य की उषाबेला का आविर्भाव होने लग जाएगा। लेकिन रोना तो इसी बात का है कि सोचने का कष्ट तो कोई उठाता ही नहीं; चाहे वह गलत सोच ही क्यों न हो। क्योंकि, चिंतन यदि एक बार चल पड़े तो, उसका स्वभाव ही ऐसा है कि वह गहन और गंभीर बनता चला जाएगा। और चिंतन-प्रेरित कर्म, देर-सबेर, सही स्थल पर पहुंचा ही देते हैं। लेकिन यह सब जो होने लगे हैं, वे तो नितांत दिशाहीनता के लक्षण हैं। वह व्यक्ति सच्चाई के अधिक निकट पहुंच पाया था जिसने इस संबंध में यह कहा था कि सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दबावों ने सोचने-समझने के सारे रास्ते बंद कर दिए हैं और हर क्षेत्र में आज अराजकता का बोल-बाला है।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ कॉलेजों में देहातों से आए नए लड़कों के साथ रैगिंग की छेड़-छाड़ को लेकर लाठी-डंडे, छुरे, बम-पिस्तौल, सब चल गए।

मामला जब यूनिवर्सिटी गेट के बाहर सड़कों पर जा पहुंचा तो प्रशासन के समक्ष 'लॉ एंड आर्डर' का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। पुलिस को लाठी-गोली चलानी पड़ी। यूनिवर्सिटी बंद कर दी गई। हॉस्टल्स खाली करवाकर लड़के घर भेज दिए गए। पठन-पाठन से उन्हें दीर्घकालीन विश्राम प्राप्त हुआ। महीनों बाद जब कॉलेज खुले तो मामला फिर गरमाना शुरू हुआ। फिर धमाके। फिर कॉलेज बंद। इन्हीं धमाकों और छुट्टियों के बीच साल-दर-साल गुजरने लगे हैं। समय पर न कोई सेशन शुरू हो पाता है और न इम्तहान। जायदाद-जेवर गिरवी रख, पेट काट कर मां-बाप पढ़ाई के लिए जो पैसे जुटा देते हैं, उनसे चलती है रैंगिंग, यूनियनबाजी; उनसे होते हैं धमाके। और लाड़ला हर महीने-दो-महीने बाद लंबी-लंबी छुट्टियों में घर बैठ मां-बाप के सुनहले सपनों को तोड़ता जाता है।

ट्रेड-मार्कों में 'लीडर-मार्का' और 'स्टूडेंट-मार्का' का रुतबा ही अलग है। जहां यह मार्का लगा, कि सौ खून माफ। कैसा भी लीडर बन जाओ—स्टूडेंट लीडर, यूथ लीडर, ट्रेड यूनियन लीडर, एम्पलाएड या अन-एम्पलाएड लीडर। उसके बाद तो मजे ही मजे हैं। सो ढेर सारे असामाजिक तत्त्व 'स्टूडेंट-मार्का' लगवा लेने के लिए किसी-न-किसी कॉलेज में दाखिल हो जाते हैं। उन्हें न तो ज्ञान की पिपासा है और न पेट की क्षुधा। सेशन्स जितने लंबे होते जाएं, परीक्षाएं जितनी टलती जाएं, मौज-मस्ती के उतने ही अधिक दिन उन्हें बेरोकटोक उपलब्ध होते रहेंगे। इसीलिए तो कई छात्रनेता दो-एक परचों के इम्तहान देकर बार-बार ड्रॉप करते रहते हैं या जान-बूझ कर फेल हो जाते हैं।

छात्रों के मन में एक गलत धारणा घर कर गई है कि उनका वर्ग कानून की पकड़ से बाहर है—मानो उन्हें वैधानिक विमुक्तियां प्राप्त हो गई हों। इतनी मामूली-सी बात भी उन्हें नहीं मालूम कि 'रूल ऑफ लॉ' का मूलभूत सिद्धांत यह है कि 'अबव दी लॉ' (कानून से ऊपर) कोई भी नहीं होता। स्वयं कानून बनाने वाला व्यक्ति या वर्ग भी नहीं। लेकिन, यह जानने की कोशिश भी तो कोई करे! और पढ़े तब तो जाने! तथाकथित उच्च शिक्षा प्राप्त लोग भी पुलिस द्वारा परिसर की पवित्रता भंग किए जाने का वितंडावाद खड़ा कर देते हैं। इतनी सी बात उनकी समझ में नहीं आती कि परिसर की पवित्रता बची हो, तब तो उसके भंग होने. का प्रश्न उठता है। कॉलेज हाते में लड़कों के बीच डंडा-छुरा चलने, स्टाफ रूम में लेक्चरर को कुर्सी से धकेल कर गिरा देने, प्रिंसिपल का अपहरण कर लेने, वाइस-चांसलर के बंगले में घुसकर गाली देने और ईंट-पत्थर बरसाने की दैनिक घटनाओं के बाद भी परिसर की पवित्रता बच गई है क्या? और जब पवित्रता लुप्त ही हो चुकी है, तो पुलिस द्वारा भंग क्या होती होगी? आप में से जो लोग परिसर से संबंध और मोह रखते हों, पहले वे तो परिसर की पवित्रता अक्षुण्ण रखें। परिसर की पवित्रता निस्संदेह अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है। उसे हर

हालत में बनाए रखना होगा। यदि आप स्वयं वह नहीं कर पाए, तो बाध्य होकर प्रशासन को करना पड़ेगा। मगर अराजकता की स्थिति में उसे कदापि छोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि, विश्वविद्यालय-परिसर वह स्थल है जहां देश के भविष्य-निर्माण का अति महत्त्वपूर्ण कार्य चलाया जाता है।

ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थल की आज ऐसी लज्जाजनक स्थिति हो गई है कि अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के प्रो० इर्तेजा हसन ने एक स्थानीय पत्रिका में प्रकाशित अपने आलेख में विश्वविद्यालय छात्रावास के घिनौने वातावरण का विवरण प्रस्तुत करते हुए उसकी तुलना वेश्यालय से की थी। सच कहने के इस जुर्म में उन्हें मुअत्तल होना पड़ा। और सन् '81 की 13 जनवरी को दिल्ली के एक अंग्रेजी समाचार-पत्र में इसी यूनिवर्सिटी के सोशल साइंसेज के डीन, इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० इरफान हबीब की एक भेंट-वार्ता प्रकाशित हुई। छात्रावासों में हुल्लड़बाजों के निवास, परिसर के अंदर कुख्यात अपराधियों की उपस्थिति तथा प्रशासन की पूर्ण शक्तिहीनता पर घोर चिंता व्यक्त करते हुए अपनी भेंट-वार्ता में प्रो० हबीब ने यह भी कहा कि इन सब बातों के कारण वहां का शैक्षणिक स्तर इतना नीचे गिर गया है कि स्वयं मुस्लिम व्यवसायियों ने अपने संस्थानों में नियुक्तियों के लिए अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के स्नातकों को काली सूची में दर्ज कर रखा है। बस प्रो० हबीब के इस वक्तव्य पर आग लग गई और प्रो० हबीब के विरुद्ध परिसर के अंदर-बाहर जिहाद छिड़ गया। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' की ओर से स्थिति का अध्ययन करने श्री जे० डी० सिंह जब अलीगढ़ पहुंचे तो उनकी भेंट विश्वविद्यालय के अनेक छोटे-बड़े अधिकारियों, प्राध्यापकों, शहर के कई मान्य लोगों तथा 'हबीब-हटाओ आंदोलन' के सूत्रधारों से भी हुई। तीन किस्तों में छपी अपनी रिपोर्ट में श्री सिंह ने लिखा था कि लड़कों के एडमिशन और प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति में जो भ्रष्ट तरीके अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में अपनाए जाते रहे हैं, उसकी वजह से भी वहां बहुत कुछ चौपट हुआ है। मात्र एक मैट्रिकुलेट यूनिवर्सिटी रजिस्ट्रार बनाया गया और रसूख के बल पर ही निहायत निकम्मे और उत्तरदायित्वहीन लोग ऊंचे-ऊंचे पदों पर जा बैठे हैं। पैरवी के बल-बूते पर ही अनेक प्राध्यापक स्टाफ-रूम की कुर्सियों पर विराजमान हैं। औसत से भी नीचे दर्जे और घटिया किस्म के बहुतेरे लड़के यूनिवर्सिटी में दाखिल कर लिए गए हैं। सत्रह हजार लड़कों में तकरीबन चार सौ खुराफाती लड़के और ग्यारह सौ प्राध्यापकों में केवल पंद्रह ऐसे लोग हैं जिन्होंने, अन्य तत्त्वों के साथ मिल कर, सारा हंगामा खड़ा कर रखा है।

प्रो०हबीब के बारे में बात चली तो एक आंदोलनकारी छात्र ने उत्तेजित होकर श्री सिंह से पूछा—"आप ही बताइए, क्या एक मार्क्सवादी की शुमार भी उदारवादियों में की जा सकती है ? दुनिया के उन मुल्कों की ओर जरा नजर

तो डालिए जहां मार्क्सवादियों की हुकूमत है। क्या वे उसी मायने में उदारवादी हैं जैसा इस लफ्ज के मुतल्लिक हमारा ख्याल है?" बड़ा उम्दा और माकूल जवाब दिया श्री सिंह ने इस सवाल का। यद्यपि मैं खुद ही मार्क्स का मुरीद नहीं हूं, लेकिन मेरी भी तबीयत खुश हो गई। उन्होंने कहा : "इसका स्पष्ट-सा उत्तर तो यह है कि अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में धर्मान्ध कट्टरपंथियों के मुकाबिले एक मार्क्सवादी अधिक उदारमना माना जाएगा।"

असल में प्रो० हबीब एक प्रगतिशील व्यक्ति हैं—मार्क्सवादी रुझान के एक उदारमना बुद्धिजीवी, जिन्होंने अपनी दिमागी खिड़कियां खुली छोड़ रखी हैं। वे एक ऐसे प्रकांड विद्वान हैं, जिन्हें अपने विषय का गहन ज्ञान है। वे चाहते हैं कि उनके छात्र भी विद्यानुरागी बनें, और उनके भी आचार-विचार का स्तर ऊंचा उठे। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जो शैक्षणिक वातावरण अपेक्षित हैं, उसे ही अपनी यूनिवर्सिटी में फैलाने के लिए वे संघर्षरत हैं। यही सब उनके अपराध हैं जिनकी वजह से उन्हें भी मुअत्तल होना पड़ा था।

देश-भर में प्रायः सभी विश्वविद्यालयों की एक जैसी स्थिति हो गई है। मुट्ठी-भर शिक्षक और सौ-सैकड़े छात्र साथ मिल कर, हजारों-लाखों का भविष्य बिगाड़ रहे हैं। छुरा लेकर जिन्होंने परीक्षाएं दीं, पैरवी से जो डिविजन ले आए, वे ही छात्र तिकड़म लड़ाकर कॉलेजों तथा यूनिवर्सिटियों में दाखिला भी पा लेते हैं। माध्यमिक बोर्ड ने भी वैसे लड़कों को, परोक्ष रूप से, इस मामले में बड़ी मदद पहुंचाई है। फिजिक्स के टीचर को इकॉनामिक्स की कापियां जांचने को दी जाती हैं और संस्कृत वाले, सामाजिक विज्ञान की उत्तर-पुस्तिकाएं देख देते हैं। समझ लीजिए कैसा मूल्यांकन करते होंगे। कंप्यूटर कमबख्त भी इतना लापरवाह हो गया है कि जिसे 63 अंक प्राप्त हुए हैं, उसे उलट कर 36 टंकित कर देगा और 51 पाने वाले को 15। उसके बाद लिपिक महोदय अहमद की टोपी महमद के सर और मंसूर का पायजामा मंजूर को पहनाते चले जाएंगे। दीपक को प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त हुए थे तो वह द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण घोषित किया जाएगा और मंगनीलाल को थर्ड डिविजन के मार्क्स आए थे तो उसका रिजल्ट फर्स्ट डिविजन में निकलेगा। और ऐसे ही फर्स्ट डिविजन वालों से कॉलेजों की ज्यादातर सीटें भर जाया करती हैं। बिहार के विश्वविद्यालयों में तो ऑनर्स और एम० ए० परीक्षाओं में क्लास और पोजीशन देते समय जाति का सब से अधिक ध्यान रखा जाता है। डिपार्टमेंट के हेड, फर्स्ट क्लास फर्स्ट या कम से कम सेकिन्ड पोजीशन सजातीय छात्र को ही देने की फिक्र में रहते हैं। और जब लेक्चरर की नियुक्ति का अवसर आता है, तब भी ज्यादातर यही सब बातें चला करती हैं। बेचारी योग्यता आहत हो कहीं कोने में कराहती पड़ी रह जाती है।

विश्वविद्यालयों के वातावरण आज जो इतने विषाक्त और दूषित हो गए हैं,

उसमें दोष केवल छात्रों का ही नहीं, वह समान रूप से अभिभावकों, प्राध्यापकों और जननायकों का भी है। छात्रों पर इन्हीं लोगों के प्रभाव तो रहते हैं। यही लोग तो हैं जिनसे छात्रों को अब तक प्रेरणा मिलती रही है। बाप को अब पैसा कमाने से फुर्सत नहीं। दिन-रात हाय पैसा ! हाय पैसा ! घूस-रिश्वत, काला-बाजारी, तस्करी—जैसे भी हो, जल्द से जल्द और ज्यादा से ज्यादा बटोर लो। तब फिर उन्हें समय ही कहां जो लड़कों की ओर ध्यान दें ? उन्हें यह भी तो देखना चाहिए कि उन पैसों का क्या उपयोग कर रहे हैं परिवार के लोग, बाल-बच्चे ! अक्सर होता तो यही है कि दिन-रात के छल-कपट और अधर्माचरण से बटोरे गए पैसों से ही उनके लड़कों का सत्यानाश हो जाता है। हराम के ढेर टके मिलते गए, लड़कों की लत बिगड़ती गई। बाप थके तो उनकी जिंदगी में ही, आंखों के सामने, या मरे तो परलोकवास के कुछ ही दिनों के अंदर, सारी धन-संपत्ति फूंक-फांक कर स्वाहा कर दी 'दुलरुआ' ने। जाने कितनों की जेब काटी थी बाप ने, कितनों के पेट पर लात मारी थी, कितनों की गर्दन मरोड़ धन बटोरा था कि छोड़ जाएंगे बेटों के लिए। और आवारागर्दी में मस्त बेटे, बाप के मरते ही कंगाल हो गये। यही तो गति है धन की। कितनी पते की बात कह गए थे कबीर : 'पूत कपूत तो का धन संचै, पूत सपूत तो का धन संचै'—बेटा कपूत निकल जाए तो उसके लिए धन संचय करना बेकार; जो छोड़ जाइएगा, सब स्वाहा कर देगा। और पूत यदि सपूत निकला, तो उसके लिए धन संग्रह करने की आवश्यकता ही क्या ? वह तो स्वयं ही सब कर लेगा। लेकिन कबीर तो अनपढ़-गंवार थे। उनकी सुने कौन ! सो, जीवन-भर बेचैन रहते हैं बाप, धन-संचय की धुन में। क्या प्रेरणा मिल सकती है बेटे को वैसे बाप से जो धन खसोट लेने की अपनी व्यग्रता में कर्म-कुकर्म, उचित-अनुचित, किसी भी बात की कोई परवाह नहीं करता, और न ही यह देख पाता है कि उस धन का परिवार में क्या उपयोग हो रहा है। समय ही नहीं बाप के पास कि अपने अनुभव की दो अच्छी बातें बेटे को भी बता दें, दो सद्‌गुण सिखा जाएं उसे। वे तो समझते हैं कि पैसा दे देंगे, तो बेटा बाजार से खुद ही सब खरीद लेगा—सद्‌ज्ञान, सद्‌विचार, सद्‌गुण, सदाचार। लेकिन बेटा तो सीख लेता है गली-बाजारों से हुल्लड़बाजी और कॉलेजों में पहुंच कर खड़ा करता है हंगामा।

एक समय था जब अध्यापकों में से कोई न कोई, हर छात्र के लिए आइ-डियल (आदर्श) हुआ करता था। छात्र उनके अनुरूप ही अपने को ढालने का प्रयास करते थे। अध्यापकों के पहनने-ओढ़ने, उठने-बैठने के ढंग तथा उनके बोलने-पढ़ाने का तरीका—सब नकल करने की कोशिश करते थे छात्र। अध्या-पकों के व्यक्तित्व की छाप पड़ जाती थी छात्रों पर। उनकी विद्वत्ता, उनके आचार-विचार से प्रेरित होते थे विद्यार्थी और आजीवन याद रखते थे अपने

श्रद्धेय गुरु की सिखावन। लेकिन आज के अधिकांश शिक्षकों में ऐसा है ही क्या जिसे छात्र श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर सकें और उनसे अनुप्रेरित हों। कदाचारिता से जो परीक्षा देते हैं, पैरवी से जो क्लास पा लेते हैं, भाई-भतीजावाद के प्रसाद-स्वरूप जो पद प्राप्त कर लेते हैं; नोट्स पढ़ कर जो क्लास-लेक्चर देते हैं और चाटुकारिता के बल पर जो निरंतर प्रोन्नति पाते जाते हैं—वैसे अध्यापकों के पास कदाचार, भाई-भतीजावाद, पैरवी, चाटुकारिता आदि के अतिरिक्त और है ही क्या छात्रों को देने के लिए। ऐसे शिक्षकों के साथ दुर्व्यवहार कर छात्र उन्हें अपमानित करते हैं, तो इसमें छात्रों का क्या दोष !

पढ़ने-पढ़ाने से आज कितने शिक्षकों का लगाव रह गया है ? आज कितने ऐसे शिक्षक हैं जिन्होंने, कम से कम अपने विषय की भी, दस-बीस मौलिक पुस्तकों का अध्ययन किया हो, उस विषय पर चल रहे सामयिक चिंतन से जिनका संक्षिप्त-सा भी परिचय हो, अथवा क्लास-लेक्चर के लिए जो घर पर स्वयं कुछ तैयारी कर लेते हों ? एक नया चस्का लग गया है उन्हें भी राजनीति का। सो, दिन-रात गुटबाजी, दिन-रात तिकड़म। बराबर नेताओं के पीछे भाग-दौड़, किसी न किसी मंत्री का स्वागत-समारोह आयोजित करने का चक्कर। नेताओं की सी पोशाक पहन लेंगे। नेताओं की भाषा बोलेंगे और नेताओं जैसा ही आचरण करेंगे। न बात का कोई भरोसा, न व्यवहार का ठिकाना। राजनीति करनी है तो छोड़ दें नौकरी। निकल पड़ें झोला टांग कर और खाक छानें कुछ बरसों तक। लेकिन इन्हें तो सब मजे एक साथ ही चाहिए—सुरक्षित नौकरी, बंधी-बंधाई तनख्वाह, वानरसेना का बल और राजनीतिक चमक-दमक; परिसर में छात्र भी नतमस्तक रहें, बाहर लोग भी जिंदाबाद करें और चौराहों पर पुलिस भी सलामी ठोके। यह सब इकट्ठे चल नहीं सकते। इनमें जिसका सबसे अधिक आकर्षण हो, उस पर अनुरक्त हो अन्य की ओर से विरक्त होना ही पड़ेगा अध्यापकों को।

राजनीति के हम जैसे साधारण लोगों को तुम्बाफेरी से फुर्सत ही कहां कि गहन अध्ययन कर सकें किसी विषय का, गंभीरतापूर्वक चिंतन कर सकें उन पर। सोचते थे, जब कभी कोई ऐसी जटिल समस्या उत्पन्न होगी, जिसके समाधान के लिए विशेष जानकारी की आवश्यकता हो, तो उस विषय के किसी विद्वान प्राध्यापक से परामर्श कर लेंगे। परंतु वैसे कुछ अवसरों पर अपने किसी मित्र या परिचित प्राध्यापक के पास सहायता के लिए जब कभी गया हूं, तो बड़ा दुःख हुआ है यह देख कर कि उनमें से अधिकांश ऐसे रिक्त थे जिन्हें उल्टे हमें ही कुछ भरना पड़ गया। पुस्तकों की पंक्तियों के बीच हमने आप ही सावधानी से जो पढ़ा है, जीवन की चुनौतियों से जूझते हुए स्वयं ही जो कुछ सीखा है, छोटे-बड़े, भले-बुरे लोगों से निपटते समय हमने स्वयं ही जो अनुभव प्राप्त किए हैं—वे ही समय पर हमारे काम आ पाए हैं। तब भला बेचारे अपरिपक्व छात्रों को

क्या मिल पाता होगा ऐसे शिक्षकों से ?

यह भी ठीक है कि आज देश में छात्रों की जितनी विशाल सेना खड़ी हो गई है, उस पर नियंत्रण रख पाना बड़ा कठिन है। कक्षाओं में छात्रों की विशाल संख्या के सामने यह सम्भव ही नहीं कि शिक्षक सब पर सम्यक् ध्यान दे सकें। छात्रों को व्यक्तिगत रूप से प्रभावित करने के लिए, प्राध्यापक का उनके साथ सम्पर्क आवश्यक है और सम्पर्क के लिए सामीप्य। सम्पर्क-सामीप्य दोनों तभी हो सकते हैं जब छात्रों की संख्या कम हो। तभी उनका सही-सही मूल्यांकन भी हो सकता है। लेकिन आज स्कूलों-कालिजों-यूनिवर्सिटियों में छात्रों की संख्या विकराल रूप धारण करती जा रही है। देहातों के कॉलेजों में भी हजारों की संख्या हो गई है लड़कों की। ये कॉलेज तो ऐसे कारखाने बन गए हैं जिनकी भोंडी-भद्दी मशीनों से नौकरी तलाशने वाले घटिया किस्म के थोक स्नातकों के आलावा अन्य किसी माल का उत्पादन किया ही नहीं जा सकता। इनसे निकले स्नातक न तो शिक्षित ही कहे जा सकते हैं और न प्रशिक्षित। पश्चिमी दुनिया में युनिवर्सिटी की उच्च शिक्षा प्राप्त करने केवल वे ही छात्र जाया करते हैं जिनकी अभिरुचि किसी विषय का विशेष ज्ञान अर्जित करने की होती है तथा जो अध्ययन के पश्चात् अपने शोध-कार्य द्वारा ज्ञान-जगत को अपनी ओर से भी कुछ देकर समृद्ध कर जाना चाहते हैं। अन्यथा, हाई स्कूल के बाद, बाकी सभी लड़के किसी न किसी व्यवसाय का प्रशिक्षण प्राप्त कर उस धंधे द्वारा अपनी आजीविका अर्जित करने लग जाते हैं।

विश्वविद्यालय-परिसर के बाहर भी कहीं कोई ऐसा प्रकाश-स्तंभ नहीं दीखता जिससे युवा-वर्ग का मार्ग-दर्शन हो सके। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में जो तथाकथित गण्यमान्य लोग हैं, उनका निजी जीवन पाखंड और मिथ्याचार से इतना भरा है कि किसी को भी उनसे घृणा और वितृष्णा हो जाए। जीवन के किसी भी क्षेत्र में ऐसा कोई प्रेरणादायक व्यक्तित्व नहीं बचा जिससे कोई नवयुवक अनुप्राणित हो पावे। कहीं कोई ऐसा सिद्ध-पुरुष नहीं जो इन युवकों में जीवन को रूपांतरित कर देने का मंत्र फूंक दे। सो, अंधेरे में आज भटक रहे हैं देश के वे करोड़ों नौजवान जिनके निश्छल नयनों मे निहारा करते थे कभी पंडित जी भारत का भविष्य।

आत्म दीपो भव:

अपराध की दुनिया भी कितनी बदल गयी ! केवल बीस-पच्चीस वर्षों में इतना बड़ा अन्तर हो आया कि जो बात सैकड़ों वर्षों से कहावत के रूप में प्रच-

लित थी, वह आज सत्य बन कर सामने नाच रही है। सुनते आए थे, "उल्टे चोर, कोतवाल को डांटे।" आज आए दिन कोतवाल पर चोरों की डांट ही नहीं, मार भी पड़ रही है। कल तक कोतवाल से अपराधकर्मी भय खाते थे, आज अपराधकर्मियों से कोतवाल घबराने लगे हैं। ज्यादा नहीं, केवल बीस-पच्चीस वर्ष पहले गांव का एक पुलिस-चौकीदार, हथियार के नाम पर एक लाठी या ज्यादा से ज्यादा भाला लेकर भादों की घुप अंधेरी रात में भी अकेला पहरे पर निकल जाया करता था। उससे बचकर भले ही चोरी कर लें या डाका डाल दें, लेकिन सामना होने पर बड़े से बड़े चोर-डकैत की मजाल नहीं थी कि चौकीदार पर एक कंकड़ भी फेंक सके। भग खड़े होते थे उस निहत्थे चौकीदार की एक ललकार पर। आज तो डट कर सामना होता है—चौकीदार-सिपाही की तो बात छोड़िए—एस० पी० और आई०जी० तक से। दोनों ओर से बराबरी के स्तर पर गोलियां चलती हैं। अब इसमें जो भी मारा जाए। मेरे दादा अंग्रेजों के जमाने में पुलिस-अफसर थे। उनसे अक्सर सुना करता था: "···राज हैबत से चले ला; हैबत खतम, राज खतम···" बहुत पहले उन्हें यह भी फिक्र करते सुना था, "अभी का देख लऽ! जमाना आई जब बड़का-बड़का घर के लड़िका चोरी-डकैती करे लागी। तब देखिहऽ तमाशा।"

उनका कहा सच निकला। अपराध की दुनिया पर काबू पाने में आज वे ही दो बातें सबसे बड़ी मुश्किल बन कर खड़ी हुई हैं—पुलिस के रोब का समाप्त हो जाना और तथाकथित बड़े घरानों के बेटों का अपराध-कर्मों में हाथ। टूट चुका है पुलिस का मनोबल। यह कोई खुश होने की बात नहीं। खुश तो आप तब होते जब अपराधकर्मियों से स्वयं निबट लेने का आप में बल होता या पास-पड़ोस के लोग आपकी पीठ पर खड़े हो जाते। किन्तु ऐसा तो है नहीं। दिन-दहाड़े आप लुटते-पिटते रहेंगे और आपकी गुहार के जवाब में अगल-बगल के दरवाजे-खिड़कियां फटाफट बंद हो जाएंगी। सबको अपनी-अपनी फिक्र है, आपकी खातिर कोई अपनी जान नाहक खतरे में क्यों डाले! ले-देकर बस पुलिस का आसरा। और उसी पुलिस का हौसला पस्त कर क्रिमिनल्स का हौसला हमने बुलंद कर दिया है। मेरी उम्र के जो लोग होंगे उन्हें जरूर याद होगा कि यही कोई बीस साल पहले एक निहत्था आदमी डट-डपट कर कूद पड़े, तो चारों ओर से 'पकड़ो···मारो' की ललकारें पड़ने लगती थीं और अपराधकर्मी भाग खड़े होते थे; किन्तु आज दृश्य यह होता है कि दिन-दोपहर की चहल-पहल में एक आदमी बस एक छुरे के बल पर किसी को भी लूट ले सकता है, उसकी हत्या कर दे सकता है। और अगल-बगल के सैकड़ों लोग तकते-तमाशा देखते रह जाएंगे। कोई आगे नहीं आएगा। आंखों के सामने हुई घटनाओं का गवाह बनने तक की कोई हिम्मत नहीं करता।

पहले रात के सन्नाटे में अपराध हुआ करते थे; अब दिन की चहल-पहल

में। पहले चोरियां ज्यादा, डकैतियां कम हुआ करती थीं। पर, अब तो डकैतियां ही ज्यादा होने लगी हैं। पहले एक की ललकार पर दो-चार अपराधकर्मी भाग खड़े होते थे, अब एक अपराधकर्मी की धौंस पर सैकड़ों लोग ठिठक जाते हैं। ट्रेन और बस में डकैती होते पहले हमने नहीं सुना। मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में, मुगल साम्राज्य की जड़ें जब हिल गई थीं, तो काफिले लूट लिए जाते थे। लेकिन अंग्रेजों ने ठगों और पिंडारियों का जब से सफाया कर दिया, राह चलते लूट-पिट जाने का खौफ करीब-करीब खत्म हो गया। स्वतंत्र भारत में वह अब फिर पनप उठा है। अखबारों में समाचार पढ़ कर उस दिन मैं चौंक गया था जब ट्रेन-यात्रा में भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति (स्व०) डा० राजेन्द्र प्रसाद की धर्मपत्नी का सामान लेकर अपराधकर्मी चम्पत हो गए। वे एक विशेष सैलून में सफर कर रही थीं जिसके साथ सिक्युरिटी-गार्ड्स चल रहे थे। उसी दिन स्पष्ट दिखने लगा था कि भविष्य में अपराधकर्मों की कितनी भयावह स्थिति होने वाली है। भावी परिणामों की दृष्टि से वह घटना अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी।

मुश्किल यह नहीं है कि चोरी-डकैती, हत्या-बलात्कार की वारदातें बढ़ गयी हैं। असल मुश्किल तो यह आन पड़ी है कि जुर्म करने वालों में डाक्टरों-इंजीनियरों के लड़के, बड़े-बड़े अफसरों के बेटे, एम० एल० ए०, एम० पी०, मिनिस्टरों के सगे-संबंधी, यहां तक कि उनके स्टाफ़ के लोग भी शामिल पाए जाने लगे हैं। दिल्ली में गाजियाबाद के निकट बस-यात्रियों को लूटते हुए जो छह लुटेरे गिरफ्तार हुए उनमें फ़िजी-स्थित भारतीय उप-उच्चायुक्त का बेटा भी था। बलात्कार और हत्या के संगीन मामलों में उत्तर प्रदेश के कृषि-मंत्री के सुपुत्र, 'शम्पू साहब', पर मुकदमे चले (अंततोगत्वा वे स्वयं ही एक प्रतिशोधी की गोली के शिकार हुए) जैसे ही वे वी० आई० पी० क्रिमिनल्स गिरफ्तार हुए, थाने की घंटी टनटनानी शुरू हुई। थानेदार को ऊपर का गुप्त आदेश मिलेगा, "मामले को दबाइए।" वह यदि अड़ियल आदमी निकला, तो यही नहीं कि केस हस्तांतरित और थानेदार स्थानांतरित, बल्कि बेचारे पर और कई संकट आ जाएंगे। ऐसे में कोई क्या ऐक्शन ले? अपराधकर्मी जब एसेम्बली और पार्लियामेंट में जगह पा चुके हों, तो सांप के बिल में कौन हाथ डाले? सन् '77 और सन् '80 की जनता और इंदिरा लहर में विधानसभाओं और संसद में अनेक ऐसे लोग पहुंच गए जिनपर भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत कई गंभीर अपराधों के आरोप थे। आज पुलिस पर तो, "भई गति सांप छछून्दर केरी" की कहावत चरितार्थ हो रही है। पुलिस यदि एक्शन ले तो मुश्किल (भागलपुर के अंखफोड़वा-कांड को याद कीजिए) और न ले तो मुश्किल। बेचारी पुलिस करे तो क्या करे? प्रसंगवश कृष्ण वल्लभ बाबू की ही एक बात याद आ जाती है:

तब वे मुख्य-मंत्री न थे। चुनाव हार गए थे। लेकिन तेवर उनका वही था।

पटना आते तो अपने पुत्र, रामबाबू (एम०एल०सी०) के सरपेन्टाईन रोड-स्थित बंगले पर ही ठहरा करते। एक सुबह मैं पहुंचा तो पहले से (स्व०) सहदेव महतो और अन्य कई लोग बैठे 'लॉ-आर्डर' की शोचनीय स्थिति की चर्चा कर रहे थे। बरामदे में पास ही बैठे कृष्ण वल्लभ बाबू दाढ़ी बनाने में जुटे थे, किंतु उनका ध्यान बातों की ओर ही था। लॉ-आर्डर की बात जब उनके कान में पड़ी तो तैश में आ गए और झट शेविंग-ब्रश चेहरे पर घुमाना बंद कर, उसे टेबल पर पटकते हुए बोले—"लॉ-आर्डर···लॉ-आर्डर, लॉ-आर्डर नहीं संभलेगा? कुछ मुश्किल नहीं। बस आई०जी० को बुलाना है और उनसे कहना है कि ये-ये सब वारदातें हो रही हैं। इन्हें रोकने के लिए आपकी क्या रिक्वायरमेंट्स (आवश्यकताएं) हैं, बताइए! सरकार सब मुहैया करेगी और पंद्रह दिनों का टाइम-लिमिट होगा। उसके बाद फिर कोई घटना हुई तो 'आई शैल हैव अनदर आ० जी० नाट यू! (मैं दूसरा कोई आई० जी० रखूंगा, आप इस पद पर नहीं होंगे) और बस, लॉ-ऑर्डर दुरुस्त···" और यह कहते हुए उन्होंने फिर ब्रश उठा लिया, "मगर इसके लिए चीफ मिनिस्टर में गट्स (दम) होना चाहिए।" तो, गट्स वाला चीफ मिनिस्टर अब है कहां? श्री बाबू, कृष्ण वल्लभ सहाय की तरह अपनी ताकत पर मुख्यमंत्री अब बनता ही कौन है? जिसके लिए ऊपर से फ़रमान आया, वही बन गया मुख्य मंत्री। लेकिन कृष्ण वल्लभ सहाय जैसे गट्स वाले चीफ मिनिस्टर भी आई० जी० को 'पॉलिटिकल प्रेशर एन्ड इन्टरफीअरन्स' से मुक्त रखे बिना, उनसे लॉ-आर्डर दुरुस्त नहीं करवा पाते। गिरफ्तार अपराधकर्मी के कोतवाली पहुंचने से पहले मंत्री की पैरवी वहां जा पहुंचे, तो हवालात में स्वयं लॉ-आर्डर ही बराबर बंद पड़ा मिलेगा।

आई० जी० की प्रोन्नति में राजनीति चले, एस० पी० की नियुक्ति में जात चले, दरोगा की बदली में राजनैतिक छुटभइयों की पैरवी चले, तो प्रशासन क्या खाक चलेगा? लॉ-आर्डर की बात करनी ही फ़िजूल है।

लेकिन सिक्के का दूसरा पहलू भी है। अपनी साख पुलिस वालों ने स्वयं भी तो खोई है। घूसखोरी तो उनका सनातन अधिकार ही रहा है। किन्तु स्वतंत्र भारत में जब से उन्होंने उसका आधुनिकीकरण कर दिया, स्थिति और बिगड़ गई। रिश्वत पहले जहां दारोगा-इंस्पेक्टर तक जाकर रुक जाती थी, अब उसकी पहुंच एस० पी० और उससे भी ऊपर होने लगी है। अंगरेजी ज़माने में, और बाद के भी कुछ वर्षों तक, कलक्टर, एस० पी० घूस लेते हों, यह किसी ने नहीं सुना। घी-मुर्गा, मेवा-मिष्टान्न की डाली लेकर दारोगा जी या इंस्पेक्टर साहब, एस० पी० के बंगले पर चुपके से खानसामा को थमा, साहब को सलाम ठोक आएं—सो ही बहुत हुआ। लेकिन अब तो बंगलों पर सीधे पब्लिक से ही सौदे हो जाते हैं। ग़ज़ब तो यह होने लगा है कि स्वयं पुलिस के लोग अब अपराध के क्षेत्र में

उतर आए हैं। डकैती के सिलसिले में पुलिस सिपाही पकड़े गए हैं और बलात्कार के आरोप में डी०एस०पी० पर कोर्ट-वारंट जारी हुए हैं।

इंगलैंड में पुलिस की बड़ी धाक और इज्जत है। वहां कहते हैं, 'पुलिसमैन इज़ द बेस्ट फ्रेंड' (पुलिस का आदमी सब से अधिक बढ़िया मित्र होता है)। बाप-भाई की तरह लोग उसे अवसर पड़ने पर याद करते हैं। हथियार के नाम पर बस एक छोटा-सा 'बैटन' (डंडा) पास रखेगा। सो, पुलिसमैन पर हल्के हिंसक आक्रमण की जब कुछ घटनाएं हुईं, तो जनमत भड़क उठा। ब्रिटिश पार्लियामेंट में प्रतिपक्ष के एक सदस्य ने (गौर कीजिए, सदस्य विरोधी दल का था) घोर चिंता प्रकट करते हुए सरकार से मांग की कि आत्मरक्षा के लिए पुलिस को पर्याप्त शस्त्रास्त्र दिए जाएं। सरकार की ओर से जवाब में जो कहा गया, वह एक क्लासिक था, शास्त्रीय स्तर का वक्तव्य। मंत्री ने कहा : "ए पुलिसमैन कैरीज़ विथ् हिम् दि आथॉरिटी ऑव् हर मैजस्टी द क्वीन। इफ़ दैट इज़ नॉट एनफ़ टू प्रोटेक्ट हिम्, नो अमॉउन्ट ऑव ऐम्युनिशन कैन डू।" (पुलिसमैन महागरिमा-मयी महारानी का प्रभुत्व संग लेकर चलता है। उसकी सुरक्षा के लिए यदि वह यथेष्ट नहीं, तो शस्त्रास्त्रों की कितनी भी मात्रा उसे क्यों न दे दी जाए, वे उसे नहीं बचा सकते)। कौन समझेगा अपने देश में पद और दायित्व की इस गरिमा को? आशा अवश्य थी कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् मूल्यों और मान्यताओं का हमारा स्तर भी वैसी ऊंचाई तक पहुंच जाएगा, परंतु ऐसा हुआ नहीं। हमारी पुलिस अपने सुकृत्यों द्वारा तो लोकप्रिय कभी बन ही नहीं पायी, दूसरी ओर राज्यसंचालकों की भी वह गरिमा नहीं जिसका आधार लेकर पुलिस कुछ जन-सम्मान प्राप्त कर सके।

बिजली आई और चली गई। फिर आई और फिर चली गई। ऐसे ही निरंतर चल रहा है। और इसके साथ ही उम्मीद की रोशनी भी आती और चली जाती है। कभी लगता है, सब कुछ ठीक-ठाक हो जाएगा। हम आगे बढ़ेंगे। तभी रोशनी फिर गुल हो जाती है। फिर वही अंधेरा। और उस अंधेरे में ही हम टटोलना शुरू करते हैं। टकरा जाते हैं। पास रखा लैम्प का शीशा चूर-चूर हो जाता है। जो कुछ भी बचा-खुचा तेल था उसमें, वह भी फर्श पर गिर कर फैल जाता है। तब घबड़ाहट होती है—रात अंधेरे में ही काटनी पड़ेगी। न जाने इस बीच क्या हो जाए!

इन सब को आप प्रतीक ही समझिए। और प्रकाश तो प्रतीक है भी सत्य

और सौभाग्य का। जब प्रकाश ही अनियमित और अनिश्चित हो जाए, तो देश का भाग्य-भविष्य संदिग्ध हो ही जाता है।

लेकिन अंधेरे की भी अपनी एक छटा है, श्याम-छटा। उसकी भी एक चमक है, काली चमक। उसका भी एक साम्राज्य है, काला-साम्राज्य। और उस काले साम्राज्य की अपनी अलग चहल-पहल है, अलग ऐश्वर्य है: काला व्यवसाय, काला बाजार, काला धन और उसका काला ऐश्वर्य। इस काले बाजार में बसने-बटोरने वालों की संख्या भी अनवरत बढ़ती ही जा रही है। अपनी श्री-समृद्धि का सहायक अंधेरा जिन्हें सुखद और सुहावना लगता है, वे प्रयत्नशील रहते हैं इस अंधेरे को और अधिक फैलाने और इसे गहन और गरिष्ठ बनाने के लिए।

विद्युत बोर्ड और उसमें नियुक्त हजारों लोग—लाइनमैन, टेक्निशियन्स, छोटे और बड़े बाबू, कनिष्ठ और वरिष्ठ अभियंता से लेकर बोर्ड के अध्यक्ष और मंत्री तक, जिनका जिम्मा घर-घर प्रकाश पहुंचाने का है—दो खेमों में बंटे दीखते हैं। एक छोटे से खेमे में वे थोड़े-से लोग, जो प्रकाश पहुंचाने-फैलाने को व्यग्र हैं; और दूसरे बड़े खेमे में वे ढेर सारे लोग, जो रोशनी गुल करने को बेताब। अंधेरे-उजाले की यह आंख-मिचौनी सभी सरकारी उद्योगों और महकमों में चल रही है। सारे देश में ऐसे ही परस्पर-विरोधी छोटे-बड़े खेमे आपको दीख पड़ेंगे। लेकिन छोटा खेमा छोटा है। उसमें लोग थोड़े हैं। वे कमजोर पड़ जाते हैं। उनका वश नहीं चल पाता। देश में प्रजातंत्र जो चल रहा है! सो सर्वत्र संख्या के बाहुल्य का प्रताप ही चलेगा। तो रोशनी भी बार-बार गुल होती रहेगी। और बहुत देर तक गुल रहेगी। तब क्या हमें अंधेरे में ही जीना सीखना पड़ेगा?

सार्वजनिक क्षेत्र के चार बड़े उद्योग—बिजली, कोयला, इस्पात और रेलवे—में जिस बड़े पैमाने पर लूट चल रही है उसका अंदाज़ा लगाना मुश्किल है। पहले ज़रा इन चारों का पारस्परिक संबंध देखिए: बिजली न पहुंचे तो खदानों से कोयला निकालना मुश्किल। और कोयला न मिले तो बिजली बनना बंद। फिर बिजली और कोयला कारखानों तक न पहुंचे तो फाउंडरियां इस्पात उगलने से इंकार कर दें। और यदि बिजली, कोयला और इस्पात मुहैया न हों तो, न रेल की लाइन बनें, न डब्बे-वैगन तैयार हों, न इंजिन में स्टीम बने और न गाड़ी का पहिया हिले। और जब रेल का चक्का जाम, तो खदानों से कोयला न तो पावर-हाउस तक पहुंचेगा, न इस्पात-भट्ठियों तक और न लोकोशेड में ही। इस तरह, ये चारों या तो एक दूसरे को आगे बढ़ाते हैं या फिर पीछे ठेलते हैं।

सच पूछिए तो संपूर्ण सार्वजनिक उत्पादन-व्यवस्था बैक-गियर में डाल दी गई है। हम पीछे ही हटते जा रहे हैं। हैवी इंजीनियरिंग कारपोरेशन को चालीस करोड़ पचानवे लाख का घाटा। भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स के मुनाफे में आठ करोड़ तीस लाख की कमी। हिन्दुस्तान मशीन-टूल्स के मुनाफे में लगभग सात करोड़

का ह्रास। देश के सोलह सार्वजनिक उद्योगों में कुल मिला कर तैंतीस करोड़ त्रेसठ लाख का घाटा। ये सब सरकारी आंकड़े बोल रहे हैं—1980-81 के वित्तीय वर्ष से संबंधित भारत सरकार के उद्योग मंत्रालय द्वारा प्रसारित आंकड़े। वैसे इन आंकड़ों का ज्यादा भरोसा नहीं। ये इस हिकमत से तैयार किए जाते हैं कि सुनकर अचानक सांघातिक झटका न लग जाए।

बोकारो इस्पात कारखाने के भंडार से हर रोज करीब दो लाख का सामान चोरी हो जाता है। बिजली बोर्ड के ट्रांसफ़ार्मर, छोटे-बड़े पार्ट-पुर्जे, कॉपरवायर (तांबे के तारों) आदि की चोरी, खदानों के हजारों ट्रक कोयले की तस्करी, रेलवे वैगन को तोड़ कर निकाले गए माल और रेलवे क्लेमों के घपलों का ठीक से हिसाब लगाया जाए, तो मामला हर साल कुछेक अरब का निकले। और ये सब घपले एवं कांड बड़े ही संगठित एवं नियोजित ढंग से चल रहे हैं—प्रतिष्ठानों के मजदूर, आफिस के छोटे-बड़े बाबू, विभागीय अधिकारियों, ट्रेड यूनियनों के नेताओं और ठेकेदारों की मिलीभगत से। और वो जिसे आप निगरानी विभाग कहते हैं न, उसकी निगरानी के बावजूद।

शायद यह कहानी रवि बाबू ने लिखी थी : किसी राज्य के बाजारों में पानी मिला दूध बिकना शुरू हुआ तो जन-स्वास्थ्य तेजी से बिगड़ने लगा। शिकायत राजा तक पहुंची। इस हानिकारक धंधे को रोकने के लिए राजा ने कई निगरानी अफसर बहाल किए। नतीजन दूध और पतला हो गया। राजा को हैरत हुई तो खुफिया भिड़ाया। भेद यह खुला कि धंधे के मुनाफे में निगरानी अधिकारियों का भी हिस्सा बंध गया था। मुनाफा पतला न होने पावे, इसलिए दूध में ही और ज्यादा पानी मिलाने की जरूरत पड़ गई थी।

पचासों बरस पुरानी वह कथा अब जाकर पूरी तरह सार्थक हुई है। यह तो हाल हो गया है हमारे उद्योग-धंधों का। कमाल कर दिखाया है राष्ट्रीयकरण और ट्रेड-यूनियन्स ने : आम जनता के भाग्य में शोषित-पीड़ित होना लिखा है, वे शोषित-पीड़ित होते रहेंगे। सदियों पूंजीपतियों ने शोषण किया, अब सरकारी अधिकारी और संगठित श्रमिकों की भी बारी है।

राष्ट्रीयकरण का भी जनता के शोषण में बड़ा योगदान है। जब खदानों का राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ था तो, कोयला आपके दरवाजे तक लुढ़कता चला आता था। पांच रुपये मन के भाव। गृहिणियां एक बार अंगीठी सुलगा लेतीं तो थाल में पांच पकवान परोस दिए जाते। अब बोरा लेकर तलाशते फिरिए कोयला, और मिल जाए तो अट्ठारह-बीस रुपए गिन दीजिए एक मन के। और ऐसा मत समझिएगा कि बोरे में आप कोई असली काला बाघ मार लाए। श्रीमती जी उसकी नस्ल पहचान कर जब हाथ-पांव पटकना शुरू करेंगी तो भीगी बिल्ली की तरह सहम जाना होगा। भात पका नहीं कि ताव ठंडा पड़ गया। और कोयला डालिए।

दाल अभी पकी नहीं कि चूल्हा फिर खूराक मांगने लगा। इस तरह कोयले की महावारी खपत तिगुनी बढ़ गई और घंटे-सवा घंटे की रामरसोई तीन-चार घंटों की कसरत।

और बिजली ! उसकी तो पूछिए ही मत। कभी-कभार केवल इसलिए चली आती है कि लोग-बाग उसे बिल्कुल भूल न बैठें। कम से कम इतना तो याद रखें कि बिजली नाम की भी एक चीज होती है—अति चपला-चंचला। और उस बिजली के जो बिल आपके पास आते हैं; वे कोई मीटर पढ़ कर तैयार नहीं किए जाते।-थाक का थाक बिल-फॉर्म लेकर बिजली-कर्मचारी किसी चाय की दूकान पर बैठ जाएगा। घंटों चाय की चुस्कियां लेता रहेगा। आपसे जैसा नेह-नाता रहा और आपकी किस्मत से उस वक्त जैसा उसका मूड रहा, उसी के अनुसार वहीं बैठे-बैठे बिल फॉर्म में भुगतान की रकम बैठती जाएगी। उसके बाद आप चक्कर लगाते रहिए बिजली आफिस का। बिल ब्रह्मा की लकीर है : कोई खेल नहीं जो आसानी से बदल जाए। और जो कल-कारखाने वाले चिल्लाते हैं—"बिजली नहीं मिलती तो, काम ठप्प हो जाता है, नुकसान सह रहे हैं," वे कोई मूर्ख नहीं कि अपना अलग जेनरेटर लगा लें। दो नम्बर के धंधे में, दो नम्बर की बिजली उन्हें ज्यादा बरकत देती है। सलामत रहे दस्तूरे सलामी। बाबुओं का हाथ गर्म रखते जाएं तो, पांच हजार की भी बिजली खर्च कर लें, कोई परवाह नहीं। बिल डेढ़ ही दो हजार का आएगा। अपना जेनरेटर चलाने से यह दो नम्बर की बिजली ज्यादा सस्ती पड़ेगी। कहीं कोई देखने-सुनने वाला नहीं। अधिकारियों की मजाल नहीं कि बेईमान मुलाजिमों को मुअत्तल या बर्खास्त कर दें। जबरदस्त ट्रेड यूनियन्स हैं—"मजदूर एकता जिंदाबाद," घेराव, पथराव, साहब को मार भगाओ।

उत्तर प्रदेश इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड के अध्यक्ष पर कर्मचारियों द्वारा घातक आक्रमण हो चुका है, और इधर बिहार बिजली बोर्ड के अध्यक्ष भी पिट चुके हैं। उसके पहले, फौजी कोचर साहब जब बोर्ड के चेयरमैन हुए थे और तमाम गड़बड़ियों को दूर करने के लिए फौजी सख्ती से काम लेना शुरू कर दिया था तो, धंधा चलाने वाले छोटे मुलाजिमों से लेकर बड़े इंजीनियर तक ने कोहराम मचा दिया और जनता सरकार के विद्युत मंत्री महोदय ने बिग्रेडियर कोचर को 'एबाउट टर्न' का कमांड कसते हुए, उन्हें अपने घर की ओर 'क्विक मार्च' करवा दिया। आज तो स्थिति यह है कि मंत्री यदि ठान ले तो बड़े से बड़े अफसर को मामूली चूक पर भी घर बिठवा दे सकता है; किंतु एक चतुर्थ वर्गीय चपरासी अथवा अराजपत्रित बाबू को, गंभीरतम अपराध पर भी आसानी से हिलाया नहीं जा सकता। मुअत्तल या बर्खास्त करने की बात तो दूर रही। अगर बर्खास्त हो भी गया, तो समझ लीजिए, उसकी किस्मत खुल गई। वह 'हीरो' बन जायगा।

कोई अट्ठारह-बीस साल पहले, पटना सचिवालय के एक बाबू ने अराजपत्रित कर्मचारी संघ द्वारा आयोजित एक सभा में भाषण देते हुए तत्कालीन मुख्यमंत्री को गालियों से सराबोर कर दिया। उसकी बर्खास्तगी हो गई। समाजवादी नेता (स्व०) रामानन्द तिवारी ने बिहार राज्य अराजपत्रित कर्मचारी संघ पर अपना प्रभाव जमाने के लोभ में उस बाबू को उछालना शुरू किया। पहले उसे अपनी पार्टी में खींचा। फिर थोड़े ही दिनों बाद, जब विधान-परिषद का चुनाव आया, तो उसे पार्टी टिकट दे दी। वह जीत कर एम० एल० सी० हो गए। कुछ वर्षों बाद एम० पी० भी बन बैठे—राज्य सभा के माननीय सदस्य। सन् '74-'75 में वह 'नान-गज़ेटेड हीरो' जार्ज फर्नाण्डीस के डायनामाइट केस में सह-अभियुक्त बनाए गए थे। और जब इमर्जेंसी लागू हुई तो उन्हें लकवा मार गया और प्राण-दान याचना में वे एक सरकारी गवाह बन बैठे। जिन दिनों वे नौकरी से बर्खास्त हुए थे, मैं भी प्रजा सोशलिस्ट पार्टी से संबद्ध था। किंतु मुझे यह बात बिल्कुल अच्छी न लगी थी कि जो सरकारी कर्मचारी जनसभा में सरेआम मुख्य मंत्री को गाली दे, उतनी घोर अभद्रता प्रदर्शित करे, ऐसे दुर्विनीत एवं अनुशासनहीन कर्मचारी को उतना ऊंचा उछाला जाए, विधान-परिषद की सदस्यता से विभूषित कर दिया जाए। सोचिए न ! यदि अवज्ञाकारिता और अनुशासनहीनता का इतना मूल्यवान पुरस्कार प्राप्त होने लग जाय, तो कोई भी कर्मचारी विनयी, आज्ञाकारी, संयमी तथा शिष्ट रहना क्यों चाहेगा ? उस घटना के बड़े घातक मनोवैज्ञानिक दुष्परिणाम हुए। तभी से सभी वर्गों के अराजपत्रित कर्मचारी अनियंत्रित होते चले गए। भाग्य का बुलंद-दरवाजा खुलवाने के लिए, अधीनस्थ कर्मचारियों ने उच्च अधिकारियों पर दुलत्तियां चलानी शुरू कर दीं। अब तो इन बाबुओं की हेकड़ी के सामने सारा प्रशासन हाथ बांधे खड़ा है। लाखों की संख्या और उस पर संघ-बल का जोर। संघ-बल बुरी बात नहीं थी यदि उसमें दायित्त्व और कर्त्तव्य-बोध का भी समावेश होता। किंतु इन्हें तो आनंद आता है दोष निकालने, अड़चन डालने और काम रोकने में। इन बातों से इनका मुख्य उद्देश्य यह प्रकट करना होता है कि, हुआ करे कोई मिनिस्टर, सेक्रेटरी, डाइरेक्टर; मगर, "हम किसी से कम नहीं।" मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि इन बाबुओं के अचेतन मन में जो हीनभाव-मनोग्रंथियां हैं, उनके ही हिलोरों से उद्वेलित होकर वे वैसा आचरण करते हैं।

शायद किसी बाबू से ऑफिस में मिलने का आपको भी कभी तजुर्बा हुआ हो। बाबू साहब टेबल पर पांव पसारे बैठे दीखेंगे। जैसे ही आप पर नजर पड़ी कि झट पांव नीचे किया और एक फाइल खींच कर आंख गड़ा ली। आप खड़े रहिए। अपने होठों पर चुटकी भर मुस्कान लेपते हुए सादर निवेदन कीजिए—"बड़ा बाबू ! प्रणाम।" (बड़ा बाबू व्यक्तिवाचक संज्ञा से रूपांतरित होकर जातिवाचक

संज्ञा बन गया है। दफ्तरों में कुर्सी पर बैठे सभी बाबू, गरजमंद लोगों द्वारा, 'बड़ा बाबू' ही संबोधित किए जाने लगे हैं)। बड़ा बाबू आपकी ओर ताकेंगे नहीं। मगर आप हिम्मत मत हारिए। पुनः प्रणाम निवेदन कीजिए। आप पाएंगे, बड़ा बाबू फाइल में अब कुछ नोट करने लग गए हैं। सो, आप अभी धैर्य-पूर्वक खड़े रहिए। बड़ा बाबू बहुव्यस्त व्यक्ति हैं। पुनः प्रणाम निवेदन कर उनका ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा कीजिए। एक नज़र आपकी ओर फेंकते हुए बड़ा बाबू कागज के खेत में कलम की नोक से हल जोतते ही जाएंगे। आपको बैठने के लिए कहना उनकी शान के खिलाफ पड़ता है, इसलिए पास में कोई खाली कुर्सी या स्टूल मिल जाए, तो खींच कर खुद ही बैठ जाइए। बीच-बीच में हल्के-हल्के टुभुकते रहिए : "···बाप रे! काम का कितना बोझ रहता है आप पर···आप ही हैं जो सब चल भी रहा है, नहीं तो यहां किसी को मालूम भी है कि किस गुत्थी को कैसे सुलझाया जाए···" आदि, आदि। तब जाकर उनके श्रीमुख से संक्षिप्त वाणी प्रस्फुटित होगी—"कहिए, क्या काम है?" इस पर सीधे काम की बात कह डालने की आतुरता यदि आपने दिखा दी तो आप चूक गए। बस इतना ही आग्रह कीजिए, "बड़ा बाबू! अभी काम-वाम छोड़िए। काम करते-करते तो आप चूर हो गए हैं। चलिए, थोड़ी चाय-वाय हो जाए।"

तो बड़ा बाबू जम्हाई लेते हुए उठेंगे और चलते-चलते दो-चार संगी-साथियों को भी बटोर लेंगे। हलवाई के यहां मिठाई मुफ़्त मिल जाने पर बाबा के नाम फ़तवा पढ़ने वालों की दुनिया में कमी नहीं। सो सारी मंडली बड़ा बाबू के नेतृत्व में उस पूर्वपरिचित एवं पूर्ण प्रशिक्षित दूकान पर पहुंच जाएगी जहां आपको कुछ कहने की जरूरत नहीं। अभी आप पूछ ही रहे होंगे कि क्या मंगवाया जाए तब तक टेबल पर तड़ातड़ बड़े-बड़े समोसे, सेव-दालमोठ, तीन-चार किस्म की मिठाइयों की तश्तरियां सब के सामने बिछ जाएंगी। अगर आपकी जेब भारी न हुई तो पसीना छूट आएगा घबड़ाहट से कि इतने सारे व्यंजनों का बिल न जाने कितना हो जाए। संकोच से आप यह भी नहीं कह सकते कि फलां चीज ले जाओ और फलां रहने दो। आप चौबेजी चले छब्बे बनने, दूबे बन कर निकले। इस तरह चाय-पान पर पच्चीस-पचास रुपये खर्च करने के बाद, मंडली से अलग फुटकाकर, तब बड़ा बाबू से काम और बच्चों की मिठाई के रुपयों की बात कीजिए। उसके बाद आपकी गाड़ी बढ़ती चली जाएगी।

हां, अगर आप पहले ही सीधे अफसर से मिल आए, तो उनका छोटा-सा रूखा जवाब होगा—"जाइए! साहब से ही कहिए, वे ही कर सकेंगे।" और साहब फाइल मांगते रह जाएंगे, फ़ाइल मिलेगी ही नहीं। चक्कों में आप तेल-मोबिल न डालिए तो सचिवालय की एक मेज से दूसरी मेज की दो-चार गज दूरी तय करने में फ़ाइल को सामान्यतः छह महीने लग जाते हैं। ऐसी स्थिति में,

अंतिम निष्पादन तक, कई टेबलों का चक्करदार सफर पूरा करने में कुल कितना समय लगेगा, सो जोड़ लीजिए।

ये बाबू लोग संघ और भाईचारे की बात करते हैं। आपसी भाईचारा तो अब ये ऐसा निभाने लगे हैं कि अपने ही विभाग के दूसरे सेक्शन के चपरासी-किरानी का निजी एरियर बिल पास करने या बकाया भुगतान देने के लिए उनसे घूस ले लेने में इन्हें थोड़ी भी हिचक नहीं होती। इतना अधःपतन हो गया है इनका।

सारी प्रगति रोक रखी है आफिस के इन बाबुओं ने। एक इंच भी गाड़ी सरकने नहीं देते अपनी मर्जी के खिलाफ। हर कदम पर जंजीर खींच देंगे, होज-पाइप काट देंगे। देश रसातल में चला जाए, इनको क्या ? देश का इन्होंने कोई ठेका ले रखा है ? इनकी अपनी तनख्वाह बढ़ती रहनी चाहिए, महंगाई-भत्ते बढ़ते रहने चाहिए, मेडिकल-एलाउंस, हाउस-रेंट, छुट्टियां सब मिलती रहनी चाहिए; नहीं तो घेराव-पथराव, जुलूस-हड़ताल जैसे हठयोग में इन्हें सिद्धियां तो प्राप्त हैं ही। कैसा-कैसा मंत्र फूंक गए महारथी लोग ! "हमारी मांगें पूरी हों, चाहे जो मजबूरी हो···जो हम से टकराएगा, चूर-चूर हो जाएगा···" आप समझते होंगे, सरकार इनसे टकराती होगी और प्रशासन चूर-चूर होता होगा। असल में टकराने तो लगा है इनसे करोड़ों देशवासियों का हित और चूर-चूर होता जा रहा है भारत का भविष्य।

पहले कहते थे : वेतन कम मिलता है, गुजारा नहीं होता; काम क्या करें ? लेकिन अब ? अब तो वेतन, भत्ते सब काफी मिलते हैं। पंद्रह वर्ष पहले जिन्हें डेढ़ सौ मिलते थे, अब वे हजार-बारह सौ पाने लगे हैं। चपरासी तक पांच-छह सौ महीना उठाते हैं। कहेंगे, महंगाई भी तो बढ़ गई है। महंगाई सारा देश झेल रहा है या सिर्फ इनका ही वर्ग ? और महंगाई के संबंध में यह बात भी तो विचारणीय है कि महंगाई के कारण वेतन तो बढ़ जाता है, किंतु वेतन बढ़ते ही बाजार भाव भी तो बढ़ जाते हैं। यही चक्र चलता रहा, तो मुक्ति कहां ? जो भी हो, यह सब अभाव के कारण नहीं बल्कि उस ललक के कारण ज्यादा है जो दूसरों से बढ़-चढ़ जाने के लिए आदमी को व्याकुल रखता है। केवल पैसों की कमी के कारण ही सारी बेईमानी चलती होती, तब तो जो लाख-करोड़ कमा चुके हैं, उन्होंने कब का अपना सारा गोरख-धंधा बंद कर दिया होता। असल में इन सब का संबंध बोध, विचार और संस्कार से है। नौकरी केवल जीविका का साधन ही तो नहीं, लोक-सेवा का माध्यम भी है। लोकसेवा के लिए कोई दूसरा शरीर मिलेगा क्या ? स्वार्थ और परमार्थ, दोनों तो इसी तन से करना है। इसी तन को खटा कर अपना और बाल-बच्चों का पेट भी भरना है, और इसी से तथा उतने ही समय में, जो इस धरती पर जीने के लिए हमें और आपको मिले हैं, समाज का भी ऋण चुकाते चलना है। बस इतना-सा ही बोध हो, तो बात

बिल्कुल बदल जाए।

अलबर्ट आइंस्टीन एक विलक्षण वैज्ञानिक ही नहीं, युगस्रष्टा, महामानव भी थे। पुलकित हो उठता है तन-मन जब उनकी अमरवाणी स्मरण आतीहै। उन्होंने लिखा है :

"प्राय: चौबीस घंटों में न जाने कितनी बार मुझे स्मरण हो आता है कि मेरे अंतर और बाहर का विकास अगणित जीवित और मृत मनुष्यों के परिश्रम का फल है। जैसे मैंने उन व्यक्तियों से बहुत कुछ पाया है, ठीक उसी तरह मुझे भी अपने परिश्रम से समाज को दान भी करना है।"

इस चेतना का अंश मात्र भी हम ग्रहण कर सकें, तो हमारा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन धन्य हो जाए। किंतु स्वार्थ और लोभ ने हमें इतना अंधा बना दिया है कि हम देख ही नहीं पाते, समाज और अपनी ही संतत्ति को हम क्या दिए जा रहे हैं; उनके लिए क्या छोड़े जा रहे हैं। नौकरी-पेशा लोगों ने जो तरीके अपना लिए हैं, उनसे अब सारा समाज लज्जा, विक्षोभ और संकट से ग्रस्त हो गया है।

ये बिजली बोर्ड वाले जब हड़ताल पर गए तो बिजली चालू रखने के लिए प्रशासन ने वैकल्पिक व्यवस्था की। सेना के लोग और दूसरे विभागों के कर्मचारी साथ मिलकर सप्लाई जारी रखने का प्रयास करते रहे। किंतु हड़तालियों ने सीढ़ी और पिलास लेकर रात के अंधेरे में चुपके-चुपके घूमना शुरू कर दिया और जब जहां मौका मिला, ट्रांसफॉर्मर को क्षतिग्रस्त कर देते और लाइन काट देते थे। सारा नगर अंधेरे में डूब जाता था।

सबसे निकृष्ट काम तो उस दिन हुआ जब सन् '72 के दिसम्बर में पटना अस्पताल के हड़ताली कर्मचारियों ने प्रशासन को मजबूर कर अपनी मांगें तुरंत मनवा लेने के लिए, हास्पिटल वार्ड्स के अंदर और बाहर बरामदे में पाखाना उंडेल दिया। उतने पर भी उनका जी ठंडा नहीं हुआ तो रसोई घर के अंदर पाखाने से भरे कुछेक कनस्तर रख आए। सभी मेहतर-स्वीपर तो हड़ताल पर थे, उसे साफ कौन करता ? सो, दो-एक दिनों तक सब वैसे ही पड़ा रहा।

तो, ऐसे चुकाने लगे हैं लोग समाज का ऋण—अपने परिश्रम से समाज को हम जो दान दे रहे हैं, वह सब कैसा है सो देख लीजिए ! स्वर्ग और नरक का अंतर है आइंस्टीन के उस विचार और हमारे ऐसे आचरण में।

और देशों में भी हड़तालें होती हैं। जरा उनका ढंग भी देखिए ! सुनते हैं, जापान के मजदूर जब हड़ताल पर जाते हैं तो, केवल एक काला बिल्ला बांध लेते हैं जिस पर लिखा होता है—'हड़ताल पर हूं।' काम रोकते नहीं। नित्य की भांति उसी निष्ठा और नियमितता से काम करते रहते हैं। प्रशासन भी इतना संवेदन-शील कि उतने से ही बेचैन हो उठता है। निबटारे के लिए फौरन संधि-वार्ता

प्रारंभ हो जाती है। जापानी हड़ताल का एक और अनूठा तरीका सामने आया है : कुछ ही दिनों पहले एक जूता-कारखाने के मजदूरों ने हड़ताल शुरू कर दी। ठीक समय पर फैक्ट्री पहुंचे और पूरी मेहनत-मुस्तैदी से काम शुरू कर, शाम तक अपना दैनिक-कोटा पूरा कर दिया। हजारों जूतों की ढेर लग गई। लेकिन यह क्या ! सब जूते तो केवल बाएं पांव के ही हैं। ये कहां और कैसे बिकेंगे ? मालिक-मैनेजर सर के वल दौड़े आए। मजदूरों से संधि हुई। दूसरे दिन मजदूरों ने 'ओवर-टाइम' मुफ्त खट कर सारे जूतों का जोड़ा लगा दिया। एक घड़ी का भी 'प्रोडक्शन-लॉस' नहीं। यही रहस्य है उस देश की अनुपम उन्नति का। द्वितीय विश्वयुद्ध में ध्वस्त हो चुका था जापान। राख की ढेर से उठकर विश्व के अति विकसित औद्योगिक देशों की अगली पंक्ति में खड़ा हो गया है। प्रगति एवं समृद्धि में आज उसका सीधा मुकाबिला अमेरिका से है।

स्व० टी० परमानन्द जी सुना रहे थे। वे एक पुराने ट्रेड यूनियन लीडर थे। आज के तथाकथित मजदूर नेताओं से भिन्न। ऊंचा स्तर था उनका। पढ़ने-लिखने से काफी लगाव। विश्व-विख्यात विप्लवी-विचारक एम० एन० राय के निकट रह चुके थे। इसलिए परमा बाबू के व्यक्तित्व और विचारों पर राय का भी प्रभाव था। भारतीय मजदूरों की ओर से एक शिष्ट-मंडल में बरसों पहले परमा बाबू कहीं विदेश गए थे। ठीक याद नहीं किस देश का नाम बताया था, शायद पश्चिम जर्मनी का ही। वहां किसी फैक्ट्री में जब उन्हें घुमाया जा रहा था तो, उनकी दृष्टि एक ऐसे मजदूर पर पड़ी जो स्पष्टत: भारतीय दीखता था। परदेश में अपने लोग ज्यादा आकर्षक होते हैं न, सो उसकी ओर लपकते हुए उन्होंने अंग्रेजी में पूछा : 'आर यू ऐन् इंडियन ?' उतर में केवल अपना सिर हिलाकर स्वीकारात्मक संकेत प्रकट करता हुआ वह व्यक्ति तेजी से आगे बढ़ गया। उसका वैसा रूखा व्यवहार टी० परमानन्द जी को थोड़ा अखरा। भारतीय समझकर उसकी ओर लपके थे और था भी वह एक भारतीय ही, किंतु उसने बिल्कुल बेगानापन ही दिखलाया। कुछ देर बाद जब फैक्ट्री का सब काम-काज बंद हुआ तो वही आदमी लपका हुआ उनके पास पहुंचा और अत्यंत सौजन्यतापूर्ण ढंग से हिंदी में बोला—'माफ करिएगा ! उस वक्त वर्किंग-आवर (काम का समय) था, काम का हर्ज हो जाता इसलिए आप से बात नहीं कर सका। अब सब निबटा चुका हूं। सचमुच आप से यहां मिलकर बड़ी खुशी हुई। कृपया हमारे घर चलकर परिवार के लोगों को भी खुशी का मौका दें। हम सब साथ-साथ चाय तो पिएं।' घर गए तो उसने बड़ी खातिरदारी की।

ऐसा वातावरण है उन देशों का। वातावरण और संगति का प्रभाव भी कितना रूपांतरकारी होता है, सो भी आपने देख लिया। वास्तव में अनुकरण करने की बातें तो यही सब हैं जिनसे हम भी निहाल हो सकते थे, और हो सकते हैं।

चार

उस दिन प्रधानमंत्री ने एक अत्यंत विचारोत्पादक प्रसंग छेड़ा। उन्होंने चिंता व्यक्त की कि सत्ता के प्रति जन आदर का भाव क्रमशः लुप्त होता जा रहा है। एक महीना भी नहीं व्यतीत हो पाया था कि जैसे प्रधानमंत्री के उस कथन की पुष्टि में उनके ही दल के एक विधायक ने पूर्वी चम्पारण के जिलाधीश पर जूते से प्रहार कर दिया। ढाका थाना के इंदिरा-कांग्रेस विधायक ने अपने क्षेत्र के कुछ लोगों को सामाजिक सुरक्षा पेंशनें दिलवाई थीं। छान-बीन कर अधिकारियों ने रिपोर्ट दी कि उन लोगों को जीविका के अन्य साधन उपलब्ध हैं। इसलिए, नए ज़िलाधीश के आदेश से पेंशनें रद्द कर दी गईं। जिलाधीश की धृष्टता और अपने अपमान का प्रतिकार विधायक ने जूते से लिया। अखबारों में मैंने जब समाचार पढ़ा, तो मुझे इक़बाल का वह शे'र याद आ गया :

थीं पेशे-नज़र कल तो फ़रिश्तों की अदाएं
आईना-ए-अय्याम में आज अपनी अदा देख

हम में से जिन भाग्यशाली लोगों ने आजादी के फरिश्तों की अदाएं देखी थीं, राजनीति और सत्ता के इन खिलाड़ियों के करतब देखकर उनका दम घुटने लगता है। कैसे-कैसे लोग सत्ता में आ बैठे। किस रास्ते वे आए, किन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए और किन उपायों से वे सत्ता का उपयोग कर रहे हैं—इन बातों पर प्रधान मंत्री ने ध्यानपूर्वक विचारा होता, तो उन्हें न केवल सत्ता के प्रति जन-सम्मान के लोप का कारण ही मालूम हो जाता बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए उनकी चिंता भी दूर हो जाती। क्योंकि, कारण जान लेने के बाद निदान तो बहुत कुछ उनके अपने ही वश की बात थी। लेकिन एक पुरानी कहावत ठीक ही चलती आई है कि जो सचमुच निद्रामग्न हो, उसे तो जगाया जा सकता है, किंतु जो स्वांग-निद्रा में लीन हो, उसे कोई कैसे जगाए ! पिछले कुछ वर्षों की घटनाओं

को बहुधा जब पलटकर देखता हूं और जब यह ख्याल आता है कि इन वर्षों में हमारे बीच अपूर्व क्षमता और सामर्थ्य से युक्त दो महान् हस्तियां मौजूद थीं— जे० पी० और इंदिरा गांधी—तब तरस आता है कि कितना अभागा है यह देश जिसने उन दोनों चमत्कारी शक्तियों का दुरुपयोग ही अधिक किया।

प्रधानमंत्री पद पर कोई व्यक्ति कितने दिनों तक बना रहा इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं। वास्तविक महत्त्व तो इस बात का है कि अपनी कार्यावधि में वह क्या कुछ कर पाया और किस ढंग से कर गया। उपलब्धि और ख्याति की पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुकी थीं इंदिरा जी। इतिहास में प्रमुख स्थान प्राप्त कर दीर्घ स्मरणीय बने रहने के लिए उतना ही पर्याप्त था। शेष काल यदि उन्होंने जन-जीवन में नैतिक मूल्यों और राजनैतिक मर्यादाओं की स्थापना और उनके उन्नयन के प्रयास में लगा दिया होता, तो युग-युग तक लोग उनके नाम जपते रहते। स्थिति और सामर्थ्य की दृष्टि से उन जैसा संपन्न नायक देश में अभी अन्य कोई नहीं। लेकिन लिप्सा जो न अंधेर करा दे। मुझे इस बारे में रंचमात्र भी संदेह नहीं कि भावी इतिहासकार इंदिरा जी की अनेक शानदार उपलब्धियों का बखान करते समय इतनी आह अवश्य भरेंगे कि उच्च आदर्शों के लिए उनका व्यक्तित्व सर्वथा प्रेरणाशून्य था। पिता और पुत्री के बीच का यह अंतर भी इतिहास का एक दुःखद प्रकरण रहेगा।

इस प्राचीन अध्यात्मवादी देश में सत्ता के प्रति अब कोई अनासक्त दीखता ही नहीं। एक फ़रिश्ता था—और चूंकि फ़रिश्ता था इसलिए अपवाद भी— देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, जो अब स्वर्ग में हैं। लेकिन यादों के झकोरों के साथ उसकी भीनी-भीनी सुगंध जब-तब धीरे से हमें छूकर, फिर दूर चली जाती है। भारतीय गणराज्य के सर्वोच्च संवैधानिक पद पर आसीन राजेन्द्र बाबू जब राष्ट्रपति के पद-भार से निवृत्त हुए, तो अपनी विदाई की सौम्य-संध्या-वेला में, बाल-सुलभ अनुतोष प्रकट करते हुए बोले, "···दिन भर की पढ़ाई के बाद छुट्टी मिलने पर बच्चों को जैसी खुशी होती है, अपने पद-भार से मुक्त होने पर वैसी ही खुशी मुझे आज मिल रही है···"

लेकिन, अब तो जिनके पांव कब्र में लटक चुके हैं, उन्होंने भी हाथ कुर्सी की ओर ही फैला रखे हैं। मोरारजी भाई, चरण सिंह, जगजीवनराम, सब एक ही जैसे हैं। असल में पिरामिड बनवाने का समुचित स्थान तो भारत ही था, सो भी आजादी के बाद का भारत। पंचवर्षीय योजनाओं पर अरबों-खरबों रुपये खर्च कर दिए गए, किंतु किसी को भी यह नहीं सूझा कि दो-एक पिरामिड यहां भी बनवा दें ताकि कुर्सीनशीन लोगों के मरने के बाद उनकी लाश के साथ उन सब की अपनी-अपनी कुर्सी भी उसमें दफन कर दी जाए।

सत्ता अपने-आप में तो मात्र एक भाववाचक संज्ञा है, एक अमूर्त एवं निष्क्रिय

अवधारणा। जब वह मूर्तरूप धारण करती है तभी वह क्रियाशील होती है। और सत्ता मूर्तिमान होती है सत्ताधारियों में। उनके ही आचार-विचार, स्वभाव-शैली, गुण-दोष निर्धारित करते हैं सत्ता की मर्यादा, महिमा और गरिमा को। सो, लोग जब सत्ता के प्रति समादर अथवा निरादर का भाव प्रकट करते हैं, तो उनका लक्ष्य सत्ताधारियों की ओर ही होता है।

21 जून (1981) के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में एक समाचार के मोटे शीर्षक को प्रधानमंत्री सहित देश और दुनिया के अनेक लोगों ने पढ़ा होगा : 'मिनिस्टर्स हैंड इन रेप केस राक्स कर्नाटक'। कर्नाटक के पुलिस डी० आई० जी० श्री एन० डी० भट्ट ने आरोप की छानबीन के बाद यह रिपोर्ट दी कि राज्य के योजना एवं वक्फ मंत्री श्री सी० एम० इब्राहीम पर अपहरण तथा बलात्कार के दुष्प्रेरण के अभियोग में भारतीय दंड संहिता की धारा 107, 362 एवं 375 के अंतर्गत फौजदारी मुकदमा चलाया जाए। ज्ञातव्य है कि वक्फ मंत्री के एक भाई कुछ ही दिनों पहले एक गिरोह-द्वंद्व में मारे गए थे और हिंदू महासभा के एक कार्यकर्ता की हत्या में उनके दूसरे भाई, खदर, का नाम लिया जाता है। उससे पूर्व, श्री भट्ट ने राज्य के एक अन्य 'कैबिनेट' मंत्री श्रीमती रेणुका राजेन्द्रन के विरुद्ध एक बेरोजगार स्नातक को पुलिस सब-इंस्पेक्टर के पद पर नियुक्ति का आश्वासन देकर पच्चीस हजार रुपये रिश्वत लेने के आरोप की जांच-पड़ताल की थी। बाध्य होकर मंत्री महोदया को पदत्याग करना पड़ा था। परंतु श्री इब्राहीम के मामले में गृह-सचिव के आदेश पर स्वयं श्री भट्ट को ही अवकाश पर जाने के लिए बाध्य होना पड़ा।

यह तमाशा हम केवल इंदिरा-राज में ही देखते हैं, सो बात नहीं। जनता सरकार में भी बिहार के कल्याण मंत्री एक रात पटना सिटी स्थित 'केयर-होम' में अबलाओं का कल्याण करने पहुंच गए थे तो मुहल्ले वालों ने उनकी खूब खातिरदारी की थी। और जब एक अन्य कैबिनेट-मंत्री अपने सचिवालय कक्ष में ही रास-लीला करने लगे, तो कर्मचारियों ने हो-हल्ला मचाकर उनका सारा मजा किरकिरा कर दिया। किंतु राज्य-व्यापी हल्ले के बावजूद मंत्रीद्वय अपने-अपने पद पर बने ही रहे। जनता सरकार के ही एक तीसरे मंत्री की गर्वोक्ति उस रोज सुनते ही बनती थी जब बिहार विधान-सभा में डंके की चोट उन्होंने एलान किया कि वे गुंडों को पालते हैं और तब तक पालते रहेंगे जब तक गुंडागर्दी चलती रहेगी। लेकिन यह सब कोई तसल्ली की बात नहीं। कुदृष्टांत, कुकृत्यों के औचित्य को प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। तब तो देखा-देखी ही चलती रहेगी। कदाचारों का सिलसिला कभी टूटेगा ही नहीं। मंत्री चाहे जनता सरकार के हों चाहे इंदिरा सरकार के, प्रश्न तो यह है कि सत्ताधारियों के ऐसे कुत्सित आचरण से लोगों के मन में क्या उमड़ेगा—सत्ता के प्रति आदर या निरादर? प्रश्न यह

भी है कि ऐसे लोग सत्ताधीश बन कैसे गए, सत्ता में स्वयं आ टपके या उन्हें लाया गया ? इंदिरा जी केवल देश की प्रधान मंत्री ही नहीं, देश के सबसे प्रबल राजनीतिक दल की सर्वशक्तिमान नेता भी हैं, और साथ ही अपने दल के पार्लियामेंटरी बोर्ड की अध्यक्ष भी जो पार्टी के उम्मीदवारों का चयन करता है। किसकी मजाल थी कि उनकी मर्जी के खिलाफ वैसे लोगों को पार्टी टिकट दे देता। तब फिर यह सब कैसे और क्यों चल रहे हैं ?

असल में दोष हमारी निर्वाचन-पद्धति का ही है जिसमें घुन लग गया है। चुनाव की जो प्रक्रिया चल पड़ी है उसमें योग्यता, निष्ठा और चरित्र वाला कोई व्यक्ति शायद ही उभर कर सामने आ सके। जब सारी सीटों को गुट और जात के कोटा में खपा देने का रिवाज चल पड़े, जब बम-पिस्तौल से लैस मुस्टण्डों द्वारा पोलिंग-बूथों की घेराबंदी का जंगी तरीका अपना लिया जाए, जब एक-एक सीट पर पचास-पचास लाख रुपयों को नचाने-लुढ़काने की कीमती रस्म अदा करनी लाज़िम हो जाए, तब निर्धनों का वहां क्या काम ? यह तो शाही जश्न है जिसमें शरीक होने का अधिकार गरीबी की रेखा से नीचे जीने वाले या मध्य स्तर पर बसर करने वाले इस देश के करोड़ों-करोड़ लोगों को बिल्कुल नहीं। उनके लिए कोई गुंजाइश नहीं जिनकी आंखों में देश को बनाने का कोई सपना है, जिन्होंने निष्ठा की आग में वर्षों से निज को तपाया है, जिन्होंने वर्षों अपने चरित्र को संवारा और सजाया है, जो ज्ञान और अनुभव का एक-एक दाना इसलिए सावधानी से चुनते-बटोरते चले आए हैं कि कभी देश के काम आएगा। अभी तो वे अपने-अपने घर बैठे चाटते रहें अपना चरित्र, अपनी निष्ठा, अपनी योग्यता, अपना अनुभव और देश-प्रेम की अपनी आंतरिक आग से आप ही जल-जलकर राख होते जाएं।

हमारे फ़रिश्तों का सपना और संकल्प यह था कि स्वतंत्र भारत में जन्म, जात और जायदाद का भेद छोड़, केवल सुपात्रता के आधार पर सबको जीवन में समान अवसर उपलब्ध कराए जाएंगे। लेकिन हमने उन सबको झुठलाया। उनके सपनों और संकल्प के साथ धोखा किया और उन तमाम शहीदों के अरमानों को रौंद डाला जो अपने को मिटाकर आजादी का नायाब तोहफा हमें दे गए थे। जब अवसर प्रदान करने का अवसर आया तो हमने जन्म, जात और जायदाद को ही मान्यता दी। जिसने मंत्री-पुत्र के रूप में जन्म लिया, उसका स्थान सुरक्षित। मंत्री परलोक-सभा सिधारे, तो उनकी विधवा का आसन लोकसभा में बिछ गया। जिसके पास जात की मजबूत लाठी हुई, मतदान की भैंस वही हांक ले गया। जिसने तस्करी के थैले खोले, टिकट की तश्तरी उसके सामने पेश हुई। जात की जकड़ और साजिश मजबूत कर रखी है उन राजनैतिक गुटबाजों ने जिनके पास सद्गुणों की कोई पूंजी नहीं। बेटी-रोटी के मामले को छोड़, जनसाधारण

के लिए जात का कोई विशेष प्रयोजन नहीं होता। ऊपर ईमानदारी से टिकट बंटे तो नीचे वोट करने में लोग भी जात-पात भूल जाएं। सन् '77 की जनता-लहर में हमने देख लिया था। उस बार लोकसभा प्रत्याशियों के चयन में जब नेतागण ने जात-पात रोक दी थी, तो जनता-उम्मीदवारों को वोट देने में निर्वाचक भी जात-पात बिल्कुल भूल गए थे! तीन ही चार महीने बाद जब विधान सभाओं का चुनाव आया और नए पापियों ने भी पुराने पाप शुरू कर दिए और प्रत्याशियों के चयन में जात-पात खूब चलाई, तो उसका नतीजा भी सामने आ गया।

समाजवाद के स्तुति-गायक श्रीमान् मधु लिमये, जो जाति और वर्ग-विहीन समाज का अखंड गुण-कीर्त्तन करते फिरते हैं, उनको गिला यह हो आया कि कमबख्त कायस्थ लोग किस बूते पर उतना टिकट मांगने लगे थे। हज़रत को यह ख्याल ही नहीं रहा कि व्यक्ति का असल बूता तो होता है उसका चरित्र, उसकी निष्ठा, उसकी योग्यता, उसका जुझारूपन, उसके कष्टभोग जिसे आस्था और साहस के साथ उसने संघर्ष के दिनों में झेला था। ऐसे लोगों में कायस्थों की संख्या कुछ कम न थी। बिहार सरकार ने तो आंदोलन को केवल कायस्थों का हंगामा घोषित कर दिया था और जब इमरजेंसी लागू हुई तो एक-एक कायस्थ अफसर के गले पर तलवार झुला दी। और विडंबना देखिए कि तब अफसर इसलिए कटने लगे कि वे कायस्थ थे और जब तख्ता पलटा, तो लिमये जैसे निर्णायकों के हाथों कई योग्य उम्मीदवार इसलिए कट गए कि वे कायस्थ थे। लिमये साहब और उनके दोस्तों का भरोसा जात, लाठी और पैसे के बूते पर था। सो, उनसे ज्यादा जात, लाठी और पैसा लेकर सन् 80 में जब इंदिरा-कांग्रेस के लोग जुट आए, तो लिमये एण्ड कंपनी का दिवाला पिट गया। वे मुंह के बल अचेत हो गिर पड़े। खास कर बिहार में तो कायस्थों का अजीबो-गरीब हाल कर रखा है। कमजोर और पिछड़े वर्ग के लिए आरक्षण की जो व्यवस्था चल पड़ीहै, उस लाभ के भागीदार कायस्थ लोग इसलिए नहीं हो पाते कि उनकी गणना 'फारवँड क्लास' में होती है। और फारवँड का सारा कोटा राजपूत, भूमिहार और ब्राह्मणों में ही इसलिए खपा दिया जाता है कि कायस्थों के पास कोई 'बूता' नहीं, वे कमजोर हैं। वैसे कायस्थों में जो 'कास्ट-कानशसनेस' या 'कास्ट-फ़नैट-इसिज्म' की कमी है, उसे मैं बड़ा शुभ-लक्षण मानता हूं। यह और बात है कि आप अपनी जात भले ही भूल जाएं, लेकिन लोग आपकी जात जरूर याद रखेंगे। जात के मामले में राजनीतिक लोगों की स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र हो गयी है। लानत है आधुनिक विज्ञान और तकनीक को जो और देश के लोगों को तो धरती से लाखों मील ऊपर चांद तक पहुंचा आया, लेकिन इस देश के लोगों को जात की चंद फुट ऊंची सतह से ऊपर नहीं उठा सका।

मध्य '78 में जनता पार्टी छोड़कर कांग्रेस में सम्मिलित होने के पूर्व मैं इंदिरा जी से मिला था। श्री केदार पांडेय ने पहल की थी। इंदिरा जी तब चिकमगलूर भी नहीं पहुंची थीं सो कुछ इत्मीनान से बात करने का मौका मिला। पुरानी बातों की चर्चा छिड़ने पर मैंने उनसे कहा कि मेरी समझ में बिहार की तत्कालीन सरकार से सबसे बड़ी भूल यह हुई कि उसने जे० पी० के नेतृत्व में चल रहे आंदोलन को कायस्थों का फ़िसाद करार दे दिया और उससे भी भयंकर काम यह कर दिया कि चुन-चुनकर कायस्थ अफसरों के गले पर तलवार झुला दी। तो, उन दिनों वैसा कहने-करने की चाहे जो विवशता रही हो, मगर अब तो सच्चाई को स्वीकारने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। तथ्य तो यह है कि वह एक जन आंदोलन था जिसमें सभी जात, सभी वर्ग तथा सभी धर्म के लोग सम्मिलित थे। किंतु निशाना जब केवल कायस्थ अफसरों को ही बनाया गया तो अपनी सुरक्षा के लिए उनके पास सिवा इसके चारा ही क्या था कि वे सरकार के विरुद्ध हो जाते। सो वे हुए और उसका असर भी हुआ। मगर जनता सरकार में भी सबसे दुःखी कोई रहा तो वे ही। और इसका सीधा-सादा कारण यह था कि राज-काज से कायस्थों का सदियों पुराना संबंध रहा है। इसलिए राज-काज की दुर्गति उनसे सही नहीं जाती। वे यह भी मानते थे कि परिवर्तन लाने की शक्ति यदि किसी में है तो इंदिरा जी और उनकी पार्टी में ही है, लेकिन उन्हें यह भी भय था कि यदि पुराना गुस्सा नहीं भुलाया गया, तब उनका क्या होगा ? इंदिरा जी ने मुझे आश्वस्त करते हुए कहा—"पुरानी बातें फिर नहीं दुहराई जाएंगी।" बात कुछ आगे चली तो उन्होंने मुझसे पूछा :

—"अच्छा यह बताइए, मेरी कौन जात है ?"

—मैंने कहा, "मैं तो आपको और आपके परिवार को अंतर्राष्ट्रीय जाति का मानता रहा हूं।"

—इस पर वो बोलीं, "सो ही तो ! हमारे तो सारे शादी-संबंध ग़ैर-ज़ात और ग़ैर-मज़हब को तो छोड़िए, ग़ैर-मुल्क के लोगों में हुए हैं। इसके बाद भी लोग मुझे किसी खास ज़ात से जोड़ लेते हैं, तो मैं क्या करूं !"

बिहार की चुनाव-राजनीति में जात की भूमिका की असलियत बताते हुए जब मैंने उनसे यह कहा कि मेरा अनुभव मुझे बताता है कि प्रत्याशियों के चयन में 'पार्टी-बॉसेज़' जितनी ज़ात-पात करते हैं, प्रत्याशियों को निर्वाचित करने में जनता उतनी ज़ात-पात नहीं करती, तो सर हिलाकर इंदिरा जी ने अपनी सहमति प्रकट की थी। लेकिन सन् '80 के चुनाव के लिए इंदिरा-कांग्रेस के प्रादेशिक नेताओं ने उम्मीदवारों की जो लिस्ट तैयार की उसका सारा ताना-बाना फिर ज़ात के ही तारों से बुन दिया। बिल्कुल मनमाने ढंग से सारे निर्वाचन-क्षेत्रों पर अलग-अलग जात की मुहर लगाकर उसका आवंटन करते चले गए—अमुक

चुनाव क्षेत्र, अमुक ज़ात का और अमुक, अमुक का।

यह बात बिल्कुल समझ में ही नहीं आती कि आम तौर से एक विधान सभा निर्वाचन क्षेत्र में निर्वाचकों की संख्या जब डेढ़-पौने दो लाख के करीब होती है, तो केवल दस-बीस हजार जनसंख्या वाली किसी जात विशेष का ही क्षेत्र उसे कैसे मान लिया जाता है? उस क्षेत्र में रहने वाले दूसरी जातों के शेष सवा-डेढ़ लाख लोग कहां गुम हो जाते हैं? उन्हें चुनाव से कुछ लेना-देना नहीं रहता क्या? चुनाव-आयोग का दस्तूर यह है कि हर जनगणना के बाद नई जनसंख्या के आधार पर चुनाव क्षेत्रों का पुनः परिसीमन कर उसे वह घोषित कर देता है। लेकिन राजनीतिक गुटबाजों का अघोषित तरीका यह बन गया है कि हर चुनाव के वक्त, ज़ात के भ्रामक आधार पर क्षेत्रों को निर्धारित कर वे उसे चुपचाप आपस में बांट लेते हैं। और दलों की केंद्रीय चुनाव-समिति से प्रायः उसे मान्यता भी मिल जाया करती है। संसदीय निर्वाचन प्रणाली के संसारव्यापी इस विरोधाभास ने यों ही लोगों को मुश्किल में डाल रखा है कि, संसद से बाहर जो अल्पमत में है, वह दल संसद के अंदर बहुमत का ताज पहन सत्ताधारी बन जाता है। उस पर भारतीय राजनीति के ज़ात-तिकड़म की मार से हमारे संसदीय लोकतंत्र का तो भविष्य ही चूर होता जा रहा है। यही नहीं कि भारतीय राजनीति राष्ट्रीयता से प्रादेशिकता और प्रादेशिकता से जातीयता पर उतर आई है, बल्कि अब तो लोग ज़ात से भी लघु, उपज़ात, और उससे भी सूक्ष्म, गोत्र का गुप्त मंत्र फूंकने लग गए हैं। भारत के वैज्ञानिक देश को आणविक-युग में पूर्णरूपेण कब तक प्रवेश करा पाएंगे, यह कहना तो कठिन है, किंतु इस दिशा में यहां के राजनीतिक लोगों ने अवश्य बाज़ी मार ली है। जिस तेजी से उन्होंने जातीयता के अणु-युग में हमें पहुंचा दिया है, वह बड़े से बड़े मेधावी वैज्ञानिकों के लिए प्रतिस्पर्धा की बात है।

गत वर्ष जो संसदीय उप-निर्वाचन हुए, उनमें दो क्षेत्रों की ओर भारत से बाहर के लोगों का भी ध्यान गया : गढ़वाल, जहां से लोकतांत्रिक समाजवादी मोर्चा के अध्यक्ष श्री हेमवतीनंदन बहुगुणा और अमेठी, जहां से प्रधानमंत्री के ज्येष्ठ पुत्र श्री राजीव गांधी चुनाव लड़े। रिपोर्ट है कि अमेठी में निर्वाचन तिथि की घोषणा से लेकर मतदान के दिन तक, लगभग तीन सौ जीप और मोटरें दौड़ती रहीं जिन पर पेट्रोल और सर्विसिंग आदि के तीस लाख रुपये खर्च आये थे। सात सौ पचास मतदान केन्द्रों को संभालने में जुटे चालीस हजार कार्यकर्त्ताओं ने पंद्रह दिनों के अपने घनघोर अभियान में खाना-दाना, चाय-पान, बीड़ी-सिगरेट पर तीस लाख और उड़ा दिए। पांच लाख रुपयों के झंडे-पताके और पोस्टर सट गए। इस अवसर पर सरकार ने जो खर्च किया उसका तो हिसाब ही अलग है। निरीक्षण बंगलों की सजावट, टेलीफोन के सैकड़ों नये कनेक्शन, बिजली के खंभे, सड़कों की मरम्मत, इमर्जेंसी-वर्क के लिए तैनात पी० डब्ल्यू० डी०, बिजली,

सिंचाई, स्वास्थ्य, वन-विभाग के हजारों स्टाफ और मजदूरों पर सरकारी खजाने के दो-चार करोड़ तो गल ही गए होंगे। और ध्यान रखिए! वे ढेर सारे रुपये उस उम्मीदवार के चुनाव में खर्च कर डाले गए जिसकी जीत में यों भी विशेष संदेह नहीं था। जिस सहज और स्वाभाविक ढंग से श्री राजीव गांधी की छवि चुनाव के पहले से ही यदा-कदा झलकती रही थी, उससे किसी भी निष्पक्ष मन में उनके प्रति प्रेम और आशा के भाव जग उठते थे।

गांधी और नेहरू परिवार के दो दीप अनेक भारतवासियों का ध्यान बरबस अपनी ओर खींचते रहे हैं। गांधीजी के पौत्र श्री राजमोहन गांधी—जिनकी रगों में गांधी और राजाजी का रुधिर-संगम प्रवाहित होता है—एक ऐसे प्रतिभावान व्यक्ति हैं जिनमें श्रेष्ठ गुरुजनों के गाम्भीर्य, प्रौढ़ता और शील विद्यमान हैं। जब कभी उनका कोई लेख मैं समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं में पढ़ता हूं, तो स्वर्गीय राजाजी के विचार-तत्त्व, तर्कणा और तीक्ष्णता का स्मरण हो आता है। साथ ही मन इस विषाद से भी बच नहीं पाता कि क्यों उन्होंने अपने को राजनीति से सदा दूर ही रखा। यह राजनीति भी अभागी न होती, तो स्वयं राजमोहन गांधी के पास चली गई होती, जैसे राजीव गांधी के पास गयी। राजनीति, राजीव गांधी के भी मनोनुकूल तो न थी। किन्तु, आज जब वे राजनीतिक गगन में दीखने लगे हैं, तो इस सुहृद, सौम्य, शिष्ठ और विचारवान नए व्यक्तित्व को उभरते देख कर मन को कितना तोष होता है। किन्तु इस तोष की ओर चिंता की काली छाया तब बढ़ने लग जाती है जब ख्याल आता है: राजीव गांधी का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह हुआ कि मातृकोख से उनके अनुज (स्व०) संजय गांधी, राजनीतिक रंगमंच पर उनके अग्रज बन कर उतरे थे। सुप्राण राजीव गांधी का ढेर सारा समय तो संजय गांधी के संचित कुप्रभावों को मिटाने में ही निकल जाएगा। उच्छृंखलता और हुड़दंग की जिस राजनीति का बीजारोपण डाक्टर राममनोहर लोहिया कर गए थे, संजय गांधी ने उसे सींच-सींच कर सयाना कर दिया। इस मायने में संजय गांधी लोहियाजी की शिष्य-परंपरा के ही एक सिद्ध युवक थे जो लोहिया जी के सभी स्वीकृत-शिष्यों से बाजी मार ले गए। लोहिया जी में तो विद्वत्ता थी, चिंतन था; जनकल्याण के उच्च आदर्श और नि:स्वार्थ देशप्रेम की पवित्र आग तथा पूर्व स्वातंत्र्य-युग के अनेक शुभ संस्कार सुरक्षित थे; लेकिन उनके अनुगामी उन सभी गुणों से रिक्त ही रहे। तालाब में कंकड़ फेंकते समय जब स्वयं विद्वान लोहिया ने ही इस बात की चिंता न की कि उत्पन्न लहरियां कहां जाकर शेष होंगी, तब भला उन संस्कारशून्य लोगों से क्या आशा की जा सकती थी जो कंकड़ों की जगह पत्थरों की बौछार करने लग गए।

अपनी जन्मगत स्थिति के कारण राजीव गांधी को जिस व्यापक प्रचार-प्रसार की सुविधा स्वत: उपलब्ध है, वह औरों का नसीब कहां! देश और

दुनिया के अनेक छोटे-बड़े अखबार, पत्रिकाएं, रेडियो, टेलिविजन आदि स्वयं ही दौड़-दौड़ कर उनके समाचार बटोरेंगे, उनकी तस्वीर खींचेंगे और उन्हें प्रकाशित और प्रसारित करेंगे। इन सब के बावजूद जब राजीव गांधी के चुनाव में लाखों-करोड़ों खर्च कर दिए जाएं, तो फिर एक साधारण राजनीतिक कार्यकर्त्ता का मार्ग कितना अवरुद्ध हो जाता है। कहां से लाएंगे वे लाख और करोड़, और वोट की क्यारियों में कहां से डालेंगे उतने ढेर सारे चांदी के बीज ? कितना फीका-फीका रंग रहेगा क्षेत्र में उन उम्मीदवारों का जिनकी जेबें फटी होंगी और जिनका झोला मुंह बाए कंधे से लटक रहा होगा।

चुनाव में उतने रुपयों का खेल बिहार में पहली बार मैंने (स्व०) ललित-नारायण मिश्र का ही देखा था। अंतिम बार संसदीय उप-निर्वाचन में ललित बाबू दरभंगा से चुनाव लड़े और जीते। उस चुनाव में दरभंगा शहर की जो चहल-पहल और रौनक मैंने देखी तो दरभंगा महाराज के बड़े भतीजे कुमार जीवेश्वर सिंह का उपनयन समारोह याद हो आया जो शायद सन 1940-41 में हुआ था। देश के कई छोटे-बड़े रजवाड़ों के राजे-महाराजे और अंग्रेज लाट आये थे। यद्यपि समारोह-स्थल तो राज-कम्पाउण्ड था, परंतु प्रतिबिम्ब सारे नगर में फैला हुआ था। फिर भी, उस जमाने में न तो उतनी मोटरें थीं, न उतने होटल और रेस्तरां; और न उतने लोग ही। सो, ललित बाबू के उस चुनाव की चहल-पहल और गहमागहमी के सामने राज दरभंगा का वह उत्सव मेरी याद में फीका ही पलटा। मेरा माथा उसी दिन ठनका था। कांग्रेस सोशलिस्ट फ़ोरम के रांची सम्मेलन में जब मैंने यह समस्या उठाई, तो कई नेता कुड़बुड़ाने लगे।

मुझे याद है सन् 1957 का वह चुनाव जब अपने गृह-क्षेत्र केसरिया से लोक सभा के लिए मेरे पिता जी प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार बन कर चुनाव लड़े थे। मुकाबिला कांग्रेस के पं० द्वारिकानाथ जी तिवारी से था। तिवारी जी को पचास-साठ हजार वोट मिले। वे जीते। कम्युनिस्ट उम्मीदवार को लगभग चौंतीस हजार और पिता जी को लगभग बाईस हजार वोट मिले थे। तिवारीजी के यही कोई पंद्रह हजार रुपये खर्च हुए होंगे। और आपको विश्वास नहीं आएगा, किन्तु विश्वास कर लीजिए कि जमानत की राशि के अतिरिक्त मात्र डेढ़ हजार रुपयों में हम लोक सभा का चुनाव लड़ गए थे।

उससे पहले, सन् 52 में हुए देश के प्रथम आम चुनाव में, भारत के तत्कालीन संसदीय-कार्य-मंत्री सत्यनारायण सिंह के विरुद्ध जब बिहार के प्रसिद्ध समाजवादी नेता पं० रामनन्दन मिश्र चुनाव लड़े थे, तो उनका खर्च मुश्किल से पांच हजार हुआ था। वे कुछ ही वोट से हारे थे, किंतु खर्च की कमी के कारण नहीं, बल्कि कांग्रेस की साख के कारण। आज वह सब सपना-सा लगता है।

अब जो चुनाव में इतने बेशुमार खर्च किए जाने लगे हैं, वे सिर्फ चुनाव

जीतने के लिए नहीं, बल्कि चुनाव को चंगुल में कैद रखने के लिए। 'बैलट्स' पर 'मनापलि' रखने के लिए। साजिश बड़ी गहरी है। यों समझ में नहीं आए।

भारतीय राजनीति के एक मनीषी हुए हैं, राजाजी—चक्रवर्ती राजगोपालाचारी। अंग्रेजी में सी० आर० के संक्षिप्त नाम से विश्व-विख्यात। उनके प्रखर-मतित्व के सभी प्रशंसक थे—गांधी, नेहरू, पटेल, प्रसाद, जे० पी० आदि, आदि। चिदम्बरम के अपने भाषण में पंडितजी ने उनके संबंध में कहा था, "राजाजी देश के श्रेष्ठतम पुरुष हैं···हममें सबसे अधिक बुद्धिमान···" जे० पी० भी राजनैतिक प्रज्ञा और परिपक्वता में गांधी के बाद राजाजी को ही स्थान देते थे। तो, राजाजी की एक बोधमय लघुकथा है। शीर्षक है—'पुरस्कार'। पहले वह कथा ही बता देता हूं। धरातल से उनकी चिंतन-चोटी की ऊंचाई आप नाप सकें, तो इसी कथा से नाप लें। कथा यों है :

महाराज ने बूढ़े राजशिल्पी को सभा में बुलाकर आदेश दिया—"नदी के दक्षिण-तट पर एक ऐसा भवन बनाओ, जो सौंदर्य और सुविधा की दृष्टि से राज्य भर में अद्वितीय हो।" और तत्काल ही महाराज की आज्ञा से भवन-निर्माण के निमित्त राजशिल्पी को सम्भावित धनराशि भी दे दी गयी। इतनी धनराशि अपने अधिकार में देखकर शिल्पी का मन डोल गया। उसने सोचा—क्यों न घटिया और नकली सामग्री से ही भवन खड़ा कर दूं और इस रकम का शेष अंश बचाकर लाभान्वित हो जाऊं? लोभ ने विवेक की आंखों को अंधा बना दिया—भवन तैयार हो गया। महाराज बड़े प्रसन्न हुए। भवन के उद्‌घाटन के लिए एक विशाल समारोह आयोजित हुआ। हर्षोत्फुल्ल चेहरे से महाराज उठे और जन-समूह की ओर उन्मुख होकर बोले—"आज मेरी एक पुरानी साध पूरी हुई है। कई वर्षों से राजशिल्पी की एकनिष्ठ कर्त्तव्य-परायणता और राजभक्ति को मैं पुरस्कृत करना चाहता था। आज वह पुरस्कार तैयार हो गया है। अपने राज्य का यह सबसे सुंदर-सुखद भवन मैं राजशिल्पी को पुरस्कार में देता हूं।"

इन शब्दों के साथ महाराज ने भवन की चाबियां शिल्पी के हाथों में सौंप दीं। महाराज के औदार्य ने सारे समाज को जय-जयकार से प्रतिध्वनित कर दिया।

हमारे ही अपने छल क्या हमें जीवन में इस प्रकार सैकड़ों बार नहीं छला करते हैं?

राजाजी 'पॉलिटिशियन' नहीं, 'स्टेट्‌समैन' थे। अंतर है दोनों में, पॉलिटिशियन (राजनीतिज्ञ) केवल वर्त्तमान देखता है; स्टेट्‌समैन (राजदर्शी) भविष्य भी। राजनीतिज्ञ केवल अपनी ही पीढ़ी से जुड़ा होता है, राजदर्शी भावी संततियों से भी संबद्ध। सो अपने जीवन के सप्तम दशक में जब उनका जीवन-सूर्य अस्ताचल की ओर था और उन्हें स्वयं कोई चुनाव लड़ना नहीं था, तब भी भावी भारतीय संतति की चिंता उन्हें सता रही थी। चुनाव-राजनीति जिस ओर रुख कर चुकी

थी, उन्होंने देख लिया कि आगे सत्ताधारी दल से संबद्ध व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रत्याशी में चुनाव का अतिव्ययसाध्य भार वहन करने की सामर्थ्य नहीं रहेगी। वे भांप गए कि खर्चीला चुनाव एक भयंकर साजिश है। यह साजिश किसने कर रखी है, की है तो क्यों और कैसे; इसी बात को उजागर करते हुए वर्षों पहले उन्होंने लिखा था :

"चुनाव को बेहद खर्चीला बना देने में उस व्यक्ति का ही स्वार्थ निहित है जो नई दिल्ली में राजसत्ता के शिखर पर पहुंचकर, सत्ता को सदा थामे रखने की अपनी व्यग्रता में, आचारशीलता की कोई परवाह ही नहीं करता। सत्ताधिकारी जितनी भी धनराशि चाहे, प्राप्त कर ले सकता है···चुनाव का अत्यधिक व्यय-भार प्रधानमंत्री को एक ऐसा प्रभावशाली अस्त्र उपलब्ध करा देता है कि, संसद सदस्यों की निजी अवधारणा चाहे जितनी भी प्रबल हो, उनका दमन कर यदि वे प्रधानमंत्री के आज्ञाकारी न बने, तो संसद को भंग कर उन सब को चुनाव के खर्चीले बवंडर में फिर झोंक देने का भय दिखा कर ही, प्रधानमंत्री उन्हें या मंत्री की कुर्सी पर बैठे किसी भी व्यक्ति को काबू में ले आ सकता है।" तो यह हथकंडा है !

एक तरफ हम संसदीय प्रणाली द्वारा समाजवाद लाने की बात करें और दूसरी ओर चुनावों को इतना महंगा बना दें कि चुनाव लड़ने की सामर्थ्य केवल टाटा-बिड़ला सरीखे करोड़पति लोगों में ही रह जाए, तो समाजवाद कभी आ भी पाएगा ? देश के बड़े उद्योगपति या धन्नासेठ खुद चुनाव न भी लड़ें तो भी क्या फर्क पड़ता है उनके लिए —यदि चुनाव लड़ने या लड़ाने वालों को उन्हीं की तिजोरी का आसरा रहे ? मोटी रकम का चंदा देना उनके व्यवसाय का ही एक अंग है। चंदे की वैसी धनराशि 'दान' नहीं, एक बारीक 'इनवेस्टमेंट' हुआ करती है। लाख देंगे तो करोड़ कमा लेंगे। जो पैसा ले जाएगा वह काम करेगा, बात मानेगा। पेशेवर राजनीतिज्ञ पैसे वालों के साथ ज्यादा बेमुरव्वत नहीं हुआ करते। सरकार की इनायत चाहिए : नमक पर पांच पैसे, दियासलाई पर सात पैसे, साबुन पर चार आने, मिट्टी तेल पर आठ आने, सरसों के तेल पर एक रुपया, डालडा पर डेढ़ रुपये, कपड़ों पर दो रुपये, स्पेयर-पार्टस् पर पांच-दस रुपये भी बढ़ाने की छूट मिल गयी तो करोड़ों का वारा-न्यारा हो गया। इसी कारण तो हर चुनाव के बाद मूल्य बढ़ ही जाते हैं।

इसलिए सेठों के पैसे उदारतापूर्वक उन्हें ही मिल पाते हैं जो सरकार में हैं या सरकारी पार्टी के हैं। विरोधी दल वालों को तो, चूंकि 'मुंह खोला, इसलिए लाज भर रख दी।' और आम जनता के पास पैसा है कहां कि कोई उससे ले। खाना-दाना तो मुश्किल से चल पाता है, चंदा कहां से देंगे ? फिर रुपये-दो रुपये, दस-पांच टके के लिए दरवाजे-दरवाजे कौन झोली फैलाता फिरे ? आपको चंदा

देने के लिए अपना दरवाजा खोल कर कौन बैठा प्रतीक्षा करता मिलेगा ? जाइए, खटखटाइए; कुछ सुनिए, कुछ सुनाइए, बात कुछ समझ में आई तो, आज नहीं कल आइए ! भर दिन दौड़ते फिरिए तो मुश्किल से दस-बीस दहलीज लांघ पाइएगा। और उतना सारा पहाड़ खोदने पर निकलेंगी कुछ चुहिया। अस्सी-नब्बे-सौ मिल गए, तो आप बड़े खुशनसीब हैं। हां, दादागीरी करना जानते हों, तो बात दूसरी है। तब तो मांगने की भी जरूरत नहीं। सीधे तिजोरी में हाथ डाल दीजिए, सब तो आपका ही है। किन्तु खुदरा-बटोर अभियान से लाख-करोड़ बटोरने का सपना मत देखिए। कई युग बीत जाएंगे; समय और श्रम का निर्मम अपव्यय ! जल्दी है तो थोक माल बटोरिए। और थोक मिलेगा, जब आप कोटा-परमिट, लाइसेंस, ट्रांसफर-पोस्टिंग कराने की क्षमता रखते हों। हां चुनाव, भाषणों में गला फाड़-फाड़ कर भ्रष्टाचार मिटाने का वादा जरूर करिएगा ! कितना हास्यास्पद है भ्रष्टाचार मिटाने का कौल—'हम भ्रष्टाचार मिटाएंगे !'

एक घटना याद आ जाती है। श्री केदार पाण्डेय बिहार के मुख्य मंत्री थे। उनके खाद्य एवं आपूर्ति मंत्री श्री बोदरा ने विधानसभा में कह दिया कि जब ऊपर मंत्री से लेकर नीचे चपरासी तक घूस लेता हो तो भ्रष्टाचार मिटाने की बात करनी फिजूल है। पाण्डेय जी तिलमिला गए थे। मंटो दा (पी० टी० आई के पटना ब्यूरो-प्रमुख श्री एस० के० घोष) ने मुझे बताया कि केदार पाण्डेय अपने निकट के कुछ लोगों के बीच सिर धुन रहे थे कि लोग बात समझते नहीं और उन पर भ्रष्टाचार का आरोप लगा देते हैं। वे करें तो क्या ! उन्हें पच्चीस लाख रुपये केन्द्र को देने पड़ते हैं। बंसीलाल (हरियाणा) को पचास लाख और नायक (महाराष्ट्र) को पचहत्तर लाख केन्द्र को पहुंचाना पड़ता है। कुछ दिनों बाद (मई या जून, 73) में जब मैं दिल्ली गया, तो श्री पी० एन० हक्सर से उनके निवास पर भेंट की। प्रधान मंत्री के मुख्य-सचिव पद से अवकाश-ग्रहण के पूर्व की छुट्टी में वे थे। कोई सवा घंटे तक उन्होंने प्रेमपूर्वक बातें कीं। बिहार के बारे में बहुत कुछ जानना चाहते थे, सो बहुत कुछ पूछते रहे। जब मैंने उन्हें केदार पाण्डेय जी की बात सुनाई, तो दोनों हाथ कान पर रखते हुए वे बोले—"माई गॉड! सच ऐन इर-रिस्पॉनसबल आटरेन्स।" (हे भगवान, इतनी ग़ैर-ज़िम्मेदारी का वक्तव्य !) मैंने उन्हें कहा कि वे केवल मेरी बातों पर ही न जाएं बल्कि अपनी एजेन्सी से भी पता करवा लें। मुझे तो पाजामा-गंजी पहने हुए ही बाहर पोर्टिको तक छोड़ने आये और यह कहते हुए विदा दी—"चलो ! बिहार के एक ऐसे नौजवान से तो भेंट हुई जिसके अंदर इतनी आग है।" मगर कह नहीं सकता क्या हुआ जो उस बार पाण्डेयजी को (वे भी उन दिनों दिल्ली पहुंचे थे) तीन बार कोशिश करने पर भी इंदिरा जी से भेंट न हो सकी। उसके कुछ दिनों बाद तो उन्हें मुख्य मंत्री पद से हट ही जाना पड़ा।

और जनता सरकार में भी कुछ लोगों के रेकॉर्ड कोई कम शानदार नहीं रहे। उस राज में भी कई केन्द्रीय मंत्रियों के ड्राइंग रूम के सूराखों से निकल कर बात बाहर हवा में तैरने लगी थी कि चुनाव-कोष के नाम पर कई बड़े व्यवसायियों से उनके खासे अच्छे सौदे पटे। बहुत बाद, टाइम्स ऑफ इंडिया के एक आलेख में पढ़ने को मिला कि उन दिनों बोकारो स्टील कम्पनी के कुछ बड़े अफसरों की मध्यस्थता से चुनाव-कोष के लिए जो रुपये इकट्ठे किए गए थे उसके बदले में कंपनी के एक ठेकेदार ने तीस लाख के बिल वसूल किये। उन दिनों श्री बीजू पटनायक केन्द्रीय उद्योग मंत्री थे। तो ऐसे चलती है राजनीति।

पैसों की राजनीति करने वालों में बिहार के ललितनारायण मिश्र नामी लोगों में थे। वैसे कृष्ण वल्लभ बाबू इस मामले में उनके अग्रज ही थे। उनका अपना जीवन तो सीधा-सादा था। भात-दाल-भरता पर भी चल जाता था। आदिवासी क्षेत्र का एक प्रभाव था, सो भी महंगा नहीं। लेकिन ललित बाबू ज्यादा नफ़ीस थे। उनके औदार्य की चर्चा खूब चलती थी। बिहार आते, तो स्टेट गेस्ट-हाउस के आहाते में 'जलढरी' का दृश्य उपस्थित हो जाता। 'कृपा-प्रसाद' के लालायित लोगों की रेल-पेल। अब तो दोनों ही स्वर्गवासी हो चुके हैं। ईश्वर उनकी आत्मा को शांति दे। लेकिन बिहार के राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की आदत बिगाड़ गए।

25 अप्रैल सन् '72 को अखिल भारतीय कांग्रेस के तत्कालीन महामंत्री श्री चन्द्रजीत यादव पटना आए थे तो बिहार प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष श्री विद्याकर कवि ने सदाकत आश्रम में प्रदेश के प्रमुख कांग्रेसजनों की एक बैठक बुला ली। रामलखन बाबू, जगन्नाथ मिश्र जी, रामदुलारी जी, मुंगेरी बाबू आदि कई नेता बैठे थे। मैं तो कोई मंत्री या विधायक था नहीं। लेकिन कांग्रेस समाजवादी मंच का बवाली-नेता जरूर गिना जाता था। तो मेरा भी शायद कुछ उपयोग दीख पड़ा हो, इसलिए कवि जी ने मुझे भी आमंत्रित कर लिया था। उस दिन मैं पहला आदमी था जो बोलने उठा। मैंने अपने संक्षिप्त भाषण में कहा :

"कांग्रेस का जैसा कार्य-कलाप चल रहा है, और जिस ढंग से राजनीति चलाई जा रही है, उससे मुझे भय है कि कांग्रेस को फिर '67 जैसा दुर्दिन देखना पड़ जाएगा। प्रधानमंत्री, जिनका आज सारे देश और दुनिया की राजनीति पर प्रभाव है, बिहार के मामले में एक व्यक्ति-विशेष के प्रभाव में दीखती हैं (मेरा संकेत ललित बाबू की राजनीति की ओर था)...

गुण-कीर्तन करने वालों से समाजवाद नहीं आएगा। समाजवाद अगर आएगा तो समाजवाद में आस्था और निष्ठा रखने वालों से ही। यदि वैसे लोगों को आगे नहीं बढ़ाया गया, तो प्रधानमंत्री के बहुत-बहुत मजबूत हाथों से बहुत ही कमजोर किस्म का समाजवाद आ सकेगा। यह बात आप इंदिरा जी तक अवश्य पहुंचा दें।"

मैं तो उन नासमझों में हूं जो पानी में रह कर मगर से वैर रखते हैं। मेरे कुछ गुरुजन और हितेच्छु मेरी चिंता करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह कभी तो मुझे सुबुद्धि दे, लेकिन उनकी दुआएं काम नहीं करतीं। कहीं बहुत दूर छिपा बैठा है उनका ईश्वर। मैं तो उसे अपनी अंतरात्मा में ही ढूंढ़ने की कोशिश करता रहा हूं। खैर, '73 का अंत होते-होते मैंने कांग्रेस छोड़ दी और सोशलिस्ट पार्टी में चला आया। लेकिन चार-छह महीनों के अंदर ही बिहार में अचानक जो बवंडर उठा, उसने, '77 में कांग्रेस को घोर दुर्दिन दिखा कर ही छोड़ा।

'स्टेट-पॉवर' (राज-बल) और 'मनि-पॉवर' (अर्थ-बल) के दुरुपयोग पर राजा जी सरीखे बुजुर्गोंने तो बहुत सिर धुने थे, लेकिन 'मसल-पॉवर' (भुज-बल) का उन्हें कोई ख्याल ही न आया। असल में यह है भी एक नई उपज। जिस रोग को आज 'बूथ-कैपचरिंग' के नाम से लोग जानने लगे हैं, उसके कीटाणु '67 के चुनाव में छिट-पुट ढंग से पैदा हो गए थे। दूषित राजनैतिक जलवायु पाकर वे बढ़े और धीरे-धीरे एक प्रदेश से दूसरे और दूसरे से तीसरे में संक्रामक रोग की तरह फैलते चले गए। '77-'80 आते-आते तो उन्होंने महामारी का रूप ले लिया। इस भयंकर कदाचार का व्यापक पैमाने पर लाभ उठा कर, सरकार बना लेने के बाद, सब सत्ताधारी दल सदा ढोल पीट-पीट कर यही कहता आया है कि चुनाव नितांत निष्पक्ष, निर्भय और नियमित रूप से सम्पादित हुए हैं, देश की जनता उनके साथ है। लेकिन जब स्वयं चुनाव आयोग ने ही गढ़वाल उप-चुनाव के ऊपर पड़े हुए मोटे काले पर्दे को खींच कर अलग फेंक दिया, तो उसके अंदर छिपे मत-दान का भयंकर काला चेहरा देख अनेक लोगों की आंखों के आगे घुप अंधेरा छा गया। सन्देह की कोई गुंजाइश न रह गई कि अगर ऐसे ही सब कुछ चलता रहा तो, मतदान के कंधों पर ही एक दिन लोकशाही का जनाज़ा निकाल कर लोगबाग उसे गहरे दफना आएंगे।

बहुगुणा जी ने इंदिरा कांग्रेस छोड़ी तो लोकसभा की अपनी सदस्यता भी त्याग दी। जनता ने उन्हें कांग्रेस के टिकट पर चुना था इसलिए, नए सिरे से मत-दाताओं का विश्वास प्राप्त करना उन्होंने अपना नैतिक दायित्व समझा। इस देश में आम तौर से लोग ऐसा नहीं किया करते। एक महापुरुष थे, आचार्य नरेंद्र देव—लोकप्रतिष्ठित समाजवादी नेता—उन्होंने ऐसा किया था जब सोश-लिस्ट पार्टी कांग्रेस से अलग हुई थी। आचार्य जी के संग उनके आठ-नौ साथी-सहयोगियों ने भी उत्तर प्रदेश विधान सभा से त्यागपत्र दे दिया था। इस बार बहुगुणा जी ने उस उच्च लोकतांत्रिक परंपरा की पुनरावृत्ति की। लेकिन 14 जून 1981 को गढ़वाल संसदीय क्षेत्र में जो मतदान हुए, तो उनकी कुछ झांकियां देखिए:

(1) "मैं, सिपाही अशोक कुमार, सुमारी पुलिस स्टेशन से जान बचा कर

भागा क्योंकि सरदार गुंडें ने गोली चलाते हुए पोलिंग पर क़ब्जा कर लिया।"

(मतदान केन्द्र संख्या-16 पर तैनात
यू० पी० पुलिस कांस्टेबल का बयान)

(2) दिन के ग्यारह बजे, हथियारों से पूरी तरह लैस एक जत्था आया। मेरे सीने पर पिस्तौल तानते हुए उन्होंने मुझे काउंटर फ्वाएल पर अपने दस्तखत करने को मजबूर कर दिया और बैलट-पेपर्स पर मुहर लगा कर उन सब को मत पेटी में डाल दिया।"

(खंडा, मतदान केन्द्र संख्या 13 के
प्रिज़ाइडिंग अफसर का लिखित बयान)

(3) "दिन के साढ़े बारह बजे तक मतदान शांतिपूर्वक चलता रहा। तभी हथियारों से लैस दस लोगों का एक जत्था आया जिसने मतदान केन्द्र पर कब्जा कर लिया, जबरदस्ती मतपत्रों पर दस्तखत कराया, उनमें कांग्रेस के चुनाव-चिह्न पर मुहर लगा कर, मतपेटी में डाल दिया।"

(क्यार्क, मतदान केन्द्र संख्या 26 के
प्रिजाइडिंग अफसर का लिखित बयान)

(4) "दिन के लगभग दो बजे, छह-सात सिक्ख और हरियाणा पुलिस के सिपाही सादे लिबास में आए। जैसे ही वे पहुंचे कि मतदान केन्द्र पर तैनात हरियाणा पुलिस ने मतदाताओं को अंदर आने से रोक दिया। उन सशस्त्र घुसपैठियों ने मतपत्र संख्या, 62518-62550 जिन पर हस्ताक्षर किए हुए थे, छीन कर कांग्रेस (इ) के पक्ष में मुहर लगाई और उन्हें मतपेटी में डाल दिया। उन्होंने फिर मतपत्र सं० 625201-625250 वाला दूसरा थाक भी छीना, उन पर कांग्रेस इ० के पक्ष में मुहर लगाई, उनमें से कुछ को मतपेटी में डाला और बाकी सब लेकर चले गए।

(गहरकल, मतदान केन्द्र सं० 95 के
प्रिज़ाईडिंग अफसर की लिखित रिपोर्ट)

(5) पौड़ी गढ़वाल के पहाड़ी क्षेत्रों में जिन छप्पन मतदान केन्द्रों पर कब्जा कर ठप्पामारी की गई, उनमें से अधिकांश में मात्र साढ़े तीन घंटों के अंदर मतदान कार्य समाप्त हो गया, क्योंकि उसके बाद एक भी बैलेट-पेपर नहीं बचा।

(6) कुछ केंद्रों पर तो वोटरलिस्ट में जितने मतदाताओं के नाम दर्ज थे उनसे कई वोट अधिक गिरा दिए गए।

मतदान-समाप्ति के दूसरे दिन, 15 जून को, श्री बहुगुणा ने चुनाव-आयोग के पास लिखित शिकायत पेश करते हुए यह आरोप लगाया कि भारत सरकार के गृहमंत्री सहित पांच राज्यों के मुख्यमंत्री तथा अनेक केन्द्रीय कैबिनेट एवं राज्य मंत्रियों का दल क्षेत्र में कैंप डाले रहा और उन सबों ने मिल कर चुनाव

धांधली की रूप-रेखा तैयार की। पंजाब, हरियाणा तथा हिमाचल प्रदेश के सीनियर सिविल और पुलिस अफसरों ने उनकी योजनाओं को तैयार तथा लागू करने में भरपूर मदद पहुंचाई। श्री बहुगुणा के समर्थकों का यह भी आरोप था कि लोगों को आतंकित करने और मतदान केन्द्रों पर कब्जा करने के लिए काफी बड़ी संख्या में पंजाब और हरियाणा से सशस्त्र अपराधकर्मी बुलाकर क्षेत्र में उतार दिए गए थे जिन्होंने मतदान समाप्ति के बाद क्षेत्र में तैनात हरियाणा पुलिस के साथ मिल कर, चलते-चलते, लोगों पर गोलियां चलाईं जिससे कई लोग जख्मी हुए।

छोड़ दीजिए बहुगुणा जी अथवा उनके समर्थकों के आरोप। स्वयं चुनाव-आयोग ने क्या कहा, उसी को देखिए। भारत के तत्कालीन मुख्य चुनाव-आयुक्त श्री एस० एल० शकधर ने 20 जून 1981 को गढ़वाल उप-चुनाव को रद्द कर सारे क्षेत्र में फिर से मतदान कराने का आदेश देते हुए कहा :

(1) श्री बहुगुणा ने छप्पन मतदान केन्द्रों पर कब्जा किए जाने का पूर्ण विवरण पेश किया है।

(2) मैंने जल्दी से जांच-पड़ताल पूरी करा सकने के प्रयोजन से उत्तर प्रदेश सरकार से हेलिकॉप्टर की मांग की थी। दुर्भाग्यवश, यू० पी० सरकार ने आयोग को हेलिकॉप्टर उपलब्ध नहीं कराया।

(3) मैंने तुरन्त आयोग के सचिव श्री गणेशन के नेतृत्व में अधिकारियों का एक दल, जांच-पड़ताल के लिए पौड़ी और देहरादून भेजा।

(4) आयोग के जांच दल की तथा पौड़ी-गढ़वाल के जिलाधीश की रिपोर्ट से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि क्षेत्र में काफी बड़ी तादाद में हरियाणा पुलिस के लोग तैनात किए गए थे।

(5) क्षेत्र के रिटर्निंग अफसर ने, जो पौड़ी-गढ़वाल के जिलाधीश हैं, आयोग को दी गई अपनी रिपोर्ट में कहा है कि गढ़वाल जिले में पंजाब और हरियाणा पुलिस को चुनाव के बीच तैनात किए जाने की न तो उन्होंने कोई मांग की थी और न उनके आदेश से वे तैनात किए गए थे।

(6) बाहर से पुलिस बल को बुलाकर क्षेत्र में तैनात किए जाने के संबंध में आयोग को कोई सूचना तक नहीं दी गई जब कि, चुनावों की निगरानी, निर्देशन और नियंत्रण का अधिकार आयोग में ही निहित है···आयोग की जानकारी और अनुमति के बिना, राज्य से बाहर की पुलिस को बुलाकर क्षेत्र में तैनात किए जाने को मैं एक गंभीर बात मानता हूं और इससे निष्पक्ष एवं मुक्तमत दान सम्पादन में बाधा उत्पन्न हुई है।

(7) प्रिज़ाईडिंग अफसरों की डायरी और रिपोर्ट, सेक्टर-मजिस्ट्रेट्स, पर्यवेक्षकों, रिटर्निंग अफसर तथा असिस्टेंट रिटर्निंग अफसरों की रिपोर्ट के आधार पर छान-बीन कर, आयोग के सचिव ने जो विशद प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है,

उससे मतदान केन्द्रों पर कब्जा किए जाने के आरोप सिद्ध हो जाते हैं।

नई दिल्ली, —(ह०) एस० एल० शकधर

20 जून 1981 (भारत के मुख्य चुनाव-आयुक्त)

अपने लोकतांत्रिक चुनावों के संबंध में, बस दो-एक और सूचनाएं देकर अभी यह प्रकरण स्थगित करता हूं :

उत्तरी बिहार के एक क्षेत्रीय डकैत के मन में एम० एल० ए० बनने की महत्त्वाकांक्षा जगी। विगत आम चुनाव में वह उम्मीदवार बना तो घर-घर घूम कर मतदाताओं को अपना 'वन-प्वाएंट मेनिफेस्टो' बता आया—'चैन की नींद सोना चाहते हों तो मुझे चुन कर यहां से पटना भेज दीजिए, वरना रात में ही नहीं, दिन में भी कराम-कराम (पिस्तौल की आवाज)। सबको अपनी जान और नींद प्यारी थी सो वोट देकर लोग सस्ते छूटे। जनदाहा क्षेत्र से जीतकर कराम-कराम बिहार विधान सभा के अंदर पहुंच गया। और उधर चम्बल के डकैतों ने जब देख लिया कि नेता लोग उनके ही बल पर चुनाव जीतने लगे हैं, तो विजय मुकुट स्वयं धारण करने की लालसा नितांत स्वाभाविक रूप से उनके मन में भी जागृत हुई है। आपने भी अवश्य पढ़ा-सुना होगा कि चम्बल घाटी के कई खूंख्वार दस्यु सरदार भविष्य में चुनाव लड़ने की योजना पर गंभीरतापूर्वक विचार कर रहे हैं।

एक गंवई कहावत है : 'भूत के कान्हा हवाखोरी…' भूत के कंधे पर बैठ हवाखोरी को हर्गिज मत निकलिए। पता नहीं कब पटक कर आपकी गर्दन ही मरोड़ दे।

पांच

भारत की खोज में, सुदूर अतीत और विस्तृत वर्तमान के वैचारिक देशाटन पर पंडित जी जब निकले थे, तो उन्हें अपना प्रयास मात्र एक धृष्टता लगी। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दी डिसकवरी ऑफ इंडिया' में उन्होंने लिखा है कि इस देश के करोड़ों नर-नारियों के विचारों और भावनाओं का अपना निजी संसार भी है जिसमें वे बसते आए हैं; फिर भी एक ऐसा तंतु है जिसने उन सब को आपस में बांध रखा है। वर्षों बाद पंडित जी जब प्रधान मंत्री बने तो, विदेश के कुछ लोगों ने उनसे यह जानना चाहा कि उनकी सरकार के समक्ष कितनी समस्याएं हैं। उत्तर में पंडित जी ने कहा कि भारत में जितने लोग बसते हैं, उतनी ही समस्याएं हैं। तात्पर्य यह कि लगभग साठ करोड़ आबादी वाले इस देश में साठ करोड़ समस्याएं भी मौजूद हैं। हर व्यक्ति जो यहां रह रहा है उसकी एक न एक समस्या––या यों कहिए, वह स्वयं में ही एक समस्या है। दर्शन-शास्त्र और तत्त्व-मीमांसा की दृष्टि से भी यह एक दिलचस्प बात है।

मेरे ननिहाल मिश्रटोला (दरभंगा) के दीघी पोखर पर एक गरीब ब्राह्मण वैद्य बसते थे—बिन्दा मिश्र। बहुत मामूली पढ़े-लिखे। शिक्षित नहीं, केवल सुसाक्षर। वैद्यक के नाम पर पाचक-चूर्ण बेचकर बेचारे बसर कर लेते। कविता करने का भी शौक था उन्हें। और कविता क्या, मात्र तुकबंदी कहिए, किंतु एक तुकबंदी में ही अति उत्तम बात पैदा कर दी। पंक्तियां थीं :

हर दिल, हर दिमाग, हर दुनिया
क्या सुनिया, क्या धुनिया
हर राग, हर बोल, हरमुनिया

—इस धरती पर बसने वाले प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वतंत्र मन है, औरों से भिन्न मस्तिष्क है और उस मस्तिष्क से उपजे विचारों के अनुरूप, उन सब के

वह प्रतिध्वनि मुखरित होती है मनुष्य के विचारों में। और विचार ही संचालित करते हैं कर्म को। तब तो यह भी नितांत युक्तिसंगत बात है कि अपने कार्य-कलापों में व्यक्ति अपने विचारों द्वारा ही नियंत्रित हो। इसका अर्थ तब तो यह भी हुआ कि विचार-विश्वास, आराधना-उपासना की स्वतंत्रता मानव-व्यक्तित्व के अभिन्न सूक्ष्म अंग हैं तथा उनके अनुसार जीवनयापन करने के मनुष्य के अधिकार नैसर्गिक हैं। और जो अधिकार नैसर्गिक हैं, वे अनतिक्रम्य भी।

अपने व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए अनुकूल अवसर और साधन प्राप्त करना मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार तो है, किंतु यह अधिकार सिद्धान्त-रूपेण भी मनुष्य को सहज ही प्राप्त नहीं हो सका। और व्यवहार में तो पूर्णरूपेण यह कब उपलब्ध होगा, सो पता नहीं। आधुनिक प्रजातंत्र के आधारस्तंभ :

—सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय

—विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता

—स्थिति और अवसर की समता

जिनका अपने संविधान की प्रस्तावना में उल्लेख कर हमने भी भारत को एक संपूर्ण-प्रभुत्वसम्पन्न, लोकतंत्रात्मक गणराज्य निर्मित करने का संकल्प किया था; वह वास्तव में व्यक्ति की गरिमा को ही सुनिश्चित रूप से स्थापित करने का संकल्प है, जिसके आधार पर बन्धुत्व की भावना और राष्ट्र की एकता सुदृढ़ करने का लक्ष्य हमने निर्धारित किया है।

सच तो यह है कि मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा को मान्यता दिलाने के लिए मनुष्य को सदियों संघर्ष करना पड़ा है। इस अभीष्ट सिद्धि के लिए वह व्यष्टि रूप से भी लड़ा और समष्टि रूप से भी। विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए व्यक्तिगत रूप से उसने अनेक कठोर यातनाएं सहीं : विषपान किया, शूली चढ़ा, जिंदा जला, बरसों बंदीगृह में जंजीरों से जकड़ा रहा, अंधा बनाया गया, अपनी प्यारी जन्मभूमि से निर्वासित होकर अनजाने देशों में दर-दर ठोकरें खाता रहा। लड़ते-लड़ते मिट गया, लेकिन डिगा नहीं। यूनान के सुकरात, नजारथ वासी यहूदी ईसा, फ़ारस के हल्लाज मंसूर, पोलैंड के कापरनिकस, इटली के ब्रूनो, इटली के ही गैलीलियो, स्वीटज़रलेंड के रूसो तथा जर्मनी के यहूदी मार्क्स की तरह न जाने कितने उदाहरण हैं :

सुकरात एक महान् सत्यान्वेषी दार्शनिक था। उसने आजीवन सत्य की खोज जारी रखी। राह चलते लोगों को रोक वह उनसे वाद-विवाद छेड़ देता

और प्रचलित विचार-विश्वास-रीतियों पर बुद्धि और तर्क की सहायता से पुनर्विचार करने के लिए उन्हें झकझोरा करता था। एथेंस की सरकार ने उस पर नौजवानों को बहकाने और दूसरे देवताओं पर विश्वास करने के आरोप में मुकदमा चलाया और मौत की सजा सुना दी। न्यायाधीश ने सुकरात के समक्ष यह शर्त रखते हुए कहा कि यदि वह लोगों से वाद-विवाद करना छोड़ दे और अपना ढंग बदल ले, तो उसे मृत्युदंड से मुक्त कर दिया जाएगा। उत्तर में सुकरात ने न्यायाधीश एवं एथेंसवासियों को सम्बोधित करते हुए कहा :

"यदि आप मुझे इस शर्त पर रिहा करना चाहते हैं कि मैं सत्य की खोज छोड़ दूं, तो मैं यही कहूंगा कि ऐ एथेंसवासियो ! आप लोगों को धन्यवाद। परंतु मैं आपकी बात मानने के बदले ईश्वर की आज्ञा मानूंगा जिसने, जैसा कि मेरा विश्वास है, मुझे यह काम सौंपा है। जब तक मेरे शरीर में प्राण हैं, मैं अपनी दार्शनिक लगन नहीं छोड़ूंगा। मैं अपनी यह रीति बराबर जारी रखूंगा कि जो कोई मुझे मिले, उसे रोक कर यही पूछूं—क्या तुम्हें ग्लानि नहीं होती कि तुमने अपना चित्त केवल धन और प्रतिष्ठा प्राप्ति में ही लगा रखा है और सत्य या ज्ञान को ढूंढने अथवा आत्मा को निखारने की तुमने तनिक भी चिंता नहीं की ? और सुकरात ने जहर का प्याला पी लिया। यह घटना 399 वर्ष ईस्वी पूर्व की है।

ईसा बंदी बना कर यरुशलम के रोमन गवर्नर, पौंतियस पाइलेत के सामने हाजिर किए गए। काउंसिल-भवन में एकत्रित क्रुद्ध प्रधान पुरोहित और जनसमुदाय ने आरोप लगाया कि यह पाखंडी जीसस अपने को ईश्वर-पुत्र और यहूदियों का राजा घोषित करता है तथा लोगों को पथभ्रष्ट कर उन्हें सम्राट (अगस्तस) सीजर को खिराज देने से मना करता है।

अनुसदों ने जब ईसा से पूछा, "क्या तू मसीह है ?" तो ईसा ने कहा, "अगर मैं कहूं, तो तुम यकीन नहीं करोगे और तुम से ही पूछूं तो जवाब नहीं दोगे।"

अनुसदों ने दूसरा प्रश्न किया, "क्या तू ईश्वर का पुत्र है ?" परमशांत चित्त से ईसा ने कहा, "हां, सो तो मैं हूं।"

एक सवाल गवर्नर पाइलेत ने स्वयं भी किया—"क्या तू यहूदियों का राजा है ?" ईसा ने व्यंग्य भाव में उत्तर दिया, "यह तो खुद तू ही कह रहा है।" पाइलेत को ईसा पूर्ण निर्दोष दीखे। लेकिन प्रधान पुरोहित, उपस्थित सभासदों और एकत्रित जनसमूह ने जब आवेग और उत्तेजनापूर्ण आवाज में ईसा को सूली

चढ़ा देने के लिए चिल्लाना शुरू किया, तो विवश होकर गवर्नर पाइलेत ने जल-पात्र मंगवाया और अपना हाथ धोकर जनसमुदाय की ओर झाड़ते हुए कहा—"इस निरपराध के खून का दोष मुझ पर नहीं।" और अनिच्छापूर्वक, ईसा को क्रूस पर ठोक देने की सज़ा सुना दी।

सिपाही जब यीशु को पकड़ ले गए, तो उन्होंने उनके साथ प्रहसन प्रारंभ कर दिया : ईसा के कपड़े उतार उन्हें लाल लबादा पहना दिया, सर पर कांटों का ताज रख दिया, दाहिने हाथ में राजदंड के बदले एक सरकंडा थमा दिया और तब उनके सामने घुटने टेक कर अभिवादन का स्वांग करते हुए बोले—"जय हो, यहूदी नरेश !" दर्शक-गण भी ईसा की देह पर फूल के बदले थूक बरसाने लगे। उनकी आंख पर पट्टी बांध, एक ने तमाचे जड़ दिए तो दूसरे ने पूछा, "भविष्य-द्रष्टा, बता किसने चपत चलाई ?"

क्रूस-स्थल, गौलगौथा (संत ल्यूक के अनुसार कालवरी) में सलीब पर टांग कर उनके हाथ-पांव-सर में जब कीलें ठोंक दी गईं, तो उनसे बहते लहू की धार देख कर उपस्थित अनुसदों एवं अन्य पुरोहितों के संग-संग प्रधान पुरोहित ने भी कटाक्ष करते हुए ईसा से कहा, "तू तो दूसरों की जान बचाता फिरता था, अब अपनी जान क्यों नहीं बचा लेता ? ऐ प्रभु-पुत्र ! बुला ले न अपने पिता को रक्षा के लिए।" सलीब पर टंगे ईसा ने प्रत्युत्तर में प्रभु से प्रार्थना की—"मेरे पिता ! इन्हें क्षमा कर दें। ये नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं।"

फारस में, अलबैज़ा के निकट एक अग्निपूजक कुल में जन्मे, हल्लाज मुग़ीथ अल-हुसैन मंसूर पर पहले तो मुताजिल द्वारा एक ईसाई होने का आरोप लगाया गया। फिर, इमामिया की तौक़ी और ज़हीरीया के फ़तवे के तहत वे धर्म-बहिष्कृत कर दिए गए। इस पर भी मंसूर ने अपना 'दावा' नहीं छोड़ा। दावा था, 'अनल हक—जो वह (ईश्वर) है, वही मैं हूं।' वज़ीर इब्न ईसा ने उन्हें गिरफ्तार कर आठ वर्षों तक बगदाद की जेल में कैद रखा। मंसूर अडिग रहे। उन पर मुकदमा चला। वज़ीर हमीद के हुक्म और मालिकी क़ादी अबू उमर के फतवे से 26 मार्च इस्वी सन् 922, मंगलवार के दिन, बगदाद में नदी के दाहिने किनारे, चौक के पास बा-अल-तक के सामने वाले नए जेल में उन्हें कोड़े से पिट-वाया गया। मंसूर 'अनल हक' की रट लगाते ही रहे। उनका अंग-विच्छेद कर मसलूब पर फेंक दिया गया। अनल हक़ का दावा फिर भी खामोश न हुआ तो जल्लाद ने उनका सिर काट कर जला दिया।

एक और सुदूर अतीत की यात्रा पर चलें। आज से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पीछे। इस लंबी काल-दूरी की प्रतिगामी यात्रा-अवधि में यह सूरज एक लाख, उनसठ हजार, नौ सौ बार अस्त हो चुका होगा। परंतु यात्रा-कष्ट से विचलित न हों। वहां एक ऐसा सत्य-सूर्य आपकी प्रतीक्षा कर रहा है जिसके दर्शन से आप विस्मित रह जाएंगे। उस रोज पोलैंड में सत्य का जो सूरज उगा था, वह आज तक फिर कभी डूबा नहीं। उस सत्य-सूर्य की प्रचंड किरणों ने अज्ञान-तिमिर की न जाने कितनी मोटी परतें जलाकर खाक कर दीं। तभी से लगातार यह धरती अपने सभी संगी-ग्रहों के साथ उसी सूरज के चारों ओर चक्कर काटने लग गई।

पोलैंड के फ्रूनबर्ग गिरजामहल की एक कोठरी में 70 वर्षीय निकोलस कोपरनिकस रोगशय्या पर लेटे-लेटे बड़ी बेचैनी से अपनी सांसें गिन रहा है। प्रतीक्षा में उसके प्राण टंगे हैं—एक ही साथ दो की प्रतीक्षा, एक मृत्यु और दूसरी, वह पुस्तक जिसे तीस वर्ष पूर्व, चालीस साल की आयु में उसने लिखा था। अधिक बेचैन वह इसलिए है कि कहीं किताब के पहुंचने से पहले मौत ही न आ पहुंचे।[1] उसकी नजर कभी गिरजामहल की ऊंची दीवारों से टकरा जाती और कभी खिड़की के बाहर फैले आकाश से। उन्हीं दीवारों के बीच कहीं एक छोटा-सा सूराख था जिससे वरसों वह चुपके-चुपके नभ के ग्रह-नक्षत्रों को निहारता रहा था; बड़े मनोयोग और सतर्कता से उनकी गतिविधियों का अध्ययन किया करता था। उस सूराख से नील गगन में रंग-बिरंगे नक्षत्रों का जो नृत्य उसने देखा था, उसे कह देता तो दुनिया हिल जाती : अरस्तू कट जाते, अलेक्जेंड्रिया के खगोल-शास्त्र-सम्राट टॉलमी का सिद्धांत चूर-चूर हो जाता जिस पर विगत तेरह सौ वर्षों से दुनिया चलती आई थी, परंपरागत विश्वासों की जड़ खोखली हो जाती; और सबसे बढ़कर, बाइबिल झूठा हो जाता। वह इन सब का एक और परिणाम भी जानता था—समस्त ईसाई जगत में क्रोध भड़क उठेगा और 'इनक्विजिशन'[2]

1. उन दिनों आज की तरह गली-गली में छापेखाने नहीं थे। यद्यपि 93 वर्ष पूर्व गुटेनबर्ग द्वारा सन् 1450 में प्रिंटिंग प्रेस की ईजाद जर्मनी में हो चुकी थी, परंतु प्रेसों की संख्या सीमित थी तथा स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों आदि ज्ञान-प्रसार के अन्य माध्यमों की तरह, पुस्तकों के मुद्रण-प्रकाशन पर भी चर्च का कठोर नियंत्रण रहा करता था।
2. 15वीं शताब्दी के अन्त में जब ईसाई शासक फर्डीनेंड और आइजाबेला ने मुसलमान अरबों को हराकर स्पेन पर कब्जा कर लिया तो उन्हीं दिनों स्पेन में इनक्विजिशन (धर्माधिकरण) की स्थापना की गई। रोमन ईसाई संघ ने यह भयानक संगठन (इनक्वि-जिशन) उन तमाम लोगों को कुचलने के लिए स्थापित किया जो उनके सामने झुकने को तैयार नहीं थे। जो अरब सरासीन स्पेन छोड़कर नहीं भागे थे, उन्हें अपना इस्लाम धर्म, अपनी अरबी भाषा, रस्म-रिवाज, यहां तक कि अपना नाम बदलने तक को मजबूर किया गया। इनक्विजिशन ने वैसे हजारों अरब नर-नारियों और बच्चों को स्पेन में जिंदा

का फौलादी पंजा उसकी गर्दन मरोड़ कर फेंक देगा। इसलिए कोपरनिकस चुप ही रहा। तीस वर्षों तक इस तरह जिस सत्य को उसने कागज के पन्नों में छुपाए रखा था, उसके प्रकट होने की घड़ी अब आ पहुंची है। अब एक पर्दा गिरने वाला है, जिसके पीछे कोपरनिकस का पार्थिव शरीर सदा-सर्वदा के लिए छिप जाएगा; और साथ-साथ एक दूसरा पर्दा उठने भी वाला है जिसके पीछे से उसकी ताजा छपी किताब 'कनसर्निंग दि रिवोल्यूशन ऑफ़ हैवनली बॉडीज़' आकर दुनिया के सामने प्रकट हो जाएगी। और तब यह सत्य सदा-सदा के लिए उजागर हो जाएगा कि पृथ्वी के चारों ओर सूर्य नहीं, सूर्य के ही चारों ओर पृथ्वी घूमती है। और इस तरह, 24 मई 1543 के दिन एक पर्दा उठा, और उसके कुछ ही देर बाद दूसरा पर्दा गिर गया।

कोपरनिकस की मृत्यु के सात वर्ष बाद, इटली के नेपल्स नगर में एक अति साहसी सत्यान्वेषी का जन्म हुआ जिसका नाम था, जियोर्दानो ब्रूनो। था तो वह एक ईसाई मठवासी, लेकिन खगोल-विज्ञान का उसे चस्का लग गया था। अपने अति संशयवादी, अनधिकृत मत के कारण चौबीस वर्ष की आयु में ही उसे मठ छोड़कर भागना पड़ा था। वर्षों नगर-नगर, डगर-डगर भटकता रहा वह: रोम गया। रोम से वेनिस पहुंचा। वेनिस में यद्यपि चर्च का उतना बोलबाला नहीं था; चर्च के ऊपर राज्य का ही दबदबा था, किंतु राज्य स्वयं ही कट्टरपंथी था। गुजर नहीं हुई ब्रूनो की। भागा-भागा पादुआ नगर पहुंचा जहां का विश्वविद्यालय उस युग के बौद्धिक कार्यकलापों का केंद्रस्थल था। लेकिन वहां भी संघर्ष। तो, भाग कर जेनोआ गया। ब्रूनो वहां भी अधिक दिनों तक नहीं टिक पाया।[1] फ्रांस

जलवा दिया था जिन्होंने अपना धर्म और ढंग नहीं बदला। निदरलैंड में फिलिप द्वितीय के शासन-काल (1568) में इनक्विजिशन ने कुछ गिने-चुने लोगों को छोड़कर, बाकी तीस लाख लोगों को एक ही फैसले में काफिर करार देते हुए मौत की सजा दे डाली।

1. पता नहीं ब्रूनो दक्षिणी इटली के सैलर्नो नगर क्यों नहीं गया जहां का वातावरण वैज्ञानिक जिज्ञासा और विचारों के लिए अधिक अनुकूल था। पादुआ तो 'स्कॉलिस्टिक राशनलिज्म' विचारधारा का अखाड़ा बन चुका था जिससे मुक्तमना रिनासांबादियों की जोरदार टक्करें होती रहीं। एम० एन० राय की प्रसिद्ध पुस्तक 'रिजन रोमांटिसिज्म एण्ड रेवोल्यूशन' पढ़ने से मालूम होता है कि उस युग में उत्तरी इटली के वेनिस, फ्लोरेंस, जेनोआ, पादुआ आदि नगरों की अपेक्षा दक्षिणी इटली के नेपुल्स, सिसली सैलर्नो आदि नगर संशयवादी एवं मुक्त अन्वेषकों के लिए अधिक अनुकूल थे। सातवीं सदी तक सैलर्नो में हिप्पोक्रिट्स और गेलेन के सिद्धांतों के अध्ययन के लिए समस्त यूरोप से चिकित्सा-विज्ञान के छात्र सैलर्नो जुटते रहे। पादुआ विश्वविद्यालय तो तेरहवीं

की पेरिस यूनिवर्सिटी और इंगलैंड की आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में भी विख्यात विद्वानों का जमघट रहा करता था। सो, ब्रूनो पेरिस पहुंचा। परंतु, वहां भी जब निराशा ही मिली, तो भागकर वह इंगलैंड जा पहुंचा। वहां भी बात नहीं बनी, तो जर्मनी गया। मुसीबत ने जब जर्मनी में भी पीछा नहीं छोड़ा, तो लौट कर ब्रूनो घर को आए।

असल में कोपरनिकस की बेचैन आत्मा प्रवेश कर गई थी ब्रूनो में। मरने को तो कोपरनिकस मर गया, लेकिन अपनी पुस्तक को छपवा कर छोड़ गया था। नाम भी उसने पुस्तक का बड़ा सार्थक रख छोड़ा था—'रिवोल्यूशन ऑफ़ हैवनली बॉडीज़'। रेवोल्यूशन तो आखिर रेवोल्यूशन ही है; 'हैवनली' हो या 'अर्थली'। कोई रेवोल्यूशन तो तृप्त होती नहीं, बिना रक्त के। सो, विधाता ने उसकी तृप्ति का प्रबंध भी कर रखा था। आकाशीय ग्रह-नक्षत्रों की लीला ब्रूनो ने जब स्वयं भी देखी, तो उसने पाया—'सितारों के आगे जहां और भी हैं।' कोपरनिकस के सिद्धांतों पर उसका विश्वास और भी दृढ़ हो गया। उन्हीं सिद्धांतों को लेकर देश-विदेश वह भटकता रहा। और हर जगह परंपरागत अंधविश्वासों से उसकी टक्कर होती रही। आखिर इनक्विज़िशन ने उसकी गर्दन पकड़ ही ली। छह वर्षों तक रोम की एक कालकोठरी में कैद रखा। प्रलोभन-प्रताड़न, सब प्रयोग में लाए गए। लेकिन सुकरात की भांति ब्रूनो भी अटल रहा। उसने अपना मत-परित्याग नहीं ही किया।

एक हितैषी धर्माधिकारी ने ब्रूनो को समझाने की चेष्टा करते हुए जब यह कहा कि जो बात सैकड़ों वर्षों से चलती आई है और जिसे सभी लोग मानते आ रहे हैं, उस जन-विश्वास का सम्मान करते हुए उसे भी अपने विचार बदल देने चाहिए, तो उत्तर में ब्रूनो ने कहा कि उतने दिनों तक बहुत सारे लोग एक बिल्कुल गलत बात मानते चले आए हैं इसीलिए यह और भी जरूरी है कि उन्हें अब वह सही बात बतला दें। उसके बाद वह जो बोल गया, वह तो वेद-वाक्यों की श्रेणी का था, पत्थर की लकीर की तरह अमिट : "यह तो अनुर्वरक मस्तिष्क का लक्षण है कि जनसाधारण के विचारों को वह केवल इस कारण अपना ले कि बहुसंख्यक लोग उस विचार के पक्षधर हैं। सत्य, अनभिज्ञों के मत और बहुजनों की मान्यता पर आश्रित नहीं।"

न्यायालय में जब उसे सजा सुनाई गई तो न्यायाधीशों को इंगित करते हुए उसने कहा—"मैं तो अपनी निष्ठा पर अडिग रहा। मृत्यु से भी नहीं डरा। मुझे दंडित करके आप स्वयं ही अधिक भयभीत हैं। मेरे लिए तो इतना ही पर्याप्त था

सदी में प्रसिद्ध हुआ। पेरिस यूनिवर्सिटी की स्थापना बारहवीं शताब्दी के आरंभ में तथा आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी की स्थापना उस शताब्दी के अन्त में हुई थी।

कि अपने विचारों के लिए मैं लड़ा।" ब्रूनो को जिंदा जला देने का हुक्म हुआ। अग्निवेदी की लपटों के बीच, अंतिम चुम्बन के लिए लोगों ने उसकी ओर जब क्रूस बढ़ाया तो, जियर्दानो ब्रूनो ने अपना मुंह फेर लिया। यह घटना 17 फरवरी सन् 1600 की है।

ब्रूनो की शहादत के आठवें वर्ष, हालैंडवासी लिपरशै ने दूरबीन ईजाद की। ईसाई धर्माधिकारियों ने लोगों को मना किया कि वे इस यंत्र का उपयोग न करें क्योंकि यह शैतान की करामात है जो लोगों में दृष्टि-दोष उत्पन्न कर उन्हें बहकाना चाहता है। लेकिन इटली के पादुआ विश्वविद्यालय का एक प्राध्यापक, गैलिलीयो, उस वर्जना की अवहेलना करते हुए अपने नक्षत्र-निरीक्षण कार्य में उस नव-आविष्कृत यंत्र का प्रयोग करता ही रहा। चार वर्ष पूर्व उसने आकाश में एक नया नक्षत्र देखा था। अब दूरबीन की सहायता से उसने जब नभमंडल को निहारा तो उसे कापरनिकस के पूर्वप्रतिपादित सिद्धांतों की परिपुष्टि में पर्याप्त प्रमाण अनंत आकाश में उपलब्ध हुए। उसे और भी कई नए नक्षत्र नजर आए। उसने यह भी स्पष्ट देखा कि सूर्य भी घूमता है और उसमें भी धब्बे हैं। गैलिलीयो की हठधर्मिता के कारण जब धर्मसम्मत परंपरागत विश्वासों के पूर्ण खंडित होने का खतरा बढ़ गया, तो इनक्विजिशन ने अपना खूनी पंजा उसकी ओर बढ़ाया। वह आतंकित हो उठा। ब्रूनो-कांड उसकी नजरों के सामने नाच गया। पता नहीं, गैलिलीयो ने महाभारत पढ़ा था क्या : कुरुक्षेत्र की समरभूमि में, एक सुनियोजित षड्यंत्र के अंतर्गत, जब भीम ने अश्वत्थामा नामक हाथी को मार गिराया, तो पांडव-पक्ष के योद्धाओं ने 'अश्वत्थामा मारा गया···अश्वत्थामा मारा गया' चिल्ला-चिल्ला कर गगन गुंजा दिया। कौरव-सेनानायक द्रोणाचार्य के प्रतापी पुत्र का नाम भी अश्वत्थामा ही था। द्रोणाचार्य के कान में जब 'अश्वत्थामा' शब्द सुनाई पड़ा, तो पुत्रवध की आशंका से व्याकुल हो वे शिथिल पड़ गए, सत्य बात जानने के लिए उन्होंने सत्यवादी धर्मराज युधिष्ठिर से जिज्ञासा की। कृष्ण ने युधिष्ठिर को मंत्रणा दी कि द्रोण को पराजित करने के लिए इस समय असत्य कथन का महत्त्व सत्य से अधिक है। तो द्रोणाचार्य को सुनाते हुए युधिष्ठिर ने उच्च स्वर में कहा, 'हां, अश्वत्थामा मारा गया।' पुनः अपनी सत्यवादिता की रक्षा करते हुए, बहुत धीमे स्वर से बोले, 'परंतु वह नर नहीं हाथी था।'

कहा जाता है कि गैलिलीयो जब घोर कट्टरपंथी संचालक-मंडल के सामने पेश किया गया, तो पहले उसने नीति से काम लेकर कोपरनिकस के सिद्धांतों और

अपने ही मतों का प्रतिवाद करते हुए कहा कि यह सब बिल्कुल गलत है कि सूर्य में धब्बा है, सूर्य घूमता है और पृथ्वी उसका चक्कर काटती है। सब कहकर जब बैठने लगा तो उससे रहा न गया और वह धीरे से बोला, "फिर भी ग्रह तो घूमते ही हैं।" गैलिलीयो को आखिर सजा हो ही गई। अंधा और असहाय होकर नौ बरसों तक वह कैद रहा। उनासी वर्ष की आयु में, कालकोठरी में टिमटिमाता वह चिराग, एक दिन अचानक बुझ गया।

लगभग डेढ़ सौ वर्षों के बाद की एक और घटना : माटियर्स में उस दिन मेला लगा था। अचानक आधी रात को रूसो के आवास-गृह पर पत्थरों की भयानक वर्षा होने लगी। खिड़की-किवाड़ टूट गए। एक बड़ा-सा पत्थर खिड़की का शीशा चूर कर रूसो के बिस्तर के पास आ गिरा। वह दौड़कर बगल की कोठरी में जा पहुंचा जहां उसकी पत्नी, थेरेसी, भय से कांपती आकर उससे लिपट गई। दीवार की ओट लेकर, प्रस्तर मूर्ति की भांति, खड़े-खड़े दोनों सब तमाशा देखते रहे। बाहर शोर मचाते बलवाई लोग इस ताक में थे कि आतंकित होकर रूसो घर के बाहर निकले तो, वे उसकी जान ले लें। ढाई साल पहले स्वीजरलैंड के वर्दू नगर से निष्कासित होने के बाद पर्शिया के राजा ने अपने इस छोटे-से शहर में उसे शरण देने की कृपा की थी। किंतु यहां भी उसके विरुद्ध भयंकर तूफ़ान उठ खड़ा हुआ था।

कोई तीन वर्ष पूर्व, सन् 1762 में, रूसो की दो पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं : 'सोशल कंट्रैक्ट' और 'एमिली'। उनके छपते ही मुसीबत के पहाड़ टूट पड़े उस पर। रूसो उन दिनों नगर के कोलाहल से दूर, पेरिस से बारह मील हट कर, मॉन्टमारेंसी-वन के निकट एक शांत-सुरम्य स्थल पर रहा करता था। किताबें छपीं तो पेरिस में खलबली मच गई। सामंत वर्ग और न्यायिक लोग इतना बौखला उठे कि किताबों के बदले स्वयं लेखक को ही जीवित जला देने की बात उन्होंने खुल्लमखुल्ला कहनी शुरू कर दी। पेरिस की अदालतों ने उसे सख्त से सख्त सजा देने का मन बना लिया था। रूसो की गिरफ्तारी का वारंट जारी हुआ। कुछ दोस्तों ने उसे चुपचाप फ्रांस छोड़कर रातोंरात भाग निकलने की सलाह दी। विदा लेते समय अपनी पत्नी से उसने कहा : "वैभव की संगिनी रहीं, अब मेरी विपन्नता की भी सहभागिनी बनना चाहती हो न ! तो साहस रखना। घोर मानमर्दन और महाविपदा के दिन आने वाले हैं। जो दुर्भाग्य आज आरंभ हुआ है, वह अंतिम घड़ी तक मेरा पीछा नहीं छोड़ेगा।" और सचमुच उस दिन से दुर्भाग्य छाया की तरह उसके साथ लग गया।

विपन्न और शरणार्थी बनकर रूसो ने जीवन के शेष दिन काटे। लगातार आठ वर्षों तक, अनेक अभियोग एवं अनवरत विचरण से परिक्लांत, प्रचंड झंझावातों से ध्वस्त वह परम संतप्त प्राणी, शरण और शांति की खोज में यूरोप के एक देश से दूसरे देश में भटकता ही रहा। करीब-करीब सारे यूरोप में उसके विरुद्ध आंधी उठ चली थी। वह एक ऐसे व्यापक कोप और षड्यंत्र का शिकार बना जिसमें सामंत और न्यायिक वर्ग, धर्माधिकारी और अनेक प्रतिस्पर्धी एवं ईर्ष्यालु विचारक सम्मिलित थे। उसे अराजकतावादी, गैर-ईसाई और बदचलन बता कर, लोगों को उसके विरुद्ध भड़काया गया। जेनेवा में उसकी किताबें जलाई गईं। पेरिस के प्रकाशकों को धमकाया गया कि वे उसकी कोई रचना न छापें। माटियर्स के बाजारों में लोग उस पर फब्तियां कसते, राह चलते पत्थर मारते। कोई गोली दाग देने की भी धमकी देता।

सर्द मौसम। रोगग्रस्त शरीर। न पूरा कपड़ा और न जेब भारी। कहीं न कोई साथी, न मंजिल। उस स्थिति में सेंट पियरे के टापू से चौबीस घंटों के अंदर देश की सीमा से बाहर निकल जाने का जब उसे आदेश मिला तो, रूसो अंदर ही अंदर विलख उठा। उस घड़ी की अपनी दयनीय अवस्था का बड़ा ही हृदयद्रावक उल्लेख किया है उसने 'दि कनफेशन्स' (स्वीकारोक्तियां) नामक आत्म-कथा में। बड़ा कातर होकर उसने आत्म-प्रश्न किया है—'अब कहां जाऊं?' इतना त्रस्त हो चुका था वह कि सेंट पियरे के अधिकारियों से उसने प्रार्थना की कि एक स्थायी शरणार्थी बनाकर, धरती के कोने-कोने में निरंतर शरण ढुंढ़वाते रहने की अपेक्षा उसे वे आजीवन कैद कर वहीं रख लें।

कसूर बस इतना ही था रूसो का कि उसने 'सोशल कंट्रैक्ट' और 'एमिली' नामक पुस्तकें लिखी थीं। आज हम-आप भले ही न चौंकें, परंतु उस युग के लोग 'सोशल कंट्रैक्ट'[1] की प्रथम पंक्ति पढ़कर ही चौंक पड़े थे : "मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न

1. हालांकि रूसो के निजी विचार में 'एमिली' ही उसकी सर्वोत्तम कृति थी, परंतु विश्व की बहुचर्चित पुस्तक बनने का सौभाग्य तथा युग-प्रवर्तक माने जाने का श्रेय तो उसकी पुस्तक 'सोशल कंट्रैक्ट' को ही प्राप्त हुआ। यद्यपि सोशल कंट्रैक्ट की सारी ललकार, उसकी पूर्व रचना 'एसे ऑन इनक्वालिटी' में समाई हुई थी (देखें, 'दि कनफेशन्स' पृ० सं० 379, 529)। उस रचना को पढ़कर वाल्तेयर ने बड़ी मजेदार टिप्पणी की थी। रूसो को लिखा : "महाशय! मानव जाति के विरुद्ध आपकी नवीन पुस्तक प्राप्त हुई। धन्यवाद! हमें पशु की शक्ल में ढाल देने का आपसे अधिक परिहासपूर्ण प्रयास अन्य किसी ने नहीं किया। पढ़ कर हाथ और घुटनों के बल चलने को जी चाहता है। किन्तु यह अभ्यास छोड़े मुझे साठ वर्ष हो गए। अतः दुर्भाग्यवश उन्हें फिर से अपना लेना, मेरे लिए तो संभव नहीं।"

पिलट का मत यह था, "मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न नहीं हुआ, अपितु, जितनी मात्रा में वह मनुष्य बनता गया, उतनी ही मात्रा में स्वतंत्र भी..."

हुआ था, परंतु वह सर्वत्र बंधनों से ग्रस्त है।" और आगे जब लोगों ने यह पढ़ा : "धरती की देन पर तो हम सब का समान अधिकार है, पर स्वयं धरती पर किसी का नहीं" तो संपत्तिवानों को अपने पांव के नीचे की सारी धरती ही खिसकती नजर आने लगी। इसी विचार को आधारशिला बनाकर, विवेकपूर्ण अनुमान और सरल तर्क की सहायता से, समाज की उत्पत्ति और राज्य के औचित्य की रूप-रेखा प्रस्तुत करते हुए रूसो ने बताया कि : समाज की रचना व्यक्तियों के पारस्परिक समझौते से हुई है। सार्वभौमिकता समस्त जनता में निहित है, न कि किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष में। सभी व्यक्ति स्वतंत्र और समान हैं तथा सरकार की स्थापना का मूल उद्देश्य एवं उसके अस्तित्व का औचित्य भी प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखने में ही निहित है।

दुनिया अब तक यह मानती आई थी कि : मनुष्य एक दुष्ट जीव है अतः, उसमें भले-बुरे का ज्ञान आरोपित करना आवश्यक है। यह गुरुतम कार्य चर्च—धर्म के द्वारा तथा राज्य—कानून के द्वारा संपादित करते हैं। लोक-विधान केवल कुछ शीर्षस्थ लोगों द्वारा ही निर्मित होने चाहिए तथा शेष जनता को केवल उनका अनुपालन करना चाहिए। उन सारी मान्यताओं को उलट कर, उन सब के विपरीत, रूसो ने अपना नया मत प्रकट करते हुए कहा कि : प्राकृतिक मनुष्य से अधिक शुद्ध और भद्र कोई और प्राणी नहीं; क्योंकि उसकी नैसर्गिक संवेदना ही उसे दूसरों को क्षति पहुंचाने से रोक देती है। स्वार्थपूर्ण शिक्षण-प्रशिक्षण द्वारा यदि उसमें विकार उत्पन्न न किए जाएं तो, मनुष्य एक अत्यंत भला जीव है। अब तक मनुष्य में जो भी ज्ञान आरोपित किए जाते रहे हैं, उन सब का वास्तविक उद्देश्य कुछ लोगों की संपत्ति-सुविधाओं को सुरक्षित रखना है। उसने कहा, "सामान्य व्यक्ति ही मानव समाज की आधारशिला है और जो बात सामान्य जन से संबद्ध नहीं, वह विचारणीय भी नहीं।"

रूसो के विचार युग-प्रवर्त्तक सिद्ध हुए। उसने समस्त मानव समाज की चिंतन-धारा ही मोड़ दी। उन्हीं विचार-लहरियों से अमेरिका का स्वातंत्र्य-युद्ध स्पंदित हुआ, फ्रांस की राज्य क्रांति आंदोलित हुई, उन्नीसवीं शताब्दी का उदारतावाद प्रकट हुआ तथा समाजवादी-साम्यवादी राजनैतिक दर्शन प्रभावित हुए। जेनेवा के एक मामूली घड़ीसाज का बेटा, जां जाक रूसो, छियासठ वर्ष की आयु में फ्रांस के एक छोटे से गांव में, 3 जुलाई 1778 के दिन, एक मामूली आदमी की तरह ही मरा। सामान्य व्यक्ति की गरिमा को प्रतिष्ठित करने के अपने प्रयास में यद्यपि वह स्वयं विपदाओं के उस विकट संसार में जा पहुंचा था जहां घबड़ा कर उसने खुद से पूछा—'अब किधर जाऊं ?' लेकिन, उसकी मृत्यु के बाद दुनिया को मालूम होते देर न लगी कि लोगों को अब किधर जाना है।

मान लीजिए, कार्ल मार्क्स की मृत्यु आज इस जमाने में हुई होती; तब बताइए, उनकी शव-यात्रा में कितने लोग शरीक होते ? मार्क्सवाद का जितना प्रचार-प्रसार हो चुका है, दुनिया के छोटे-बड़े जितने देशों में साम्यवादी सरकारें आज कायम हैं, उनके पक्ष-विपक्ष में जितने तर्क-वितर्क चला करते हैं; उन सब का ध्यान रखते हुए, मेरा तो ख्याल है, कम से कम पंद्रह-बीस करोड़ लोग तो उमड़ ही पड़ते। लेकिन, निन्यानवे वर्ष पूर्व, सन् 1883 में मार्क्स की जब मृत्यु हुई थी तो, 17 मार्च को उनके दफन के वक्त लंदन के हाईगेट कब्रिस्तान पर बस मुट्ठी भर ही लोग थे। मुश्किल से पंद्रह-बीस। इतने लोग तो एक मामूली-से-मामूली आदमी के जनाजे के साथ लग जाते हैं। फिर भी, मार्क्स का महत्त्व समझने में फ्रेडरिक एंगेल्स को इस बात से कोई फर्क नहीं मालूम पड़ा था कि उस वक्त कब्रगाह पर कितने लोग आए या न आए थे। मार्क्स के नाम पर कब्र में डालने के लिए उसने जब मिट्टी उठाई थी, तो उसे अपनी मुट्ठी में बड़ा वजन मालूम पड़ा था। कब्रगाह पर उपस्थित उन थोड़े-से लोगों को उसने कहा, "मार्क्स के नाम और कृत्य युग-युगांत तक कायम रहेंगे।" आशय यह था कि कार्ल मार्क्स एक महापुरुष थे। आने वाली दुनिया में लोगों को या तो उनके विचारों के पक्ष में होना पड़ेगा या विपक्ष में। किंतु, उनकी उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकेगी। एंगेल्स मार्क्स के परम मित्र एवं अनन्य सहयोगी ही नहीं थे, अपितु, स्वयं ही एक सिद्ध भविष्यद्रष्टा भी। सो, मार्क्स के बारे में उस दिन उन्होंने जो भविष्यवाणी की थी, वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई।

आज दुनिया के लगभग पौने दो अरब लोग साम्यवादी व्यवस्था के अंदर जी रहे हैं। क्षेत्र विस्तार एवं संख्या बाहुल्य की दृष्टि से साम्यवाद के प्रभाव और प्रभुत्व को तो व्यापक माना ही जाता है; किंतु मुख्य रूप से साम्यवादी रूस और चीन के औद्योगिक एवं सैन्यबल के कारण भी, साम्यवाद की गणना आज एक प्रवल विश्व-शक्ति के रूप में की जाती है। मेरे विचार से, मार्क्स का महत्त्व केवल इस कारण ही नहीं है कि साम्यवादी और उनके पक्षधरों ने आज इतनी शक्ति अर्जित कर ली है बल्कि, साम्यवाद के उदय और प्रसार के कारण विपक्षी खेमे में जो परिवर्तन हुए हैं, वे भी अति मंगलकारी हैं। मार्क्स ने यदि नहीं ललकारा होता; साम्यवादी विचारों से जोरदार टक्कर नहीं हुई होती; साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था से तीव्र प्रतिस्पर्धा प्रारंभ नहीं हो जाती तो, पूंजीवाद ने अपना स्वभाव और स्वरूप नहीं बदला होता। मेरी छोटी समझ में, यह मार्क्सवादी मतों का ही प्रताप है कि तथाकथित 'बुर्जुआ डेमोक्रेसी' को बाध्य होकर अपनी अर्थ-व्यवस्था लोककल्याणकारी सांचे में ढालनी पड़ गई है। इस दृष्टि से मार्क्सवाद के प्रबल प्रतिपक्षी भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाए। मार्क्स की उपेक्षा कर पाना उनके लिए भी संभव नहीं हो सका।

किंतु मार्क्स जो राह बता गए, उस पर चलकर साम्यवादी राज्य-संचालकों ने आम लोगों को रोटी-कपड़ा और मकान, शिक्षा-दीक्षा और दवा-दारू तो जरूर मुहैया कर दी; जन साधारण का जीवन-स्तर भी ऊपर उठाया; बड़े-बड़े कल-कारखाने खड़े कर लिए, शक्तिशाली टैंक, बम और रॉकेट बना कर दुश्मनों के दिल दहला दिए; लेकिन इस क्रम में उन्होंने व्यक्ति की गरिमा नष्ट कर डाली। मनुष्य के व्यक्तित्व और आत्मा को कुचल कर रख दिया। इसी प्रसंग में एक बात याद आ गई जो डॉ० राधाकृष्णन ने स्तालिन से कही थी। डॉ० राममनोहर लोहिया ने अपनी एक किताब में उसका उल्लेख किया है। किताब का नाम तो याद नहीं; अंग्रेजी की ही कोई किताब थी। बहुत पहले, कालेज के जमाने में मैंने पढ़ी थी।

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन उन दिनों सोवियत रूस में भारत के राजदूत थे। जहां तक मुझे याद है, श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित के बाद ही वे हुए थे। श्रीमती पंडित से तो स्तालिन की नहीं बनी। छोटी-छोटी बातें भी स्तालिन को नागवार थीं : अहले सुबह 'बेड-टी' की उनकी आदत, 'हॉट-बाथ' का आनंद, स्तालिन की नजर में 'बुर्जुआ-तरीके' थे जिनसे भी वह कुढ़ता था। लेकिन डॉ० राधाकृष्णन से तो वह हिल-मिल गया था। बड़े-बड़े लोगों की स्तालिन से जल्दी भेंट नहीं हो पाती थी। और किसी राजदूत से तो शायद ही वह कभी मिलता हो। यही हाल चीन के चेयरमैन माओ-त्से-तुंग का भी था। सो, क्रेमलिन में पहली भेंट में ही जब स्तालिन ने लगातार तीन घंटे तक डॉ० राधाकृष्णन से बातें कीं, तो समस्त राजनयिक क्षेत्र में सनसनी फैल गई। सुना है, स्तालिन डॉ० राधाकृष्णन को प्रोफेसर कहकर संबोधित किया करता था और कभी-कभी स्वयं ही उन्हें बुलवा भेजता था। डॉ० लोहिया ने लिखा है कि एक बार बातचीत में डॉ० राधाकृष्णन ने कहा : "रूस में प्रशंसा योग्य मैंने अनेक बातें पाईं। साम्यवाद में वहुत सारी बातें ऐसी हैं जिनका संसार के लिए बड़ा लाभप्रद उपयोग है। किंतु, यहां मैंने एक चीज आश्चर्यजनक रूप से लुप्त पाई है।

स्तालिन ने पूछा----'वह क्या है?'

डॉ० राधाकृष्णन ने कहा—'आत्मा।'

तो स्तालिन ने जानना चाहा—'आत्मा क्या चीज है?'

इस परभारतीय दर्शन में प्रवीण डॉ० राधाकृष्णन ने बेझिझक अपना कटूक्ति बाण छोड़ते हुए कहा—'वह तत्त्व, जो आपके पास नहीं है।'

बाण खाकर उस रोज स्तालिन की क्या दशा हुई, मुझे नहीं मालूम। लेकिन वहुत बाद में समाजवाद के विख्यात विद्वान एवं ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, जॉन स्ट्रैची, ने एक अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में बोलते हुए बताया था कि स्वयं एंगेल्स को अपने बुढ़ापे में एहसास हुआ था कि बल-प्रयोग द्वारा लोगों को खुशहाल बनाने की

चेष्टा एक भयंकर भूल है।[1]

मार्क्सवाद की विवेचना यहां मेरा अभीष्ट नहीं। मैं तो केवल मार्क्स के उन कष्टभोगों का जिक्र करना चाहता हूं जो अपनी विचाराभिव्यक्ति के कारण उन्हें भोगने पड़े। मार्क्स ने जर्मनी के विभिन्न विश्वविद्यालयों में इतिहास, दर्शन-शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, विधिशास्त्र का अध्ययन किया था। वे एक अति मेधावी छात्र थे। चाहते तो शिक्षा-समाप्ति के बाद किसी उच्च राजकीय पद पर नियुक्त हो सकते थे अथवा किसी यूनिवर्सिटी का प्रोफेसर बन सुख-चैन से जी सकते थे। लेकिन बने वे एक समाचार पत्र के संपादक। उस समाचार पत्र के माध्यम से उन्होंने जब अपने प्रगतिशील विचार प्रसारित करने प्रारंभ किये तो, सरकार ने अखबार बंद करा दिया। मार्क्स बाध्य होकर पेरिस चले गए। वहीं सन् 1844 में फ्रेडरिक एंगेल्स से उनका परिचय हुआ था जो शीघ्र ही घनिष्ठ मित्रता में परिवर्तित हो गया और आजीवन बना रहा। लेकिन पेरिस से भी वे निकाले गए। तब वे एंगेल्स के साथ ही ब्रूसेल्स (बेल्जियम) पहुंचे जहां उन्होंने 'जर्मन कामगार संघ' गठित किया और उसका अखबार भी निकाला। मार्क्स का जगत-विख्यात 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' जनवरी, 1848 में प्रकाशित हुआ। एक महीने के बाद, फरवरी मास में, पेरिस की क्रांति हुई जो अगले माह जर्मनी पहुंच गई। मार्क्स कहीं बेल्जियम में भी इन्कलाब न शुरू करा दें, इस डर से वहां की सरकार ने उन्हें ब्रूसेल्स से निष्कासित कर दिया। तो मार्क्स फिर जर्मनी लौट गए और वहां पुनः एक पत्रिका का संपादन करने लग गए। फिर झंझट उठ खड़ा हुआ। अधिकारी वर्ग ने उनके साथ सख्ती बरतनी शुरू कर दी और जून, 1849 में उन्हें प्रशिया से भी निकाल बाहर किया। तो मार्क्स फिर पेरिस जा पहुंचे। लेकिन फ्रेंच सरकार ने भी अपने देश में उन्हें टिकने न दिया। कोई पांच बरसों की लगातार भाग-दौड़, लुका-छिपी के बाद, अंततोगत्वा उन्हें इंगलैंड में शरण मिली जहां वे अंत तक रहे। और इस तरह मार्क्स, मार्क्स बने और उस मार्क्स के विचारों ने दुनिया बदली।

पूर्ववर्णित सभी व्यक्ति, चाहे सुकरात हों या ईसा; ब्रूनो हों या गैलिलीयो; रूसो हों या मार्क्स—निस्संदेह, सबके सब महाप्राण थे। उन्होंने सत्य को ढूंढ़ निकालने का प्रयास किया। सत्य को जाना—वे सत्य जो जगत और जीवन को संचालित करते हैं। और जो स्वयं जाना, उसे सबों को बता देना चाहा ताकि उनके आधार पर दुनिया संवारी जा सके, समाज सुव्यवस्थित किया जा सके, मनुष्य का जीवन सुख-शांति से व्यतीत हो पावे। यही उनका सपना था, इतना ही उनका आग्रह था। वे सब के सब प्रतिभावान लोग थे। उनमें उतनी योग्यता

1. देखें—इनकाउंटर (पैम्फलेट-10) पृ० 25; नवम्बर 1964

अवश्य थी कि भंजा लेते तो उन्हें ऊंचे से ऊंचा पद प्राप्त हो जाता। समाज के प्रचलित विचार और व्यवस्था को स्वीकार कर लेते तो, आजीवन सुख-चैन की वंशी बजाते रहते। लेकिन, वे समाज और संसार से लेने को नहीं, बल्कि उसे देने को व्याकुल थे। और यह नहीं कि वैसे दान का तात्कालिक परिणाम उन्हें मालूम न हो। लेकिन सब जान-समझ कर भी वे सब कुछ झेलने-सहने को तैयार हुए। वह जो शे'र है :

कुछ सोच कर ही हुआ हूं मौजे-दरिया का हरीफ
वर्ना मैं भी जानता हूं, आफ़ियत साहिल में है

—वह ऐसे ही लोगों पर चरितार्थ होता है। दरअसल दुनिया भी ऐसे ही लोगों ने बदली है।

अब तक इस धरती पर कितने लोग आए-गए; ठिकाना नहीं! असंख्य लोग। दुनिया भी कितनी पुरानी है, और यहां मनुष्य कब से बसने लगा; यह भी अभी तक अनुमान-भरोसे है। लेकिन इतनी पुरानी दुनिया से, उतने अनगिनत लोगों में से मात्र कुछ सौ-सैकड़े लोगों को छांट दीजिए, तो दुनिया फिर कैसी दीखने लगेगी? जीवन तब फिर कैसा हो जाएगा? आप पाएंगे कि मनुष्य कंदरा और गुफाओं में चला गया, अपनी भूख मिटाने के लिए घने जंगलों में डालियों पर लटकने-कूदने लगा; जानवरों को खदेड़ने लगा और अक्सर खुद ही खूंखार जानवरों का शिकार बन गया। हमें मनुष्य तो बना दिया उस एक आदिम चौपाये ने जो अपनी कुछ दिनों की लगातार कोशिश के बाद एक दिन अचानक अपने पिछले दो पैरों पर खड़ा हो गया और आगे के दो पैर मुक्त कर लिए। उस व्यक्ति के वे ही दो मुक्त-पैर, मानव जाति के हाथ बन गए और उन्हीं दो हाथों ने इतनी करामात कर दिखाई। वह भी कोई व्यक्ति ही था जिसने फल तोड़ने के लिए पहले-पहल लकड़ी के डंडे का सहारा लिया था और तब देखा-देखी दूसरे भी वैसा ही करने लग गए थे। वह भी तो एक व्यक्ति ही था जिसने पत्थरों को घिस-घिस कर शिकार के लिए हथियार बनाए। और पत्थरों को टकराकर जिसने आग पैदा कर ली, वह भी एक व्यक्ति ही था; समूह नहीं। समूह के सर्द जीवन में तो उस व्यक्ति ने ऊष्मा भर दी। बहुत आगे चलकर जब फिर किसी व्यक्ति ने अपनी बुद्धि और बाहुओं के बल पर गोल चक्का बना डाला, तो उसी दिन से समस्त मानव जीवन क्रमशः गतिशील होने लगा। प्रकृति ने बस उतने ही कुछ लोगों को नहीं पैदा किया होता तो, आज भी हम-आप गुफाओं में ही रहते न? जंगलों की इस डाल से उस डाल पर कूदते फिरते! नंग-धड़ंग हो, बेतहाशा जानवरों के पीछे दौड़ते फिरते—भूख-प्यास, धूप-वर्षा, आंधी-ओले से त्रस्त मरते-जीते रहते।

इस सिलसिले में उदाहरण के तौर पर केवल दो बातें और : इस धरती पर

जब से पेड़ उग आए, पेड़ों से फल भी तभी से गिरते रहे हैं। जरा ख्याल कीजिए ! आदिम-युग से 17वीं शताब्दी के लाखों-लाख वर्ष में न जाने कितने अरब-खरब लोगों ने पेड़ों से फल गिरते देखा होगा। किंतु फलों के गिरने में 'गुरुत्त्वाकर्षण का नियम' तो सर्वप्रथम केवल न्यूटन ही देख पाया था न ? बाइबिल, रामायण, महाभारत, मेघदूत, पैराडाइज़ लॉस्ट में ऐसे कौन से शब्द हैं जो हिब्रू, संस्कृत, अंग्रेजी या हिन्दी के शब्दकोष में न हों ? तो क्या, उन शब्दकोशों की सहायता से समूह या समाज उन पुस्तकों को लिख लेगा ? झखते रह जाएंगे सब के सब जीवन भर और बात न बन पाएगी। बाइबिल तो लिखेगा कोई मैथ्यू या मार्क, ल्यूक या जॉन; रामायण रच पाएगा कोई वाल्मीकि या तुलसी; महाभारत—वेदव्यास, मेघदूत—कालिदास और पैराडाइज़ लॉस्ट—मिल्टन ही लिख पाएंगे और उन्हें शब्दकोश की ओर ताकने की भी जरूरत न पड़ेगी।

मानव सभ्यता के लगभग पांच हजार वर्ष के लम्बे इतिहास से केवल हजार-दो हजार व्यक्तियों के विचार एवं कृत्यों का पूर्ण परित्याग कर दिया जाए, तो ज्ञान-विज्ञान, विचार-चिंतन का समस्त संसार वीरान हो जाता है और उसके साथ ही लुप्त हो जाती है सारी की सारी सभ्यता। मैं यहां उन लोगों की कोई चर्चा करना नहीं चाहता जिन्होंने व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं से अभिभूत होकर बड़ी-बड़ी लड़ाइयां जीतीं या बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किए। यद्यपि वैसे युद्धों अथवा साम्राज्यों के कई महत्त्वपूर्ण परिणामों एवं उपादेयता को अस्वीकारा नहीं जा सकता, किंतु दुनिया तो वास्तव में ज्ञान और विचारों से ही बदली है और साम्राज्य अथवा समाज भी वे ही मजबूत और महत्त्वपूर्ण हुए हैं जिनमें ज्ञान और विचारों का आदर हुआ है और उन्हें आगे बढ़ाया गया है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी यही है कि कैसे वैसा समाज बनाया जाए, कैसे वैसी परिस्थितियां पैदा की जाएं जिनमें ज्ञान और विचारों का उन्मुक्त विकास और व्यापक प्रसार हो सके। मानव व्यक्तित्व की विशेषताओं में उसकी सर्जनात्मक क्षमता भी एक है। ऐसी क्षमता से युक्त लोगों में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—एक वे जो लेकर ही पैदा होते हैं और दूसरे वे जो पैदा होने के बाद प्राप्त करते हैं। लेकर ही पैदा होने वालों की संख्या तो बिलकुल ही नगण्य रही है। अधिकतर संख्या तो ऐसे लोगों की ही है जो निजी उद्यम एवं अध्यवसाय से वैसी क्षमता अर्जित-विकसित कर लेते हैं। वास्तविक प्रश्न तो है अनुकूल परिस्थिति पैदा करने का, उपयुक्त साधन उपलब्ध कराने का जिनकी सहायता से व्यक्ति की गर्भित सर्जनात्मकता प्रस्फुटित, पल्लवित और पुष्पित हो सके और जिनके परिणामस्वरूप समस्त समाज का जीवन सौरभ और पराग से परिपूर्ण हो जाए; सम्पन्न और समृद्ध बन जाए। अनुकूल परिस्थिति और साधन के अभाव में न जाने कितनों की अंतःशक्ति कुंठित रह जाती है। इससे हानि तो अन्ततोगत्वा समस्त समाज की

ही होती है जो उनकी संभावित अमूल्य देन से वंचित रह जाता है।

मानवीय व्यक्तित्व के विकास की सर्वाधिक वांछित परिस्थिति स्वतंत्रता और समता है: स्थिति और अवसर की समता तथा विश्वास, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता—जिनके अभाव में न जाने कितने सुकरातों को जहर पीना पड़ा, कितने ईसामसीहों को सूली पर चढ़ना पड़ा, कितने मंसूरों के अंग-विच्छेद हुए, कितने ब्रूनों को जिंदा जलना पड़ा, कितने गैलिलीयो अंधे बने, कितने रूसो विपन्न हुए, कितने मार्क्स भटकते रह गए और कितने बिन्दा कवि कुंठित हो लुप्त हो गए।

स्वतंत्रता अथवा मुक्ति, एक ही बात है। मुक्ति, मानव-मन की प्रथम पुकार है; आत्मा की सहज तड़प है। उसी तड़प ने मनुष्य को झकझोरा है, जगाया है। उसकी चेतना को अनुप्राणित किया है, उसकी रगों में गर्मी लाई है, उसके व्यक्तित्व में ऊर्जा भर दी है; जीवन की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए उसे ललकारा है और संघर्ष के लिए प्रेरणा एवं शक्ति दी है। मनुष्य की सारी उपलब्धियों का श्रेय उसके संघर्ष को ही है। संघर्ष द्वारा ही प्रकृति और समाज की प्रतिकूल परिस्थितियों से मनुष्य अपने को मुक्त करता चला आया है। संघर्ष उसका अनवरत मुक्ति-अभियान है—

जिंदगी हमारी मुसलसल सफ़र है
कि मंजिल पै पहुंचे तो मंजिल बढ़ा दी

मनुष्य नितांत निस्सहाय होकर जन्मा। जन्मते ही संघर्ष के लिए बाध्य हुआ और संघर्ष से ही क्रमशः अपनी निस्सहायता दूर करता चला गया। जिसे आप सहयोग समझते हैं, असल में वह भी समझदारी के साथ संघर्ष का ही एक उपाय है। एक प्राणी के रूप में, प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों के बीच, इस धरती पर अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए मनुष्य ने जो संघर्ष प्रारम्भ किया था, उसी की कहानी मानव जाति के अब तक के सभी सुख-दुःख, लाभ-हानि की कहानी है। संघर्ष मनुष्य ने स्वेच्छा से प्रारंभ किया, सो बात नहीं। संघर्ष उसकी विवशता थी। प्रकृति ने ही उस पर संघर्ष थोप दिया था। वह संघर्ष नहीं करता तो, नाना प्रकार के अनगिनत जीवों की भांति उसका भी इस धरती से पूर्ण लोप हो जाता। मनुष्य के अस्तित्वसंरक्षण के लिए मुक्ति अनिवार्य थी—प्रकृति की विघ्न-बाधाओं से मुक्ति; प्रतिकूल प्रकृति के प्रतिबंधों से मुक्ति। अपनी मुक्ति के लिए मनुष्य ने जो अनवरत अभियान आरंभ किया, वह अस्तित्व-संरक्षण हेतु पशुवत् संघर्ष में ही सन्निहित था। उसने अब तक जो कुछ भी किया है—चाहे सभ्यता का विकास हो या सांस्कृतिक उत्थान, वैज्ञानिक प्रगति हो अथवा औद्योगिक परिवृद्धि, सब के सब उसी मूल संघर्ष के ही प्रतिफल हैं। मानवीय स्वातंत्र्य पर विचार करते हुए एम० एन० राय ने लिखा है: "मानवीय

विकास की समस्त प्रक्रिया उसी (मूल) संघर्ष का विस्तार है जो (क्रमशः) उच्च धरातल पर उठता हुआ, सहज-वृत्ति तथा प्रकृत-चयन के बदले, बुद्धि, निर्णय एवं युक्ति द्वारा संचालित होता चला गया।''

अन्य प्राणियों की भांति मनुष्य ने भी अपना अस्तित्वात्मक संघर्ष अपनी सहजवृत्ति (इन्सटिंक्ट) के बल पर ही छेड़ा था। किंतु कालक्रम में उसने एक अद्भुत क्षमता उपार्जित कर ली जिसने उसे न केवल अन्य प्राणियों के बीच वरेण्यता प्रदान की, अपितु स्वयं उसे ही प्राणी से नर और नर से नियंता बना दिया। मनुष्य की वह विलक्षणता बुद्धि के रूप में प्रस्फुटित हुई थी। बुद्धि ने अनुभव दिया; अनुभव ने तुलना दी और तुलना ने, तर्कणा। इन सब का सामंजस्य ज्ञान में हुआ। और ज्ञान से विज्ञान उत्पन्न होने लगा।

अस्तित्वात्मक संघर्ष के निजी अनुभव ने मनुष्य को बताया कि अपनी योनि के अन्य प्राणियों के साथ, समाज के रूप में संगठित होकर, अपना संघर्ष वह अधिक सफलतापूर्वक संचालित कर सकता है। इस भांति बुद्धि ने मनुष्य से समाज की रचना करवा ली। समाज में सहयोग विकसित हुआ। सहयोग ने शक्ति दी। मनुष्य बढ़ता चला गया। बुद्धि की सहायता से उसने पहले तो स्वयं अपने को ही प्रकृति के अधिक अनुकूल बनाया। ज्ञान की सहायता ली, तो प्रकृति को अपने पक्ष में लाना प्रारम्भ किया। और जब विज्ञान उसकी मदद को आ पहुंचा, तो उसने प्रकृति के रहस्यों और नियमों को पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझ लिया। विज्ञान ने अपनी देह में तकनीक रूपी हाथ जोड़ लिए, तो उन तकनीकी हाथों से मनुष्य धीरे-धीरे प्रकृति को नियंत्रित करने का प्रयास करने लग गया। इस धरती पर मनुष्य की स्थिति आज यह हो चली है कि यद्यपि वह स्वयं धरती तो नहीं बना सकता, परंतु धरती के रूप और गुण को बदल दे सकता है। जिस जगह पहाड़ खड़े हैं, वहां समतल मैदान बना ले सकता है और समतल की जगह पहाड़ खड़ा कर दे सकता है। मरुभूमि को शस्य-श्यामला और सहारा को गुलिस्तान बना दे सकता है। वह चाहे तो धरती की उर्वरता को पूर्णतः नष्ट कर दे अथवा अनुर्वरक मिट्टी को उपजाऊ बना दे। वह चाहे तो नदी की धारा को नियंत्रित कर बिल्कुल विपरीत दिशा में मोड़ दे अथवा उसमें बड़े-बड़े डैम बना कर उनसे बिजली पैदा कर ले। प्राकृतिक भूचाल को मनुष्य अभी रोक तो नहीं सकता, लेकिन उसके दुष्प्रभाव को वह बिल्कुल कम कर दे सकता है। हां, कृत्रिम भूचाल तो वह ला ही दे सकता है। प्रकृति के विशाल साम्राज्य में ऐसे अनेक हस्तक्षेप मनुष्य के लिए आज मामूली बातें हो गई हैं। अध्यात्म और दर्शन की शब्दावली का प्रयोग करें तो, साइंस ज्ञानेन्द्रिय है, टेक्नोलॉजी कर्मेन्द्रिय। साइंस ने आधुनिक मानव को टेक्नोलॉजी की वह करामाती चाबी थमा दी है जिससे प्रकृति की विराट संभावनाओं का लौह-द्वार खुल गया है और

खुलता जा रहा है। पर यह कैसी अजीब बात है कि भौतिक अथवा प्राकृतिक संसार—जिसे मनुष्य ने स्वयं नहीं बनाया—उसे अपने अनुकूल बनाने और नियंत्रित करने में तो वह दिनोंदिन सफल होता जा रहा है; किंतु मानवीय संसार—जो पूरे के पूरे तौर पर उसका अपना ही बनाया हुआ है—उसे संवारने-सजाने में मनुष्य की कठिनाइयां बढ़ती ही चली जा रही हैं।

मनुष्य के सामने असल कठिनाई स्वयं समाज की ओर से ही आ खड़ी हुई है। समाज ने अपने सहयोग द्वारा मनुष्य को एक ओर जहां प्रकृति की विघ्न-बाधाओं एवं प्रतिबंधों से मुक्ति दिलाने में सहायता पहुंचाई, वहीं दूसरी ओर उसे अनेक स्व-निर्मित विघ्न-बाधाओं और प्रतिबंधों से जकड़ लिया। समाज ने राज्य का निर्माण किया और राज्य ने कानून बनाए। व्यक्ति की स्वतंत्रता पर सबसे बड़ा प्रतिबंध उसी राज्य और कानून के हाथों ही लग जाता है। राज्य-सत्ता बनाम वैयक्तिक स्वातंत्र्य एक अति प्राचीन विवाद है। बहुत दिनों से राज-नीतिशास्त्री इस दुरूह प्रश्न से जूझते चले आए हैं कि, क्या राज्य और कानून को विसर्जित ही कर दिया जाए। बर्ट्रेन्ड रसेल, जो वैयक्तिक स्वातंत्र्य के स्वयं एक प्रबल समर्थक थे; उन्होंने इस समस्या की जटिलता की ओर संकेत करते हुए लिखा है :[1]

"पराई स्वतंत्रता के प्रति आदरभाव अधिकतर लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती। विद्वेष एवं प्रभुता-प्रेम सामान्यजनों को उस दिशा की ओर अग्रसर करते हैं जहां अन्य लोगों के जीवन में हस्तक्षेप द्वारा ही उन्हें सुखा-नुभूति होती है। बाह्यसत्ता यदि लोगों के कार्यकलापों को पूर्णतया अनियं-त्रित छोड़ दे तो, हमें वह संसार कदापि उपलब्ध नहीं हो सकता जिसमें सभी व्यक्ति स्वतंत्र रह सकें। बलवान निर्बल को सताएंगे, बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों का दमन करेंगे, अथवा हिंसाप्रेमी शांतिप्रिय लोगों का उत्पीड़न करेंगे···वर्तमान स्थिति में यद्यपि राज्य और कानून की आवश्यकता को किसी न किसी रूप में स्वीकारना ही होगा, फिर भी यह याद रखना जरूरी है कि, कुछ मात्रा में ही सही, लेकिन सरकार और कानून आखिर हैं तो बुरी बला ही, जो केवल उसी दशा में समर्थनीय हैं जब वे दूसरी बड़ी बुरा-इयों को रोक दें। अत: राज्यशक्ति के प्रत्येक प्रयोग की बारीकी से छान-बीन जरूरी है। उसके शक्तिक्षय की हर संभावना स्वागत योग्य है, बशर्ते कि उसका नतीजा निजी अत्याचार न हो जाए।"

मेरी समझ में नियंत्रण से पूर्णतया मुक्त हो पाना न तो संभव है और न वांछित ही। अनुशासन में तो रहना ही पड़ेगा। चाहे आत्मानुशासन में रहें

1. बर्टेण्ड रसेल : रोड्सट् टू फ्रीडम, पृ० 122-124

अथवा राज्यानुशासन में। बाह्यसंता द्वारा नियंत्रित होने की आवश्यकता निश्चय ही उनके लिए अधिक है जो आत्म-नियंत्रण में नहीं रहते। समाज में न्याय-स्थापना के लिए शक्तिप्रयोग भी आवश्यक है। समस्या यह है कि शक्ति को भी न्याय के नियंत्रण में कैसे रखा जाए। एक अन्य स्थल पर रसेल ने इसी प्रश्न को दूसरे रूप में उठाते हुए कहा है :[1]

"विचारणीय प्रश्न यह नहीं है कि सत्ता को हम समाप्त कैसे कर दें; बल्कि प्रश्न तो यह है कि स्वतंत्रता में न्यूनतम हस्तक्षेप करते हुए सत्ता का अधिकतम लाभ कैसे प्राप्त किया जाय।"

आधुनिक लोकतंत्र इसी प्रश्न का एक उत्तर है, इसी समस्या का समाधान; या यों कहिए, समाधान का एक प्रयास है। प्रयास ही कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि, मानव जीवन को अनेक विघ्न-बाधाओं से मुक्त कर, सामान्यजनों को भी सुख-सुविधा पहुंचा पाने में लोकतंत्र यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक सफल हुआ है, परंतु आधुनिक सभ्यता की कई ऐसी गंभीर चुनौतियां हैं जिनका सफलता-पूर्वक सामना कर पाना लोकतंत्र के लिए भी सम्भव नहीं दीख रहा। प्रजातंत्र के भी अपने भयंकर अंतर्विरोध हैं, अपनी विफलताएं हैं। उन सब को ध्यान में रखते हुए इससे अधिक उपयुक्त अन्य कुछ नहीं कहा जा सकता, जो विंस्टन चर्चिल ने कहा था। उन्होंने कभी टिप्पणी की थी : "संसार की अन्य शासन-पद्धतियों से तुलना न करें तो, लोकतांत्रिक सरकार सर्वाधिक अनुपयुक्त शासन-व्यवस्था है।" प्रजातंत्र पूर्णतः संतोषजनक राज्य-व्यवस्था नहीं है। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि मानव जाति ने अब तक जितनी प्रकार की शासन-व्यवस्थाएं बनाई हैं, उन सब में लोकतंत्र ही बेहतर साबित हुआ है।

लोकतंत्र की नीति-रीति यद्यपि एक पुरानी बात है—यूनान का एथेंस और स्पार्टा तथा भारत के लिच्छवी गणराज्य इसके दृष्टांत हैं—फिर भी प्रजातंत्र के आधुनिक स्वरूप और स्वभाव का आरंभ यही कोई दो सौ वर्ष पूर्व माना जाएगा।

जिस लोकतंत्र से आज हमारा परिचय और संबंध है, उसके विकास में तीन युगांतरकारी घटनाएं हुई हैं: 1776 का अमरीकी स्वातंत्र्य-युद्ध, 1789 की फ्रांसीसी राज्य क्रांति तथा इंगलैंड का 1832 का 'रिफॉर्म्स ऐक्ट'। ये तीनों घटनाएं सहउत्प्रेरक भावनाओं की प्रतिफल थीं। उनके लक्ष्य एवं प्रयास एक ही दिशा में थे—शासित नागरिकों के बीच स्थिति और अवसर की समता, शासितों के हित में शासन-व्यवस्था तथा शासकों पर शासितों का नियंत्रण स्थापित करना। इसी क्रम में प्रजातंत्र ने प्रतिनिधि सरकार अथवा उत्तरदायी सरकार

1. देखें—बर्टेण्ड रसेल : स्केप्टिकल एसेज, पृ० 120

का विकास किया। उत्तरदायी सरकार, जिसका अर्थ है कि सरकार का गठन न केवल जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के बीच से ही होगा, बल्कि, इस भांति गठित सरकार अपनी संपूर्ण कार्यावधि में, अपने समस्त कार्यकलापों के लिए जन-प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी बनी रहेगी। सरकार को गठित, विघटित तथा नियंत्रित करने की ऐसी सक्षम यंत्रावली आधुनिक लोकतंत्र की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

लेकिन दुर्भाग्य यह है कि लोकतंत्र का महत्त्व हम भारतवासी ठीक से समझ ही नहीं पाए। जब हमने अपनी स्वाधीनता का ही मूल्य नहीं समझा, जिसे प्राप्त करने में हमारे ही बुजुर्गों ने उतनी कुर्बानियां दी थीं, तब भला हमें लोकतंत्र के लिए क्या दर्द हो जिसे उपलब्ध, विकसित और सुदृढ़ करने के लिए सारे संघर्ष भारत की सीमा से बहुत दूर—यूरोप और अमेरिका की धरती पर हुए हैं। अपने देश में लोकतंत्र के भविष्य की थोड़ी चर्चा मैं इसलिए करना चाहता हूं क्योंकि लोकतंत्र में मेरी आस्था है। असल में लोकतंत्र के जो शुभाकांक्षी हैं, वे ही इसके भविष्य के लिए चिंतित भी है। लेकिन यह चर्चा मैं यहां नहीं, अन्यत्र करूंगा। यहां तो आपको बस 'ग्रेशम्'स लॉ आफ करन्सी' की याद भर दिला देना चाहता हूं:

विख्यात अर्थशास्त्री डब्लू० एच० ग्रेशम ने बताया था कि मुद्रा-प्रचलन की रीति यह रही है कि गंदे और घिसे सिक्के, नए और बढ़िया सिक्कों को प्रचलन से बाहर ठेल देते हैं। अच्छे सिक्के घरों में बंद पड़े रहते हैं और बाजारों में ज्यादा-तर लेन-देन घिसे-पिटे सिक्कों से ही चलता है। मुद्रा-प्रचलन संबंधी ग्रेशम का यह अर्थशास्त्रीय नियम यदि कहीं पूर्णरूपेण प्रभावकारी हो पाया है, तो वह क्षेत्र अर्थ-व्यापार का नहीं, भारतीय राजनीति और लोकतंत्र का है। हमारे लोकतंत्र की नीति-रीति आज तो यही हो गई है कि घटिया लोगों ने बढ़िया लोगों को राजनीति और राजकाज से ठेल कर किनारे कर दिया है और स्वयं सब जगह छा गए हैं।

छह

भारत के प्रधान मंत्री तो पंडित जी थे, लेकिन सरदार वल्लभ भाई पटेल जब तक जीवित रहे, घर के असल मालिक-मुख्तार वे ही थे। एक तौर पर पार्टी और सरकार, दोनों ही के गार्डियन। यद्यपि, वे अपना नेता पंडित जी को ही मानते थे, और कहते थे : "यदि मैं अपने लीडर का साथ न दे सकूं और उनके पैर मजबूत न कर सकूं, तो मैं एक मिनट भी गवर्नमेंट में नहीं रहूंगा···इस तरह की बेवफाई मेरे चरित्र में नहीं।" लेकिन उनकी वास्तविक स्थिति इसी से स्पष्ट हो जाती है कि प्रसिद्ध अमेरिकी पत्रकार एडगर स्नो को खुद पंडित जी ने ही कहा : "···मैं जानता हूं कि मैं इशारा कर दूं तो सरदार मंत्रिमंडल छोड़ देंगे, और वे भी जानते हैं कि उनका इशारा पाते ही मैं मंत्रिमंडल से निकल आऊंगा।"

बड़े आत्मबली और आत्माभिमानी थे सरदार। धौंस में तो उन्हें कोई ला ही नहीं सकता था। एक छोटा-सा किस्सा हमारे बिहार का ही है। जमींदारी-मुआवजा और साठी-कांड को लेकर गांधी मैदान के अपने भाषण में सरदार ने बिहार सरकार को बहुत खरी-खोटी सुनाई। मुख्यमंत्री श्रीबाबू थे—बिहार केसरी डॉ० श्रीकृष्ण सिंह। याद रखिए ! एक जंगल में दो शेर नहीं रहा करते। यही स्थिति श्री बाबू की थी बिहार में। जब तक जीवित रहे, मुख्य मंत्री रहे। लगातार पंद्रह वर्षों तक। तो, सरदार नें सार्वजनिक रूप से बिहार सरकार की जब भर्त्सना कर दी, तो श्री बाबू को असह्य हो गया। उन्होंने अपने इस्तीफे की धमकी दे डाली। सरदार अभी पटने ही में थे। श्री बाबू का पैगाम लेकर केंद्रीय सरकार के जो बिहारी मंत्री महोदय सरदार पटेल से मिलने राज-भवन पहुंचे और उन्होंने जब इस्तीफे की बात कही, तो सरदार और भी सख्त हो गए और बोले—'ठीक है। जाकर कह दो श्री बाबू से, अपना इस्तीफा भेज दें। मैं कल सुबह रुक जाता हूं। नया मंत्रिमंडल बनवा कर ही, शाम को दिल्ली लौटूंगा।' श्री बाबू पर

बिजली गिरते-गिरते बची।

पाकिस्तान के बहकावे में जूनागढ़ के नवाब ने जब बेजा हरकत कर दी, तो सरदार ने जूनागढ़ को दबोच लिया। पाकिस्तान ने शोर मचाया, तो सरदार ने ललकारा—"तुम्हें क्या जरूरत थी कि बाकी हिन्दुस्तान में घुसने की कोशिश करो ? आप क्यों जूनागढ़ के दरवाजे पर आ बैठे ? वहां तक कहां से आया पाकिस्तान ? आपके कहने से ही तो इस तरह हिन्दुस्तान के दो टुकड़े बनाए गए। उसके बाद और भी टुकड़े करने हों, तो मैदान में खुली बातें करो।" इस पर जफ़रुल्ला मामले को यू० एन० ओ० ले जाने को छटपटाने लगे। सरदार ने कलकत्ते के अपने भाषण में कहा : "जूनागढ़ को जफ़रुल्ला साहब ने सलाह दी थी कि तुम पाकिस्तान में शरीक हो जाओ। तो उसका नतीजा तो नवाब साहब को भोगना ही था। वह जफ़रुल्ला साहब को तो भोगना नहीं था, उन्हें तो खाली बातें ही करनी थीं। जूनागढ़ का फैसला तो अब हो गया। यू० एन० ओ० में जाओ, चाहे जहां जाओ; उससे कोई नई बात नहीं बन सकती।" हैदराबाद के बारे में दुनिया के देशों को चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा : "निजाम के रखने के लिए या निजाम की डाइनेस्टी रखने या निजाम का कोई इंटरेस्ट रखने के लिए यदि कोई बाहर वाला मदद करेगा, तो पहले उसे हम से लड़ना होगा। यह हमारा आंतरिक मामला है, हमारे घर का मामला है। चर्चिल हो या कोई उससे भी बड़ी शक्ति, हम उसे बर्दाश्त नहीं करेंगे। यदि चर्चिल का यह ख्याल है कि हिन्दुस्तान को बनाने वाला वही है, तो मेरा कहना है कि पहले इंगलैंड को बचाए।" (भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंसटन चर्चिल उन दिनों ब्रिटिश पार्लियामेंट के अंदर और बाहर, पाकिस्तान की तरफदारी करने लगे थे) कश्मीर के मामले को यू०एन०ओ० भेजने के पक्ष में सरदार नहीं थे। माउंटबेटन के मशवरे और पंडित जी की हठ से झगड़ा पंचइती में अटक गया। लेकिन कश्मीर-विवाद को भारत सरकार ने जब यू० एन० ओ० पहुंचा दिया, तो जनाब जफ़रुल्ला खुद ही हाय-तोबा मचाने लगे कि मामले को नाहक यू०एन०ओ० क्यों ले गए ! जवाब में सरदार ने लखनऊ की एक सभा में कहा : 'जफरुल्ला साहब कहते हैं, आप वहां (यू०एन०ओ०) क्यों गए।···ठीक है, यदि वह चाहते हैं, तो हम अपनी अर्जी वापस ले लेंगे। मगर हमें बताइए कि (कश्मीर जाने का) दूसरा रास्ता क्या होगा ? फिर तो हमें स्यालकोट और लाहौर होकर जाना पड़ेगा।' सभी जानते थे कि सरदार के गंभीर मेघ गर्जन के बाद बिजली भी गिरा करती है। इसलिए उनकी बातों के बाद लोग सहम जाते थे।

सबसे ज्यादा खलबली तो उन बातों से मची थी जो सरदार ने 18 जनवरी 1948 को लखनऊ के अपने भाषण में कही। उन्होंने कहा :

"आपका यह लखनऊ शहर हमारे मुल्क का एक बहुत पुराना शहर है, और

यह हिन्दु और मुसलमान दोनों की मिश्रित कल्चर का केन्द्र स्थान है···इसी शहर से यह बात निकली कि हम हिन्दु और मुसलमान एक कौम नहीं हैं···इसलिए हमें अलग होना चाहिए···बहुत से मुसलमानों के दिल में यह ख्वाहिश पैदा हुई कि अगर हमारा राज्य अलग हो जाएगा, तो हम स्वर्ग में चले जाएंगे···हम समझ गए कि हिस्सा-बांट चाहे जितनी भी बुरी हो, लेकिन जब उनको समझाना मुश्किल है, तो उनको लेने दो···गलत समझ से उसने जो काम किया है, उससे भी वह तगड़ा हो जाए, सुखी हो जाए, तो आखिर वह हमारा पड़ोसी है, हमारा भाई है···लेकिन हमने यह कभी नहीं सोचा था कि···अलग होने के बाद भी वह हमें चैन से नहीं बैठने देगा···इधर हिन्दुस्तान में जो मुसलमान हैं, उनकी हालत देखें···उन्हें आपने हम पर छोड़ दिया है। ठीक है, छोड़ दिया। हम तो कोशिश करेंगे। लेकिन वहां बैठ कर भी आप हमको कुछ चैन लेने देंगे, कि वहां से भी तकलीफ करते ही रहेंगे ?···हमारे यहां साढ़े चार करोड़ मुसलमान पड़े हैं और उनके लिए हिन्दुस्तान के सिवा कोई दूसरी जगह नहीं है। उनमें से बहुत से मुसलमानों के साथ हमारी जिंदगी भर की मुहब्बत है। उनके साथ हम दगाबाजी करना नहीं चाहते। क्योंकि जो कोई छोटी-छोटी चीज के लिए अपने मित्रों के साथ दगाबाजी करता है, वह कोई बड़ा काम नहीं कर सकता···यदि एक भी ऐसे मुसलमान को, जो भारत के प्रति वफादार है और जिसने हमारी आजादी की लड़ाई में हमारा साथ दिया और हमारे साथ मुहब्बत से रहा है, यहां से जाना पड़ेगा, तो उससे बड़ी शर्म की और कोई बात नहीं होगी···

(लेकिन) मैं हिन्दुस्तान के मुसलमानों से एक सवाल पूछना चाहता हूं···आप सब लोगों की अगर यह राय है कि पाकिस्तान कश्मीर में जो कुछ कर रहा है, वह गलत है, तो क्यों आपकी जुबान खुलती नहीं ? आप क्यों बोलते नहीं कि यह गलत रास्ता है ?···जितने वहां बुरे काम होते हैं, उनके बारे में यदि हिन्दुस्तान के मुसलमान नहीं बोलेंगे, खुले दिल से उसे बुरा नहीं कहेंगे, तो फिर उन्हें यह शिकायत नहीं करनी चाहिए कि उनकी वफ़ादारी की तरफ किसी को अंदेशा है···

मैं मुसलमानों का दोस्त हूं और दोस्त का काम है सच्ची बात कह दे···मैं साफ-साफ कह देना चाहता हूं कि अब हिन्दुस्तान में मुसलमानों की वफादारी का वक्त आ गया है···उन्हें समझ लेना चाहिए कि पाकिस्तान से उनका कल्याण नहीं होने वाला है। पाकिस्तान उनकी रक्षा नहीं कर सकता। तब उनका कर्त्तव्य हो जाता है कि जिस नाव में वे बैठे हैं, उसी नाव का वे हित सोचें क्योंकि उन्हें भी उसी नाव से चलना पड़ेगा···सच्ची

बात तो यह है कि दो घोड़ों पर सवारी नहीं हो सकती, एक घोड़े पर ही सवारी होगी। अपना घोड़ा पसंद कर लो···कोई-कोई कहते हैं, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान फिर एक हो जाए। मैं कहता हूं, अब वह सब कुछ नहीं हो सकता···ज़ो कोई पाकिस्तान में चले गए हैं, उनको पाकिस्तान को अच्छा बनाने दो। पाकिस्तान जब स्वर्ग बन जाएगा, तब हमको भी उसकी ठंडी हवा लगेगी···हम भी अब यह नहीं चाहते हैं कि पाकिस्तान और हिंदुस्तान अभी जल्दी-जल्दी मिल जाएं। यह तो तब कह सकते हैं, जब कि पाकिस्तान का स्वाद खाते-खाते दांत खट्टा होकर गिर जाएं तब आगे की बातें करेंगे।"

सरदार की लखनऊ स्पीच की शिकायत लोगों ने गांधी जी तक से की। पंडित जी, मौलाना आजाद, जे० पी० वगैरह बड़े विक्षुब्ध हुए थे। गांधी जी ने सरदार की ओर से सफाई पेश की थी। लेकिन इससे सरदार के स्वाभिमान को चोट ही पहुंची और उन्होंने कहा, "मुझे दुःख है कि गांधी जी को मेरी ओर से सफाई देने के लिए मजबूर होना पड़ा···क्योंकि मैं कमजोर आदमी नहीं हूं, जिसकी हिफ़ाज़त दूसरों को करनी पड़े।"

सरदार मानते थे कि हिन्दुस्तान की सुरक्षा के लिए सेना रखनी ही होगी—एक शक्तिशाली सेना। इस प्रश्न पर भी गांधी जी से उनका मतभेद चल रहा था: "मैं तो हुकूमत लेकर बैठा हूं। मेरे पर हमला होगा, मैं उसे बर्दाश्त नहीं करूंगा, क्योंकि मेरी जिम्मेदारी है···राज्य चलाना है तो, बन्दूक रखनी है, तोप रखनी है, आर्मी रखनी है। गांधी जी कहते हैं, न करो। तो वह मैं नहीं कर सकता।" उन्होंने गांधी जी से साफ-साफ कहा—"मैं भी जानता हूं, आपका रास्ता अच्छा है, लेकिन वहां तक मैं नहीं जा पाता हूं।" बंटवारे में पांच अरब रुपया पाकिस्तान का हिस्सा निकलता था। उन रुपयों को रोकते हुए सरदार ने पाकिस्तान से कहा: "अगर इन रुपयों से आपको कश्मीर में गोली चलानी हो, तो हम इस तरह से रुपया नहीं देंगे। जिस रोज कश्मीर का फ़ैसला हो जाए, उस रोज पैसा ले जाओ···हां, तुम में ताकत हो तो (अभी) ले जाओ···"

भारत का नया संविधान जब बन रहा था तो कांस्टीच्यूएंट एसेम्बली में मुस्लिम लीग के एक लीडर ने यह सुझाव रखा कि भारतीय गणराज्य में मुसलमानों के लिए 'सैपेरेट इलेक्टोरेट' और रिजर्वेशन की व्यवस्था कर दी जाए तो सरदार ने उन्हें फटकारते हुए कहा—"यही बातें करके आपने हिन्दुस्तान के दो टुकड़े कराए। अब जो बाकी हिन्दुस्तान बचा है, उसका भी आपको टुकड़ा कराना है क्या? यही इरादा हो, तो अब मेहरबानी करके आप पाकिस्तान में चले जाइए।" और सचमुच लीडर साहब भाग कर पाकिस्तान चले गए।

हमारा सौभाग्य था कि पंडित जवाहरलाल नेहरू हमारे देश के प्रथम प्रधान

मंत्री हुए थे और लौहपुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल, गृह मंत्री। पंडितजी का सिर सदा आसमान की ऊंचाइयों की ओर उठा होता था; सरदार के पांव बराबर मजबूती से धरती पर जमे रहते थे।

फौलादी सांचे में ढले भारतीय लौहपुरुष सरदार पटेल के मन की एक प्रबल लालसा यह भी थी कि उनके मरने के बाद लोग यह कहें : "···वह बोलता था तो कुछ कड़ी बातें भी कहता था, लेकिन आदमी ठीक था।" सरदार की यह लालसा उस दिन पूरी हुई जब उनकी मृत्यु के पच्चीसों वर्ष बाद, उनके सबसे बड़े आलोचक जयप्रकाश नारायण ने यह स्वीकारा : "सरदार को हमने गलत समझा। मेरे अंदर आज प्रधान भावना आत्म-भर्त्सना की है क्योंकि उनके जीवन-काल में मैं महान् सरदार का केवल एक आलोचक ही नहीं बल्कि एक प्रतिपक्षी भी रहा।" सरदार की दिवंगत आत्मा को इस बात से भले ही थोड़ी शांति मिली हो, लेकिन इसका कोई लाभ न तो स्वयं जे०पी० को हो पाया, और न देशवासियों को ही। अपनी भूल मान कर भी उसे सुधार लेने की स्थिति में जे० पी० तब बिल्कुल ही नहीं थे। आयु और स्वास्थ्य उनके विरुद्ध जा चुके थे। सरदार को आंखें मूंदे लगभग तीन दशाब्दियां बीत चुकी थीं। और इस बीच देश की गंगा-गोदावरी आदि नदियों से ढेर सारा पानी बह निकला था। तब सम्भव कहां था कि लौट कर जे०पी० उस मुकाम पर जाते, जहां उनसे गलती हो गई थी, और बिल्कुल नए सिरे से अपना सफर शुरू करते। उम्र की रफ्तार के साथ अपनी मंजिल को छोड़ कर वे इतना आगे निकल आए थे, कि पलट कर आवाज भी देते, तो कोई फायदा न था।

जे० पी० और उनके समाजवादी साथियों को सरदार पटेल उस रोज बहुत बुरे लगे थे, जब उन्होंने कहा था कि नौसिखुए सोशलिस्टों को वे इस बात की इजाज़त हर्गिज नहीं दे सकते कि सारे देश को ही वे अपनी प्रयोगशाला बना लें। सरदार अपने को चालीस करोड़ देशवासियों का ट्रस्टी मानते थे। स्वाधीनता के साथ उन पर जो जिम्मेदारी आई थी, उसे वे अच्छी तरह निभाना चाहते थे और यह भी चाहते थे कि देश के लोग भी उस जिम्मेदारी को अच्छी तरह समझें। अपनी मातृभूमि के गौरवमय भविष्य की झांकी, उसके भाग्य और महानता की एक आदर्शमयी कल्पना उनके मन में भी थी : ···"इस देश में जो छोटे से छोटा भी है, हमें उसे भी यह महसूस कराना है कि वह आजाद है। खेत में काम करने वाले किसानों, झोंपड़ों में रहने वाले गरीबों और कारखानों में काम करने वाले मज-

दूरों—सभी को इस योग्य होना चाहिए कि वे गुलामी और आजादी के भेद को समझें। तभी हम यह कह सकते हैं कि हमने आजादी ली है और हम उसके योग्य बन गए हैं।" परंतु सरदार यह भी जानते थे कि अब तक तो लोग एक ही रास्ते पर चलते आए थे—"कानून तोड़ो, जेल जाओ। आज भी उसी रास्ते पर चले जाओ तो, यह तो खुदकुशी होगी।"

देश की आर्थिक स्वतंत्रता के लिए वे भी व्यग्र थे। मगर फिलहाल सारे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, उनकी समझ में, इसका कारगर उपाय नहीं था। सोशलिस्टों की राष्ट्रीकरण की तजवीज से वे चौंक पड़ते थे, क्योंकि वे मानते थे कि अनुभव एक बड़ी चीज है और राष्ट्रीयकरण जैसे बड़े काम को शुरू करने और संभालने के लिए मुल्क में, और बातों के अलावा, अनुभवी लोग भी बहुत ही कम हैं। उन्होंने कहा: "···वह सब केवल सिद्धात की बात है, अनुभव की नहीं। अभी तक हमने कुछ काम तो किया नहीं है, और जो कहते हैं (सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट लोग) उन्होंने तो कुछ भी नहीं किया है। वह कब कर पाएंगे, यह तो ईश्वर जाने। अगर आज मैं राष्ट्रीयकरण के बोझ को उठा सकूं, तो एक मिनट की भी देर नहीं करूंगा···" लेकिन सोशलिस्टों को लगा, सरदार की नीयत साफ नहीं। वे पूंजीपतियों के साथ मिले हुए हैं। गरीब-मजदूरों का भला नहीं होने देंगे। उनके हड़ताल और राष्ट्रीयकरण विरोधी रुख के कारण सोशलिस्टों ने उनके विरुद्ध जो कुप्रचार चलाया, उससे सरदार भिन्ना उठे थे। उन्होंने जनसभाओं में कहा:

"···आप कहते हैं कि मजदूरों को पैसा मिले, उनकी जितनी जरूरतें हैं, वे पूरी परनी चाहिए। तो इस काम में मेरा आपको पूरा साथ मिलेगा। मजदूरों को जो इंसाफ से मिलना चाहिए, वह उन्हें जरूर मिलना चाहिए। (मगर) हिन्दुस्तान को तो अभी आजादी मिली है। हम दो-चार साल हिन्दुस्तान में कुछ इंडस्ट्री बना लें, कुछ उद्योग पैदा करें। तभी तो मजदूरों के लिए कुछ धन पैदा हो सकेगा और उन्हें हिस्सा मिल सकेगा। जहां होगा, वहीं से तो कुछ दिया जा सकेगा। कोई चीज होगी ही नहीं, तो क्या बांटोगे? तो कुछ पैदा करो···अगर मुझे समझ आ जाए कि हमारे मुल्क में एक-एक कैपिटलिस्ट की कैपिटल को खत्म कर देने से हिन्दुस्तान का भला होगा, तो उसे खत्म कर देने में मेरा नम्बर पहला होगा···

मुझे सोशलिज्म सिखाने की किसी को जरूरत नहीं···जब से मैंने गांधी जी का साथ दिया, और आज इस बात को बहुत साल हो गए, तभी से मैंने फैसला किया था कि यदि पब्लिक लाइफ में काम करना हो, तो अपनी मिल्कियत नहीं रखनी चाहिए। तब से आज तक मैंने अपनी कोई चीज नहीं रखी। न मेरा कोई बैंक एकाउंट है, न मेरे पास कोई जमीन है और न मेरे पास अपना कोई मकान है···मुझे कोई सोशलिज्म का पाठ सिखाए, तो

फिर उसे सीखना पड़ेगा कि पब्लिक लाइफ किस तरह से चलानी है···

जितने लोग सोशलिस्ट का लेबल लगाते हैं, वे सब सोशलिस्ट हैं, ऐसा न मानिए···मैं सोशलिस्ट का लेबल नहीं लगाता, लेकिन मैं अपनी कोई प्रौपर्टी रहीं रखता···उससे भी आगे जाना पड़े, तो मुकाबिला करने को तैयार हूं : लेकिन हिन्दुस्तान की बरबादी होने के काम में मैं कभी साथ नहीं दूंगा। उसमें आप कहें कि मैं कैपिटलिस्टों का एजेंट हूं, जो चाहे सो नाम लगाइए···"

उस बात को हुए युग बीते। लेकिन मन का अनुताप शेष न हुआ। अपने उस जघन्य अपराध की याद आते ही, मेरा रोम-रोम आज भी मुझे धिक्कारने लगता है। आत्म-ग्लानि के गहरे अंधेरे कूप में डूब जाता हूं। मन थोड़ा हल्का तब होता है जब सोचता हूं, उन दिनों मेरी उम्र ही क्या थी ! जब बड़े-बड़ों की मति भ्रमित हो गई थी, तो मेरी बिसात ही क्या थी ? मैं तो केवल पंद्रह साल का एक नासमझ नाबालिग था। जोश भर था; उस उम्र में होश-हवास कहां था मुझमें जो दुष्प्रचार के कुप्रभाव से बच पाता। वामपंथियों ने उस महान् सरदार की छवि पर जैसी कालिख पोतनी शुरू कर दी थी, उससे मेरे मन में पटेल के प्रति इतनी घृणा भर आई कि एक दिन अखबार में छपे उनके फोटो पर जब नजर पड़ी, तो मैंने उसके नीचे 'फिरकापरस्त, पूंजीपतियों का दलाल' लिख कर उस पर थूक दिया। बहुत बरसों बाद, जब अक्ल आई तो समझा, कितना बड़ा पाप कर गया। और तब, घोर अनुताप की मन:स्थिति में एक दिन अपनी बंद कोठरी में, स्वर्गीय सरदार की तस्वीर के सामने घुटने टेक, थूक गिरा कर उसे चाटा भी था। नहीं जानता, मेरा पाप कटा या बाकी है। यह भी नहीं जानता, किससे क्षमा मांगू। सरदार तो नहीं रहे। आने वाली पीढ़ियों के समक्ष भी अपराधी बन कर खड़ा रहूं, यही आत्म-दंड निश्चित कर पाया हूं और इसीलिए सच्चाई के साथ अपने उस दुष्कर्म का प्रसंगवश यहां जिक्र कर देना मैंने आवश्यक समझा है।

स्वर्गीय सरदार वल्लभ भाई पटेल में सच्चाई और साहस कूट-कूट कर भरा था। जो बात ईमानदारी से महसूस करते, उसे साफ-साफ कहने की हिम्मत रखते थे। साम्प्रदायिकता का सवाल हो अथवा समाजवाद और राष्ट्रीयकरण का; उनके कथनी-करनी में कहीं कोई वदनीयती या बेईमानी नहीं थी। विशुद्ध दायित्व और कर्त्तव्य-बोध था। भारत के जिन कुछ महान् सपूतों ने मुख्यत: लोकसेवा एवं व्यापक उद्देश्यों से सत्ता ग्रहण की थी, सरदार उन्हीं विरलों में एक थे। स्वार्थ-सिद्धि की लालसा से सर्वथा अछूते। देश-प्रेम और जन-कल्याण की भावना से ओतप्रोत, उस महापुरुष को निजी लाभ का प्रलोभन देकर, उनसे कोई अपनी दलाली करवा लेता—ऐसा कोई आदमी इस धरती पर पैदा ही नहीं हुआ था। यह ठीक है कि सरदार को जयप्रकाश, लोहिया, नरेन्द्र देव, मसानी, पटवर्धन

Scanned by CamScanner

अथवा पंडित जी की भांति समाजवाद का कोई गहन शास्त्रीय ज्ञान नहीं था। समाजवाद ही क्यों, संभवतः किसी भी 'वाद' का गहन अथवा व्यापक शास्त्रीय अध्ययन उन्होंने किया नहीं था। इसलिए सैद्धांतिक स्तर पर किसी वाद-विशेषका न तो वे प्रतिपादन करते थे, न खंडन। वे तो विशुद्ध व्यवहारवादी थे और किसी भी समस्या तथा उसके समाधान के व्यावहारिक पक्ष का ही नाप-तौल किया करते थे। उनमें पांडित्य भले ही न रहा हो, परंतु परख थी। निहायत उंचे दरजे की परख। राष्ट्रीयकरण की तजवीज उनकी परख में खोटी पड़ी।

अब आज मैं भी समझता हूं, जो लोग राष्ट्रीयकरण को लाख दुःखों की एक दवा मान बैठे हैं, असल में उन्होंने मानव-मन को ठीक से पहचाना नहीं। राष्ट्रीयकरण की विधि आज लोकशाही में भी चलाई जा रही है, और तानाशाही में भी। लोकतांत्रिक ढांचे के अन्दर राष्ट्रीयकरण का जैसा स्वाद हम भारतवासियों को मिल रहा है, उससे कई गुना अधिक कड़ुआ स्वाद उन साम्यवादी देशों के नागरिकों को मिलता आ रहा है, जहां लाखों लोगों के खून से सींचे जाने के बावजूद, राष्ट्रीयकरण के पौधे कुम्हलाते ही जा रहे हैं। संपत्ति-मोह को भंग किए बिना, केवल निजी संपत्ति की संस्था को भंग कर देने से अभीष्ट सिद्धि हो जाती, तो रूस और चीन आज सचमुच इस धरती के स्वर्ग बन गए होते। उन देशों में खेत-खलिहान, माल-मवेशी से लेकर कल-कारखाने तक—उत्पादन के सभी छोटे-बड़े साधनों का दशाब्दियों पूर्व राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है। फिर भी, कम्यूनों में जीने वाले और कलेक्टिव फ़ार्म चलाने वाले चीन और रूस के अनेक नागरिकों का हाल आज यह है कि, प्रकट साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था के समानांतर उन्होंने भूमिगत पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था चला रखी है, जो कानून की लाख सख्तियों के बावजूद, दिनों-दिन फलती-फूलती जा रही है।

सोवियत रूस के एक प्लावी नागरिक हैं, कॉन्सटैनटिन सिमिस। के० जी० बी० के आतंक से त्रस्त हो, सन् 77 में वे भाग कर अमेरिका चले गए। उन्होंने भूमिगत सोवियत अर्थव्यवस्था पर एक पुस्तक लिखी है, जिसने काफी तहलका मचा दिया है। 'इंडिया टुड' के प्रतिनिधि, इंदरजीत बधबार, को अपनी भेंट-वार्ता में उन्होंने ऐसे कई सोवियत अधिकारियों के वृत्तांत सुनाए जो गुप्त रूप से दर्जनों कारखानों के मालिक हैं और जिनके पास अरबों की निजी संपत्ति हो गई है। इजाक वाच नामक एक व्यक्ति, जो किसी कारखाने का एक सुपरवाइजर था और जिसका मासिक वेतन मात्र 160 रूबल था, उसकी जब धर-पकड़ हुई तो पता चला कि लगभग एक दर्जन कारखानों पर उसका कब्जा था और उसके पास कोई एक अरब की निजी संपत्ति थी। एक कॉरपोरेट बोर्ड के चेयरमैन, लाजार ग्लैजेनबर्ग, ने लगभग 64 नगरों में अपने निजी विक्रय-केंद्रों का जाल बिछा रखा था। बोरिस रोइफमैन नामक व्यक्ति पर सन् 1960 में जब मुकदमा चला तो

पूरी बात खुली कि वह दो अरब से अधिक की संपत्ति का स्वामी बन चुका था।

मजे की बात तो यह है कि रूस में ऐसे पूंजीपतियों के अपने अलग कारखाने नहीं हैं। राजकीय कारखानों में ही वे अपना माल पैदा करते हैं, उन्हीं कारखानों के मजदूरों को सरकारी रेट से ज्यादा मजदूरी देकर काम लेते हैं, सुदूर बाजारों में अपना तैयार माल ठेलने के लिए राजकीय वितरण निकायों का ही सहारा लेते हैं तथा खुदरा बिक्री के लिए सरकारी दूकानों का ही उपयोग करते हैं। रूस में कानून की सख्ती ने भ्रष्टाचार को कैसे जन्म दे दिया है, सो देखिए : राज्य द्वारा हरेक कारखाने के लिए उत्पादन-कोटा निर्धारित है। उतना उत्पादन यदि नहीं हुआ तो, कारखाने के व्यवस्थापक पर संकट आ जाएगा। प्रत्येक कारखाने के लिए कच्चे माल का आबंटन और आपूर्ति, सरकारी विभाग और निकाय द्वारा ही होती है। खुला बाजार तो कहीं है नहीं कि जो मैनेजर जब जितना कच्चा माल चाहे, खरीद ले। सरकारी निकायों ने कारखाने को समय पर पूरा माल नहीं भेजा, तो काम ठप्प होने की नौबत। इसलिए, कारखाने के मैनेजर को आपूर्ति-विभाग के अधिकारियों को दे-लेकर ठीक रखना पड़ता है ताकि कारखाने को उत्पादन के लिए कच्चा माल आवश्यक मात्रा में ठीक समय पर उपलब्ध हो जाए। देश में कच्चे माल की कमी के कारण सरकारी गोदामों में भी अभाव ही चला करते हैं। इसलिए, अपना-अपना कोटा उठा लेने के लिए मनेजरों के बीच छीना-झपटी रहती है। और इसी छीना-झपटी में रिश्वतखोरी पनप कर पोषित हो रही है। जिस फैक्ट्री मैनेजर ने गोदाम मैनेजर की मुट्ठी गरम कर दी, वह तो दूसरे का हिस्सा कटवा कर भी अपना कोटा उठा ले गया और जो न कर सका, वह मुंह तकता रह गया। और यही नहीं कि कच्चा माल पाने के लिए ही रिश्वतखोरी चलती हो, बल्कि तैयार माल को फैक्ट्री से बाहर भिजवाने के लिए भी फिर वही सब तिकड़म लड़ानी पड़ती है। सरकारी वितरकों के साथ हिसाब-किताब ठीक रहा, तो फैक्ट्री का सारा माल ठीक समय पर बिक जाएगा। फैक्ट्री मैनेजर को क्रेडिट (श्रेय) मिलता रहेगा। नहीं तो माल पड़ा-पड़ा सड़ता रहेगा और बेचारे फैक्ट्री मैनेजर की जान आफत में पड़ी रहेगी। रिश्वत देने के लिए फैक्ट्री-बजट में कोई प्रावधान तो किया जा सकता नहीं, और बिना रिश्वत दिए फैक्ट्री चलाई जा सकती नहीं। इसलिए कितना सांसत का काम होता होगा फैक्ट्री मैनेजरी, सो समझ लीजिए। नौकरी छोड़ कर चला जाए, तो दूसरी नौकरी मिल कहां पाएगी। सब कुछ तो राज्य के नियंत्रण में है। इसलिए, मैनेजर को वह सब हुनर सीखना पड़ता है, जिसे नंबर दो का धंधा कहते हैं।

सिमिस ने बताया है कि इस प्रक्रिया ने सोवियत रूस में अब एक समानांतर अर्थव्यवस्था को जन्म दे दिया है, जो भूमिगत है तथा जिसमें फैक्ट्री के कर्मचारियों से लेकर प्रशासकीय विभागों के अधिकारी, कम्युनिस्ट पार्टी के पदाधि-

कारी और ऊपर के अनेक मंत्री तक साझीदार हैं। और मजे की बात यह भी है कि रिश्वत-कमीशन के बांट-बखरे के बाद भी ऐसे व्यवसायी स्वयं तो धन्नासेठ होते ही जा रहे हैं, साथ ही उनके माल की किस्म और कीमत भी ज्यादा उम्दा और सस्ती हुआ करती हैं। असल में निजी लाभ और संपत्ति-मोह की जो दुर्बलता मानव-मन के साथ सहज ढंग से जुड़ी हुई है, उसी की मजबूत डोर ने साम्यवादी रूस में भी वैसे अवैध व्यवसायियों, पार्टी नेताओं और छोटे-बड़े राजकीय अधिकारियों को कस कर आपस में बांध रखा है।[1]

सोवियत रूस के पयोला-कांड को उजागर करते हुए विगत वर्ष एडमंड स्टीवेन्स ने ('संडे टाइम्स' में) लिखा था कि चिचिनो-इनजुसेतिया रिपब्लिक में कपड़े की दो फैक्ट्रियां वर्षों से घाटे में चलने के कारण जर्जरावस्था में पड़ी हुई थीं। जार्जिया के चार अवैध व्यवसायियों ने मिलकर उस रिपब्लिक के स्थानीय उद्योग मंत्री बागुटीन बुजुर्तानोव को डेढ़ हजार रूबल माहवारी कमीशन बांध दिया और उन फैक्ट्रियों में गुप्त रूप से निजी उत्पादन करने का सौदा पटा लिया। आश्चर्य यह हुआ कि कुछ ही महीनों में फैक्ट्री की काया पलट गई। उसमें तरह-तरह की उपभोक्ता सामग्रियां तैयार होने लग गईं और उत्पादन छः गुना बढ़ गया। एक पार्टनर ने तैयार माल खपाने का जिम्मा संभाला और सरकारी खुदरा-विक्रेताओं को बीस प्रतिशत कमीशन तय कर, दूर-दूर तक माल ठेल दिया। उस भूमिगत व्यावसायिक सिंडिकेट को दस लाख रूबल वार्षिक मुनाफा होने लगा। व्यवसाय जब खूब बढ़ गया, तो सिंडिकेट और स्थानीय उद्योग मंत्री को जरूरत महसूस हुई—मास्को के किसी वरिष्ठ अधिकारी के संरक्षण और छत्रछाया की। सो, स्थानीय उद्योग मंत्री, बुजुर्तानोव ने अपनी उपमंत्री, डिना ओर्सोनोक को पटाया जो एक खूबसूरत महिला थी और जिसका मास्को में, केन्द्रीय सरकार के उप-उद्योग मंत्री से बड़ा मैत्रीपूर्ण संबंध था। डिना मास्को भेजी गई जहां उसने केन्द्रीय उप-मंत्री, आन्द्रे माकोरोव, को एक बड़े होटल में शानदार दावत दी। कुछ रास-रंग भी रहा। अंत में, पहली क़िस्त की थैली थमा कर डिना ने उसे पटा लिया। यह घटना 1974 में हुई थी। पांच बरस बाद सारा भंडाफोड़ हुआ, और तब सब गिरफ्तार हुए। इस सिलसिले में सबसे दिलचस्प बात यह हुई कि एक सोवियत समाचार पत्र ने अपने सम्पादकीय में उन चोर व्यवसायियों की भर्त्सना करते हुए यह भी लिखा कि उन चोर लोगों में जो अगुआई, लगन, उत्साह और कार्यकुशलता थी, वह स्थानीय उद्योगों के ईमानदार कर्मचारियों और पदाधिकारियों के लिए ईर्ष्या की बात होनी चाहिए।

उधर, चीन में, बत्तीस बरसों तक कम्यून और राष्ट्रीयकरण की लंबी-लंबी

1. देखें—इंडिया टुडे, 1 अक्तूबर, 1981 (पृ० 69)

छलांगें लगाते रहने के बाद, अपने टूटे-मुचके हाथ-पांव सहलाते हुए चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नवनिर्वाचित चेयरमैन, हु्‌या बैंग, ने पार्टी की 60वीं वर्षगांठ समारोह में स्वीकारा कि दुनिया के उन्नत देशों से अनेक उपयोगी बातें सीखी जा सकती हैं। वर्षों के प्रयोगों और अनुभवों के बाद साम्यवादी चीन जब कुछ संभला है, तो उसने अपनी अर्थव्यवस्था पर पुनर्विचार प्रारंभ कर दिया है। अपने उद्योगों की संवृद्धि के लिए अब वह अमरीकी तकनीक और प्रबंध-शैली अंगीकार करने को तैयार हो गया है और उसने कई ऐसे तरीके अपनाने की नीति स्वीकार कर ली है, जो मुक्त-व्यवसाय के मान्य-प्रचलन हैं।

उन दिनों कुछ अति उत्साही जनों ने सरदार पटेल से जब कहा कि चीन में जो बातें की जा रही हैं, वही सब यहां भी करें, तो उन्होंने कहा था कि समय बताएगा, कौन-सा तरीका ठीक है। कंट्रोल, कोटा, परमिट, लाइसेंस, सरकारीकरण इत्यादि के कारण उतने ही थोड़े समय में जो कुछ चलने लगा था, उन सब की खबर गृह मंत्रालय को थी। सरदार उससे भिन्ना उठे थे और आगे उस दिशा में संभल-संभल कर कदम बढ़ाना चाहते थे। कलकत्ते की जनसभा में उन बातों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा :

> आज हमने व्यापारियों से बिजनेस ले लिया, क्योंकि वे गड़बड़ करते थे। कुछ काला बाजार करते थे, कुछ पैसा ज्यादा लेते थे। तभी हमने कंट्रोल किया…हम कंट्रोल तो करते हैं, लेकिन बिजनेसमैन की जगह पर जिसे रखते हैं, वे अच्छा काम करते हैं, ऐसा कोई नहीं कहता। उनके बारे में भी लोग छींटे डालते हैं कि वे लोग घूसखोरी करते हैं, पैसा खाते हैं। इन बातों से सरकार बदनाम होती है। तो उससे क्या फायदा ?

सरदार की आशंकाएं निर्मूल नहीं थीं। कोटा-लाइसेंस-परमिट के दुरुपयोग ने आज, न केवल देश की अर्थव्यवस्था को ही संकटग्रस्त कर दिया है बल्कि हमारा राजनैतिक जीवन भी भ्रष्ट कर दिया है। आपने जो अन्तुले-कांड सुना है, वह कोटा-लाइसेंस-परमिट की ही तो देन है। महाराष्ट्र जैसे समृद्ध राज्य का मुख्यमंत्री, दरिद्रनारायण की नौटंकी चलाए, गरीबी मिटाओ अभियान में अनेकों निजी ट्रस्ट कायम कर ले, कोटा-लाइसेंस-परमिट बेचकर खुलेआम राजकीय स्तर पर कालाबाजारी करे और चंद ही महीनों में पंद्रह करोड़ रुपये बटोर कर अपनी तिजोरी में बंद कर ले—आखिर यह सब कैसे संभव हुआ ? हद तो यह हो गई कि अन्तुले ने बड़ी शान से कहा कि उसने छिपाकर कुछ नहीं किया। मानो, भ्रष्टाचार को जनस्वीकृति प्राप्त हो चुकी हो, उसे अब किसी से छिपाने की भी कोई जरूरत नहीं। जैसे, भ्रष्टाचार यदि खुले आम किया जाय, तो वह अवैध नहीं। इस तर्क की परिणति तब तो यही होगी न, कि दुष्कर्म छिपाकर करो, तो अवैध; सरेआम करो, तो वैध। इस तर्क के आधार पर चोरी अवैध हुई, चूंकि

छिपाकर की जाती है। मगर डकैती को वैध माना जाएगा, क्योंकि वह सरेआम, दिन-दहाड़े की जाने लगी है। अन्तुले ने जिस ढंग से धन बटोरा है, वह एक दूसरी दृष्टि से भी डकैती ही है। डकैती में बन्दूक-पिस्तौल तान, प्राण-भय दिखाकर जबरन धन छीन लिया जाता है। अन्तुले ने राज्यशक्ति का प्रयोग कर, लाइसेंस-कोटा-परमिट नामंजूर करने का भय दिखा कर लोगों को ब्लैंक चैक काटने को मजबूर कर दिया और पंद्रह करोड़ रुपये बटोर लिए। उसका लक्ष्य पचास-साठ करोड़ का था। सौभाग्यवश, अरुण शौरी जैसे लोग जब तक देश में हैं, यह कदापि नहीं माना जा सकता कि भ्रष्टाचार को जनस्वीकृति प्राप्त हो चुकी है। हां, भ्रष्टाचार को राज्य-स्वीकृति मिल गई है, यह मान लेने में अधिक कठिनाई नहीं। जब प्रमुख राज्यों के मुख्यमंत्री नितांत निश्चित भाव से यह कहने लग जाएं कि भ्रष्टाचार हमारे राष्ट्रीय जीवन का अंग बन गया है, तो इससे क्या समझा जाएगा ?

बिहार के मुख्यमंत्री डाक्टर जगन्नाथ मिश्र से एक पत्रकार ने जब यह पूछा कि उनके राज्य में भ्रष्टाचार की चर्चा सब लोग करते हैं और खुद उनके कांग्रेसी नेता लोग भी शिकायत करने लगे हैं, तो मुख्यमंत्री महोदय ने बड़े ही सहज भाव से हंसते हुए पूछा—"भ्रष्टाचार कहां नहीं है ? भ्रष्टाचार तो हमारे राष्ट्रीय जीवन का अंग बन चुका है और यह सारे देश में व्याप्त है। फिर, बिहार की ही बात क्यों करें !" ठीक है, भ्रष्टाचार लोकाचार बनकर सारे देश में फैल गया है। प्रायः सभी राज्यों में भ्रष्टाचार का बोलबाला है। अनेक मंत्री, मुख्यमंत्री लूट-खसोट कर रहे हैं। भारत में ही क्यों, रूस-चीन तक में भ्रष्टाचार व्याप्त है। तो इसका क्या अर्थ, कि भ्रष्टाचार को चलने दिया जाय ? चूंकि, बहुत जगह, बहुत लोग कर रहे हैं, इसलिए, सब जगह, सब लोग करें ? चलता आया है इसलिए चलता ही रहे ? मूल प्रश्न यह है कि भ्रष्टाचार ठीक चीज है या गलत ? सरकार का इरादा भ्रष्टाचार चलाने का है या मिटाने का ? जिन मंत्रियों और मुख्य मंत्रियों में इतनी निश्चिन्तता है कि वे डंके की चोट घोषणा करें कि उन्होंने छिपा कर कुछ नहीं किया; हंस कर यह पूछें कि भ्रष्टाचार कहां नहीं है; वे कृपा करके इस सीधे से प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देने का साहस करें कि : भ्रष्टाचार को वे गलत मानते हैं या ठीक तथा उनका इरादा भ्रष्टाचार मिटाने का है या चलाने का ? उसके बाद का फैसला तो लोग स्वयं ही कर लेंगे; आज न सही, कल ही सही।

बड़े दुख की बात है कि राज्य का प्रधान शासक बनने की ललक तो आज हर ऐरे-गैरे में समा गई है। उनमें से कई तो बन भी चुके हैं। किन्तु, प्रधान की चेतना तथा वांछित चरित्र, किसी में भी नहीं। भारतीय इतिहास का बड़ा बद-नाम बादशाह रहा है औरंगजेब। किन्तु उसकी राजकीय चेतना और चारित्रिक ऊंचाई के बारे में कुछ मालूम भी है ? वह कहता था, जिंदगी में उस पर शाही

खजाने का पैसा भले ही खर्च हो, क्योंकि, वह सल्तनत का काम कर देता है : किन्तु मृत्यु के पश्चात् उस पर खजाने की एक कौड़ी भी खर्च न की जाए, क्योंकि तब वह सल्तनत की कोई सेवा न कर रहा होगा। वह जो वसीयतनामा लिख गया, सो पढ़िए। यदुनाथ सरकार की किताब 'ऐनेकडोट्स ऑफ औरंगजेब ऐन्ड हिस्टोरीकल एसेज़' में मिल जाएगा। अपने वसीयतनामे में मुग़लिया सल्तनत का वह शक्तिशाली शाहंशाह हिदायत कर गया :

> मेरे क़फन-दफ़न पर सरकारी खजाने की एक कौड़ी भी खर्च न की जाए। जो चार रुपये दो आने मैंने टोपियां सीकर कमाए हैं, वह महलदार के पास जमा हैं। उनसे गज़ी का कफन खरीदकर मुझे लपेट देना और तीन सौ पांच रुपये जो मैंने क़ुर्आन शरीफ़ लिख कर कमाए हैं, वह फक़ीरों में बांट देना, क्योंकि, इस्लाम के मुताबिक क़ुर्आन शरीफ़ की कमाई का खानगी इस्तेमाल हराम है।

खैर, हम लोग लौट कर फिर उसी दिन को चलें जब सरदार ने जे० पी० और उनके समाजवादी साथियों से कहा था कि वे अपनी पसंद का कोई एक प्रांत चुनकर वहां अपनी सरकार चलाएं और अपनी योजना लागू करें। उस प्रांत में सोशलिस्टों की नीति-रीति यदि सफल हो गई, तो आगे लोग स्वयं ही सारे देश के शासन की बागडोर उन लोगों के हाथ में सौंप देंगे। लेकिन जिस काम का कोई व्यावहारिक अनुभव न हो, उसे एकाएक व्यापक पैमाने पर सारे देश में शुरू कर देने की जोखिम उठाने को सरदार बिल्कुल तैयार न थे। उन्हें लगता था, कि वैसे तो जो आजादी उतनी मुश्किल से मिल पाई थी, स्वयं वही खतरे में पड़ जाएगी।

सरदार का प्रस्ताव चाहे जितना भी व्यावहारिक क्यों न रहा हो, किन्तु लगता है, उससे खास कर जे० पी० के अहंकार को बड़ी चोट लगी थी। वह युग था जब "भारत का लेनिन जयप्रकाश, लेनिन से आगे जयप्रकाश" के नारों से भारतीय राजनीतिक गगन गूंज जाया करता था। जब, नभ में "लाल सितारा जयप्रकाश" तेज़ी से चमक रहा था। जब, महाकवि का ओजपूर्ण छंदनाद— "नखत अमा के बुझते हैं, सारा आकाश तुम्हारा है···" विशाल जनसमूह की करतल ध्वनियों को चीर, जय प्रकाश की महत्त्वाकांक्षाओं को संग ले अनन्त आकाश में विचरा करता था। भारतीय स्वतंत्रता का कारण यदि अगस्त क्रांति को मान लिया जाता, तो 'अगस्त क्रांति के अग्रदूत जयप्रकाश' थे। अब वे किसी की अनुकम्पा से नहीं, स्वत्त्वाधिकार से राष्ट्रनायक बन चुके थे। बयालिस-चवालीस वर्ष की उस मध्य-आयु में उतनी बड़ी उपलब्धि और लोकप्रियता की चकाचौंध में किसी को भी दृष्टि-दोष उत्पन्न हो जाए, तो क्या आश्चर्य ? लोहिया जी तो उनसे भी पांच-सात वर्ष छोटे ही थे। और लोक-कथा भले ही जे० पी० के संबंध में अधिक प्रचलित हो गई हो, लेकिन सब को मालूम था कि 'भारत छोड़ो' के भूमि-

गत आंदोलन में लोहिया जी की भूमिका कम शानदार नहीं रही थी। सो, उन लोगों ने शायद सोचा हो कि जब देश की सारी जनता ही उनके पीछे दीवानी है तो बस चुनाव आने भर की देर है। अभी सरदार से भीख में प्रशासन क्यों लें ? उसी जोम में कांग्रेस सोशलिस्ट लीडरों ने न केवल सरदार के प्रस्ताव को ठुकरा दिया, बल्कि कांग्रेस से निकल कर अपनी अलग सोशलिस्ट पार्टी ही बना ली। आचार्य नरेंद्र देव और मीनू मसानी कांग्रेस छोड़ने के पक्ष में नहीं थे, लेकिन जब फैसला हो ही गया, तो नरेन्द्र देव जी फैसले के साथ ही रहे। सरदार ने तब कहा था, "ठीक है। जब चुनाव होगा तो पता लग जाएगा।" और सचमुच पता लग ही गया। लोहिया जी के ठेठ शब्दों में—"सोशलिस्ट पार्टी की ऊपरी ताकत का बुलबुला चुनाव में पिचक गया।" प्रथम आम-चुनाव में ही (प्रजा) सोशलिस्ट पार्टी ऐसे औंधे गिरी कि फिर कभी संभल कर खड़ी न हो पाई। उसके बाद तो महारथी लोगों में कोई ईर घाट, कोई बीर घाट; किसी ने कमंडल उठा लिया, तो कोई त्रिशूल ले निकल पड़ा। उनमें से एक तो आज भी आंख-नाक दबा कर ध्यान-प्राणायाम करते ही जा रहे हैं।

सोशलिस्टों की सूझ-बूझ पर सरदार कभी-कभी तरस खा जाते थे। सन् 45-46 के जमाने में कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं ने जेल से छूटते ही हवा का रुख देख कर समझ लिया था कि आजादी अब आने ही वाली है। लेकिन सोशलिस्टों को विश्वास ही नहीं था कि अंग्रेज सचमुच इतनी जल्दी भारत छोड़, सात समुद्र पार लौट जाएंगे। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सह-संस्थापक और जे० पी० के घनिष्ठ मित्र, मीनू मसानी, समझाते ही रह गए, लेकिन जे० पी० भारत की संविधान सभा में सम्मिलित होने को तैयार न हुए। उन्हें लगता था, सब कुछ एक नाटक भर है। आजादी के एक महीना पहले तक उनका भ्रम शायद नहीं टूटा, इसलिए, ब्रिटिश पार्लियामेंट में पेश हो रहे भारतीय स्वतंत्रता बिल की वास्तविकता का पता लगाने के लिए अच्युत पटवर्धन साहब को उन्होंने लंदन भेजा था। वहीं 17 जुलाई, 47 को हाउस ऑफ कामन्स में, संसद सदस्य वूडरो यॉट ने पटवर्धन साहब का परिचय माउंटबेटन के प्रेस अँटैशे, कैम्बेल जॉन्सन, से कराया था जिसका जिक्र कैम्बेल ने अपनी पुस्तक 'मिशन विद् माउंटबेटन' में किया है।

पता नहीं, हमारे सोशलिस्ट नेता लोग उन दिनों किस धरातल पर रहा करते थे। आश्चर्य होता है, निर्णायक राजनीतिक गतिविधियों से वे कितने अनभिज्ञ थे ! कैसी उनकी सूचनाएं थीं और कैसा आकलन ! संविधान सभा में सम्मिलित होने के प्रश्न पर यद्यपि रजवाड़ों में भी मतभेद चल रहे थे, लेकिन रियासत बीकानेर के दीवान के० एम० पाणिकर (बाद में भारत के चीन स्थित राजदूत) ने कैम्पबेल को बताया कि अधिकांश देशी नरेश संविधान सभा में इसलिए सम्मिलित होने को व्यग्र थे ताकि, वहां चल कर जयप्रकाश और उनके सोशलिस्ट

दल के मुकाबिले में दक्षिणपंथी शक्तियों के हाथ मजबूत किए जा सकें। ऐसे महाबली माने जा रहे थे उन दिनों वामपंथी जयप्रकाश कि ग्रेट ब्रिटेन के उप-वित्तमंत्री के समक्ष अपनी विश्रम्भकूट-वार्ता में पाण्णिकर ने उनका नाम लेकर जिक्र किया। और जे० पी० थे कि देह में माटी मलते रह गए, अखाड़े में उतरे ही नहीं। यही नहीं बल्कि संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्र प्रसाद को लिख दिया कि संविधान सभा ही भंग कर दी जाए। उनके दल की राष्ट्रीय कार्य-कारिणी की दलील यह थी कि : इस संविधान सभा का गठन चूंकि देश की स्वतंत्रता और विभाजन के पूर्व हुआ था और इसके सदस्य परोक्ष रूप में उन प्रांतीय विधान सभाओं द्वारा निर्वाचित किए गए थे जो स्वयं ही सीमित मता-धिकार के आधार पर निर्वाचित हुई थीं, तथा चूंकि इस संविधान सभा में देशी नरेशों के भी मनोनीत सदस्य सम्मिलित हैं, इसलिए यह देश की जनता की प्रति-निधि सभा नहीं मानी जा सकती। अतः इसे देश के भावी संविधान का निर्माण करने का कोई अधिकार नहीं है। कैसी अजीब बात थी : संविधान सभा नए भारत की मूर्ति तैयार करने में जुटी थी और जे० पी संविधान सभा को तोड़ने की फिक्र में लगे थे। समय तेजी से आगे दौड़ता जा रहा था, और जे० पी० और उनके सोशलिस्ट साथी अपनी सारी शक्ति घड़ी की सूई को पीछे घुमाने में खपा रहे थे।

उन्हीं दिनों दो और ऐसी घटनाएं हुई थीं जिनसे, खास कर सरदार पटेल, सोशलिस्टों के दोलायमान रवैये से चिढ़ गए : गांधीजी ने जोर दिया कि कंट्रोल उठा लिया जाए। इस समस्या पर विचार और सुझाव के लिए भारत सरकार ने श्री पुरुषोत्तम दास की अध्यक्षता में एक कमिटी बनाई जिसकी सदस्यता के लिए जे० पी० भी आमंत्रित किए गए। किन्तु उन्होंने कहा, "मुझे फुर्सत नहीं, हम अपना प्रतिनिधि भेज देंगे।" उन्होंने ही उस कमिटी में डॉ० राममनोहर लोहिया को भेजा था। कमिटी ने जब यह विचार किया कि कंट्रोल धीरे-धीरे समाप्त कर देना चाहिए, तो लोहिया साहब ने बहुत जोर देकर कहा था, "आहिस्ता-आहिस्ता नहीं, आज ही हटा देना चाहिए। उसको तो बिल्कुल रखना ही नहीं चाहिए।" फैसला करके तो चले गए, किन्तु कुछ ही दिनों के अंदर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने एक निंदा-प्रस्ताव पास करते हुए कहा कि कंट्रोल उठा कर सरकार ने बहुत बुरा काम किया है। ऐसी ही एक दूसरी घटना हुई जिससे सरदार के साथ-साथ पंडित जी भी बड़े खिन्न हुए थे। कपड़े पर कंट्रोल और उसकी उत्पादन-वृद्धि की समस्या पर विचार करने के लिए सरकार ने एक कान्फ़रेंस बुलाई थी जिसमें उद्योगपति, मजदूर संघ, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट आदि सभी के प्रतिनिधि सम्मि-लित हुए थे। उस कान्फ़रेंस में प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने सुझाव रखा कि हम सब को आपस में एक ट्रूस (समझौता) कर लेना चाहिए कि तीन साल के लिए हम

कोई हड़ताल न करेंगे ताकि उत्पादन-कार्य में कोई बाधा न पहुंचे। सबने एक राय से फैसला किया कि, हां ठीक है। किन्तु अशोक मेहता साहब को तो बम्बई में अपनी लीडरी जमाने की फिक्र थी। बम्बई के मामले में वे जे० पी० तक का हस्तक्षेप सहन नहीं करते थे। इसलिए, कांफ्रेंस के दो ही तीन दिनों बाद बम्बई पार्टी ने प्रस्ताव पास किया कि सरकार ने ट्रूस का जो फैसला किया है, उसे वे पूरी तरह नहीं मान सकते तथा सरकार की आर्बिट्रेशन और डी-कंट्रोल की नीति और फैसले के विरोधस्वरूप बम्बई में वे लोग एक दिन की सांकेतिक हड़ताल करवाएंगे। सोशलिस्ट लोग तब तक कांग्रेस में ही थे—कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के रूप में। सरदार ने उन्हें धिक्कारते हुए बम्बई की चौपाटी सभा में कहा था :

मुझे बड़ा अफसोस हुआ कि जिन लोगों पर हम आखिर को गवर्नमेंट चलाने का बोझ डालने वाले हैं, वह इसी तरह से काम करेंगे, तो कौन-सी गवर्नमेंट चलेगी? और ऐसा ही रहा तो हिन्दुस्तान के स्वराज्य का क्या भविष्य है? वे (सोशलिस्ट) कहते हैं कि यह गवर्नमेंट बुरी है, ठीक काम नहीं करती··· हम कांग्रेस से इस्तीफ़ा देंगे। अच्छी बात है; दो।

जे०पी० को भी सरदार पर बहुत नाराज़गी रहा करती थी। सरदार पर एक सशक्त प्रहार करने का उपयुक्त अवसर उन्हें तब मिला जब गांधी जी का निधन हुआ। राष्ट्रपिता की हत्या की सारी जिम्मेदारी जे० पी० ने एक तरह से सरदार के सिर पर ही थोप दी। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की ओर से गांधी हत्या-कांड पर एक निर्णायक बयान प्रसारित किया जाने वाला था। बयान जयप्रकाश जी ने ही लिखा। उसके कुछ वाक्यों से लगता था कि हत्या का दोष सरदार पटेल पर ही है। लोहिया जी ने कहा, "ये वाक्य रहेंगे तो मैं इस पर हर्गिज दस्तखत नहीं करूंगा। दोष पूरी सरकार का है। खाली पटेल जी नहीं, नेहरू साहब भी तो एक से अधिक विभाग लिए हुए हैं।" लोहिया जी ने वाक्य बदल दिए। दो-तीन दिनों तक बयान रुका रहा। फिर दिल्ली में एक प्रेस कांफ्रेंस हुई। देश-विदेश के 70-80 प्रेस प्रतिनिधि जुटे। जे० पी० और लोहिया, दोनों ही बैठे थे। बयान जे० पी० ने ही प्रसारित किया। लिखित रूप में बयान था तो वही, जैसा लोहिया जी ने संशोधित कर दिया था। किन्तु उस पर टीका करते समय जे० पी० ने सरदार के ऊपर ज्यादा दोष डाल दिया। बयान के संबंध में जे० पी०-लोहिया मतभेद की भनक कई सजग संवाददाताओं को हो चली थी। सो, जे० पी० की टीका जैसे ही समाप्त हुई, 'हिन्दू' (मद्रास) के प्रतिनिधि ने झट लोहिया जी से बिल्कुल सीधे पूछ लिया—"आपकी भी यही राय है क्या?" लोहिया जी उस समय चुप रह गए। उसके बाद जो घटनाएं हुईं, उनका परिणाम पूर्व-विदित था। कुछ महीने बाद जे० पी० जब मुजफ्फरपुर आए तो हमने उन्हें कहते सुना—"कांग्रेस ने हमारे लिए दरवाजे बंद कर लिए।"

स्थापित कर देने का विचार कर रही थी। पिताजी बिहार के तत्कालीन प्रधान-मंत्री[1] डॉ० श्रीकृष्ण सिंह से मिलने गए। श्री बाबू ने जब पिताजी को तरक्की देने और फिर से बहाल करने की बात चलाई तो पिताजी ने कहा, "मैं तो अब नौकरी नहीं करूंगा।"

—"तब क्या करोगे ?" श्री बाबू ने पूछा

पिताजी ने कहा—"राजनीति और जन-सेवा।"

—"तब तो और अच्छी बात है।" श्री बाबू खुश हुए और बोले, "जुट जाओ कांग्रेस के काम में।"

जब पिताजी ने उन्हें बताया कि वे तो जयप्रकाश जी और रामनंदन मिश्र के साथ सोशलिस्ट पार्टी में हैं, तो श्री बाबू ने कहा—"राजनीति ही करनी है तो नादानों की जमात में रहकर क्या करोगे ? कांग्रेस में हमारे साथ आओ।" अपने डेरे पर पिताजी के सोशलिस्ट साथियों को आपस में उन सब बातों की चर्चा करते हुए जब सुना, तो बीच में टुभक पड़ने से अपने को मैं रोक नहीं पाया : 'जय-प्रकाश जी क्या, अभी मिसर जी ही श्री बाबू को राजनीति पढ़ावेंगे। नेहरू की मजाल ही नहीं कि जयप्रकाश जी को नासमझ कहें। श्री बाबू राजनीति बतियाने चले हैं।" मैंने किसी अति उत्साही सोशलिस्ट 'भाई' से कभी सुना था—"लेनिन ने रूस में समाजवादी क्रांति की थी, जे० पी० तो भारत में समाजवाद का परिशोधन कर रहे हैं।" अपनी किशोर-अहमिता की तुष्टि में अपना ज्ञान प्रदर्शित करते हुए मैंने भी वही बात दुहरा दी। मेरी बात सुनकर पिताजी के एक मित्र ने जब उनसे कहा—'रामेसर भाई! तोहर ई बेटा त पलीता हो, पलीता,' तो मैं फूल कर कुप्पा हो गया। मेरी नासमझी के ऐसे अनेक किस्से हैं जिनका आप के लिए भले ही कोई महत्त्व न हो, लेकिन हमारे परिवार की और हमारी तरह अनेक लोगों की जीवन दिशा ही गलत हो गई, जिसके दुष्परिणाम हम आज तक भुगतते ही जा रहे हैं।

छोड़ दीजिए सरदार की बात। सरदार तो सोशलिस्ट नहीं ही थे। लेकिन, पंडित जी तो थे ! तीसरी दशाब्दी से ही कांग्रेस के अंदर सोशलिज्म चलाने की वे जी-तोड़ कोशिश करते आए थे। कई बार उन्हें मुसीबतें झेलनी पड़ी थीं। बहुत पहले, 1936 में जब वे कांग्रेस अध्यक्ष थे, उनकी सोशलिस्ट नीतियों के विरोध में सरदार पटेल, राजा जी, राजेन्द्र बाबू, कृपलानी जी, शंकर राव देव, जयराम दास दौलत राम और जमना लाल बजाज ने कांग्रेस वर्किंग कमिटी से त्याग-पत्र दे दिया था। पंड़ित जी के पास त्याग-पत्र भेजते हुए राजेन्द्र बाबू ने उन सभी नेताओं के संयुक्त हस्ताक्षर से लिखा था कि कांग्रेस पार्टी ने तो समाजवाद को

1. सन् 1950 की 26 जनवरी को भारतीय गणराज्य का नया संविधान लागू होने से पूर्व प्रांतीय मंत्रिमंडलों के प्रमुख भी प्रधानमंत्री ही कहे जाते थे।

दे दिया था। पंडित जी के पास त्याग-पत्र भेजते हुए राजेन्द्र बाबू ने उन सभी नेताओं के संयुक्त हस्ताक्षर से लिखा था कि कांग्रेस पार्टी ने तो समाजवाद को स्वीकार नहीं किया था, इसलिए कांग्रेस अध्यक्ष नेहरू और उनकी कार्यकारिणी के अन्य सोशलिस्ट सदस्यों द्वारा समाजवाद की नीतियों पर बल और प्रख्यान के कारण स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्रहित पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लग गए हैं। राजेन्द्र बाबू ने यह भी लिख दिया कि पंडित जी और उनके सोशलिस्ट सहयोगियों के समाजवादी व्याखानों के कारण कांग्रेस संगठन ही सारे देश में कमजोर हो गया है। गांधी जी के हस्तक्षेप से सबने अपना त्याग-पत्र वापस ले लिया और तब स्थिति संभली।

स्वतंत्रता के प्रारंभिक वर्षों में भी कांग्रेस पार्टी और सरकार के अंदर अनुदार गृह मंत्री पटेल और उनके दक्षिणपंथी गुट के साथ वामपंथी प्रधानमंत्री नेहरू की कड़ी टक्कर चल रही थी। यद्यपि समाजवादी कार्यक्रमों के प्रश्न पर गांधी जी पटेल के विरोधी रुख का ही अनुमोदन किया करते थे, किंतु सांप्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता जैसी समस्याओं पर उनका प्रबल समर्थन नेहरू को ही प्राप्त होता रहा। पाकिस्तान, भारतीय मुसलमान और दिल्ली दंगों के प्रति गृहमंत्री के रुख के कारण नेहरू-पटेल मतभेद इतना गहरा और तीखा हो चला था कि सरदार ने मंत्रिमंडल से त्याग-पत्र दे दिया। उन दिनों स्वयं गांधी जी भी उन्हीं प्रश्नों को लेकर उपवास कर चुके थे जिसका सीधा और स्पष्ट अर्थ हो जाता था, गांधी द्वारा पटेल की मौन भर्त्सना। इसलिए, सरदार ने भी अपना त्याग-पत्र गांधी जी के पास ही भेजा था। पंडित जी भी सरदार से अपना पिंड छुड़ा लेने के लिए आतुर हो उठे थे। सारी बातें अति गोपनीय ढंग से चल रही थीं। माउंटबेटन को पता चला, तो वे बड़े चिंतित हुए। देश की जैसी संकटपूर्ण स्थिति हो चली थी, उन्होंने महसूस किया—सरदार के हट जाने से सरकार के लिए स्थिति संभालनी बड़ी मुश्किल हो जाएगी। उन्होंने गांधी जी से नेहरू-पटेल के बीच मध्यस्थता करने का आग्रह किया। तब गांधी जी ने सार्वजनिक रूप से भी कहा : प्रधानमंत्री अपने मंत्रिमंडल में किसे रखें, किसे न रखें; निस्संदेह यह उनका ही विशेषाधिकार है। किंतु, सरदार जैसे मूल्यवान सहयोगी को खो देना किसी भी प्रधानमंत्री के लिए अहितकर होगा।

सरदार और नेहरू ने एक-दूसरे को गले तब लगाया जब राष्ट्रपिता के शव के सामने माउंटबेटन ने उनसे यह कहा कि बापू की अंतिम इच्छा थी कि वे दोनों साथ मिलकर देश को संभालें। घटनाओं के आघात से, परिस्थितिवश कुछ काल के लिए नेहरू और पटेल का मन भले ही मिला दीखा हो, पर उनका मानस कहां मिल पाया था। और जब मानस नहीं मिला, तो उसने मन को भी पूरी तरह मिलने नहीं दिया। गांधी जी की मृत्यु के तीन-चार महीने के अंदर ही सोशलिस्ट

लोग कांग्रेस से निकल गए। भारत में समाजवाद के हितैषियों के लिए यह विषाद का ही विषय बना रहेगा कि जे० पी० और उनके साथियों ने उस संकट की घड़ी में कांग्रेस छोड़ दी जब अनुदार गुट का मुकाबिला करने में समाजवादी नेहरू कमजोर पड़ते जा रहे थे।

सात

सरदार की मृत्यु के बाद, जब दल और सरकार में पंडित जी की स्थिति नितांत सुदृढ़ हो गई, तो उन्होंने अपनी सरकार में सम्मिलित होने के लिए जे० पी० को आमंत्रित किया। यह 1953 की बात है—सरदार की मृत्यु के दो बरस बाद। वैसे तो सरदार के जीवन-काल में भी जे० पी० और उनके साथियों का सहयोग पंडित जी सदा ही ढूंढ़ते रहे। सोशलिस्ट लोग कांग्रेस से तो अलग हो चुके थे, लेकिन पंडित जी के मन से नहीं। अपनी ओर से वे बीच-बीच में इस बात की कोशिश करते ही रहे कि सोशलिस्ट नेता लोग कोई न कोई सम्मानजनक उत्तरदायित्व स्वीकार कर उनकी सरकार के साथ सहयोग करें। राष्ट्रहित में उन्होंने दलगत भावनाओं से ऊपर उठकर जे० पी० के समक्ष कई प्रस्ताव रखे थे। एक वैसे ही प्रस्ताव के संबंध में उन्होंने जे० पी० को लिखा था :

नई दिल्ली

अगस्त 19, 1948

मेरे प्रिय जयप्रकाश,

···शायद तुम्हें मालूम हो कि राष्ट्रसंघ में भारतीय प्रतिनिधि मंडल के साथ मैंने अच्युत पटवर्धन को पेरिस जाने के लिए कहा था। उसने अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। मुझे तो सचमुच बहुत ज्यादा खुशी होती अगर तुम ही जाते, लेकिन मैंने तुमसे इसलिए नहीं कहा कि शायद तुम राजी न हो। अच्युत की अस्वीकृति इस बात की भी पुष्टि कर देती है। मेरी कामना यह है कि इस तरह की बातों में तुम्हें और सोशलिस्ट पार्टी के अन्य लोगों को कुछ अधिक सहयोगी बनना चाहिए। हम देश के भविष्य को नहीं संवार सकते यदि हम ग्रुप या दल की ही ज्यादा फिक्र रखें···

···परिस्थिति की विवशता के कारण मैं सब कुछ अपना ही चाहा नहीं कर पाता। हम सब लोग, कुछ हद तक, भाग्य और परिस्थिति के बंदी हैं।

फिर भी, सदा की भांति, आज भी मैं एक विशेष दिशा की ओर बढ़ने और देश को साथ ले चलने के लिए व्यग्र हूं और मैं आशा करता हूं, इस काम में मुझे तुम्हारी भी सहायता मिलेगी।

सस्नेह तुम्हारा,
जवाहरलाल

अगले महीने पंडित जी ने अच्युत पटवर्धन को फिर एक नया 'ऑफर' भेजा। इस बार उन्हें वे इटली का राजदूत बनाना चाहते थे। अपने पत्र की प्रतिलिपि उन्होंने जे० पी० को भी भेज दी जिसके आधार पर जे० पी० ने 16 सितंबर को पटवर्धन साहब को लिखा :

"…मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि इस बार तुम्हें उनका प्रस्ताव अस्वीकार नहीं करना चाहिए। आमतौर पर, विदेश नीति एक द्वि-पक्षीय विषय है और सत्ताधारी दल द्वारा प्रतिपक्ष के सदस्यों को भी राजदूत पद पर नियुक्त करना कोई असामान्य बात नहीं। मैं इस बात के लिए भी चिंतित हूं कि पंडित जी यह न महसूस करने लग जाएं कि हम लोग हर बात में उनके साथ असहयोग ही करते हैं। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि पार्टी तुम्हारी स्वीकृति को गलत न समझेगी। उसे समझा लेने का ज़िम्मा तुम मुझ पर छोड़ो।"

जहां तक मुझे पता है, पटवर्धन साहब ने पद स्वीकार नहीं किया। हां, मीनू मसानी साहब उन्हीं दिनों भारतीय राजदूत बनकर ब्राज़ील गए थे। जे० पी० का अपना ही मन बदल जाया करता था। सरदार से तो नाराज वे रहते ही थे, पंडित जी से भी उन्हें शिकायत हो चली थी। स्वतंत्रता के प्रारंभिक दिनों में जे० पी०, पंडित जी की 'मिश्रित-अर्थव्यवस्था' के हिमायती हो गए थे। लेकिन, बरस दो बरस में ही उन्हें लगा कि पंडित जी ने गलत दिशा पकड़ ली है। अपनी खिन्नता प्रकट करते हुए मीनू मसानी को उन्होंने एक पत्र भेजा। लिखा था :

कदम कुआं, पटना,
फरवरी 4, 1949

प्रिय मीनू,

…तुम यह जानकर दुःखी होगे कि देश में आर्थिक विकास की प्रवृत्तियों ने मुझे अपने उन विचारों को परिशोधित कर लेने के लिए बाध्य कर दिया है जिन्हें मैंने स्वतंत्रता के प्रारंभिक काल में विकसित किया था। मैंने सोचा था, मिश्रित अर्थव्यवस्था के साथ हम एक प्रयोग कर सकते हैं, लेकिन अब मेरा निश्चित मत है कि पूंजीवाद को अवश्य समाप्त कर देना चाहिए…

…इंडस्ट्रियल अड्वाइज़री कमिटी की हाल की दिल्ली मीटिंग में पंडित नेहरू ने एक तरह से पूंजीपतियों की पीठ ठोक दी है, मानो उनसे वे कहना चाहते हों : 'ठीक है, मैंने समाजवाद के पक्ष में कहा तो बहुत कुछ है, लेकिन उस दिशा में क्या सचमुच कुछ किया भी है ? तो फिर, घबराते क्यों हो ?' मुझे विश्वास हो चला है, कांग्रेस शासन में समाजवाद की ओर प्रगति की कोई आशा नहीं। उल्टे, पूंजीवाद की ही नींव तेजी से मजबूत की जाने लगी है…

तुम्हारा,
जयप्रकाश

मीनू मसानी ने जो जवाब दिया, वह भी पढ़ने लायक है। उसका एक दिलचस्प हिस्सा पेश कर देता हूं :

ब्राजील,
मार्च 2, 1949

मेरे प्रिय जयप्रकाश,

…उदाहरण के तौर पर, तुम्हारा यह कहना कि मिश्रित-अर्थव्यवस्था का असली खतरा यह है कि, 'यह समाजवाद के आगमन को सदा के लिए रोक दे सकता है।' मैं अश्रद्धापूर्वक यह पूछना चाहता हूं : 'इसमें हर्ज ही क्या है ?' मिश्रित-अर्थव्यवस्था यदि अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख पहुंचा दे, तो संत मार्क्स के समाजवादी सुसमाचार में ऐसी कौन-सी पवित्रता है जिसके लिए हम छाती पीट लें ? …

तुम्हारा,
मीनू

समय बीतता गया और समय के साथ कई बातें भी बीत गईं : सरदार चल बसे। प्रथम चुनाव निपट गया। सोशलिस्ट पार्टी का वीरगाथा काल शेष हो गया। जे० पी० इक्कीस दिनों तक उपवास कर चुके। उपवास-क्रम में राजनीति और समाजवाद के क्षीर-सागर में आत्म-मंथन कर भूदान का अमृत-पात्र लिए वे बाहर निकले। इस भांति सन् 53 का वर्ष आ पहुंचा। पंडित जी ने जे० पी० को साग्रह बुला भेजा। अपना प्रयास असल में वे चला तो उसी समय से रहे थे जब जे० पी० पूना में उपवास पर थे। उन दिनों अपनी चिंता और शुभकामना सूचक दो पत्र उन्होंने जे० पी० को भेजे थे। पहले में लिखा : "…तुमने हम सब को बहुत चिंताग्रस्त कर दिया है और मेरा ध्यान तुम्हारी ओर लगा है…तुम्हारा जीवन हम सब लोगों और भारत के लिए अत्यधिक मूल्यवान है…" फिर, 12

जुलाई '52 को जब दूसरी चिट्ठी भेजी, तो उस में अन्य बातों के अलावा यह भी लिखा कि पिछली भेंट में जे० पी० उनसे फिर मिलने का वादा कर गए थे। उपवास समाप्ति के बाद जब वे बिल्कुल चंगे हो जाएं, तो आकर उनसे भेंट करें। पंडित जी ने स्पष्ट संकेत कर दिया था कि इस बार जे० पी० से वे विशेष महत्त्व की कुछ बातें विस्तारपूर्वक करना चाहते हैं। लेकिन जे० पी० को फुर्सत न मिल पायी। वे मिले नहीं। व्यग्रता पंडित जी को ही रही। यद्यपि उनकी सरकार पर कहीं से कोई खतरा न था। संसद में उनके दल को अति प्रबल एवं अजेय बहुमत प्राप्त था जबकि सोशलिस्ट सांसदों की संख्या नगण्य थी। देश के समक्ष भी ऐसा कोई संकट उपस्थित न था कि उन्हें मिली-जुली सरकार बनाने की जरूरत पड़ी हो। लेकिन पंडित जी संदेश भेजते रहे। जब फरवरी (सन् 1953) का महीना आया, तब जे० पी० ने प्रधान मंत्री-भवन में पैर रखा। पंडित जी बड़े प्रेम से मिले। सौहार्द और स्नेहसिक्त वातावरण में, भोजनोपरांत जे० पी० से उनकी एकांत-वार्ता प्रारंभ हुई। देश-विदेश की अनेक चर्चाएं चलीं। सामयिक समस्याएं और उनके समाधान पर विचार-विमर्श हुए। मतैक्य और मतभेद के रंग उभरते-मिटते रहे। जे० पी० ने सरकार के रंग-ढंग पर जब असंतोष व्यक्त किया, तो पंडित जी ने उन्हें समझाया : यह ठीक है कि हम लोगों से बड़ी-बड़ी भूलें हुई हैं। समय, शक्ति और साधन के अपव्यय भी बहुत हुए हैं। मगर इसकी वजह यह नहीं कि हम सबके सब बेवकूफ या बेईमान लोग हैं। बल्कि असली वजह तो यह है कि हमें काम का कोई तजुर्बा नहीं था। चुनांचे गल्तियां होती चली गईं। और इसीलिए तो चाहता हूं कि तुम्हें अभी से सरकार चलाने का तजुर्बा हो जाए ताकि आइंदा तुमसे गलतियों की गुंजाइश कम रहे। एक शुभेच्छु और अनुभवी बड़े भाई की भांति पंडितजी ने तब उन्हें यह भी कहा था : ऐसा मत समझना जयप्रकाश ! कि जब चाहो, सत्ता ग्रहण कर लोगे। राजनीति में ऐसा नहीं हुआ करता···

किंतु पंडित जी के सिर पटकने से क्या होता ? विधाता चाहें, तब तो ! विधाता ने जे० पी० के कपाल में अपरिमेय प्रतिष्ठा तो लिख दी थी, पर पद लुप्त कर दिया था। और प्रश्न केवल जे० पी० के ही भाग्य का तो नहीं था—देश के भाग्य का भी था। विधाता देश के भाग्य को एक दूसरे ही ढंग से गढ़ना चाहते थे—नेहरू और जे० पी० की योजनाओं से सर्वथा भिन्न। नहीं तो, नेहरू-जयप्रकाश वार्ता के अंततोगत्वा भंग हो जाने का कोई विवेकसंगत कारण नहीं था। उस संबंध में हुए नेहरू-जे० पी० पत्राचार को जरा सावधानी से पढ़िए, तो स्पष्ट झलक जाएगा कि वार्ता कोई विशेष मतभेद के कारण नहीं, अपितु, नियोजित मतैक्य द्वारा भंग कर दी गई थी। पत्र लंबे न होते, तो पूरे के पूरे अनुदित कर प्रस्तुत कर देता। उनके संक्षिप्त रूप में भी तारतम्य-निर्वाह हो जाए, इस चेष्टा के साथ पत्रानुवाद यों हैं :

(जे० पी० का पत्र)

गया जाने वाली ट्रेन से
4 मार्च, 1953

मेरे प्रिय भाई,

…निस्संदेह, हम एक ऐसे नव समाज की रचना करना चाहते हैं जिसमें शोषण न हो, आर्थिक एवं सामाजिक समता हो, सबको मुक्ति मिले तथा सबका कल्याण हो। इतना ही नहीं, हम लोग अथवा कोई भी समाजवादी, इन लक्ष्यों की प्राप्ति सुदूर भविष्य में नहीं, बल्कि शीघ्राति-शीघ्र करना चाहेगा…

…जो प्रस्ताव आपने मेरे समक्ष रखा, वह निर्भीक और अपूर्व था, क्योंकि कांग्रेस पार्टी को केंद्र अथवा अधिकतर राज्यों में सम्मिलित सरकार बनाने की कोई आवश्यकता न थी। फिर भी, दलगत भावनाओं से ऊपर उठकर आपने राष्ट्रनायक की भांति पग बढ़ाया। मेरी समझ में आपका प्रस्ताव, किसी भी मान्य अर्थ में, संयुक्त संसदीय सरकार गठित करने का नहीं, (बल्कि) एक नवभारत के निर्माण हेतु संयुक्त प्रयास करने का था…मैं समझता हूं, आम जनता यही चाहती है कि उसका हित संपादित करने और भाग्य सुधारने में उसके नेतावृंद दलगत भेद-भाव भूल, परस्पर हाथ बटाएं। यदि हम लोगों ने सम्मिलित प्रयास किए, तो वृहत् जनाकांक्षाएं जाग्रत होंगी, और कहीं हम विफल हुए, यानि हमारे सम्मिलित प्रयास के बावजूद जनता की दशा जैसी की तैसी रह गई, तो उस स्थिति में इतनी घोर निराशा व्याप जाएगी कि तब देश को विप्लव एवं विघटन से उबारा नहीं जा सकेगा…

इसलिए बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हमारा सहयोग मांगने के पीछे आपका प्रयोजन क्या है। यदि इसका अर्थ केवल इतना ही है कि हम में से कुछ लोग केंद्र और कुछ राज्यों के मंत्रिमंडलों में सम्मि-लित कर लिए जाएं ताकि आपकी वर्तमान नीतियों को चलाने में आपका और सरकार का हाथ मजबूत हो सके, तब तो यह प्रयास उपयुक्त नहीं। परंतु प्रयोजन यदि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए एक साहसपूर्ण संयुक्त अभि-यान प्रारंभ करना है, तो निश्चय ही यह एक ऐतिहासिक कार्य होगा। इसी परिप्रेक्ष्य में हमारे कार्यक्रमों की रूप-रेखा बनाई गई है। यह कोई अति-महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम नहीं, और यदि हमने कृतसंकल्प हो प्रयास किए, तो अगले चार वर्षों में वे पूरे कर लिए जा सकते हैं।

सर्वप्रथम, हमने कुछ संवैधानिक सुधार के सुझाव रखे हैं। खासकर मैं तो नहीं समझ पाया कि आपने ऐसे प्राणहीन और रूढ़िवादी संविधान का

अनुमोदन कैसे कर दिया था।...
....

दूसरा, कि संपूर्ण प्रशासकीय प्रणाली का जीर्णोद्धार भी अवश्य किया जाए…राजनैतिक सत्ता और प्रभुत्व का केंद्रीकरण सर्वनाशी हुआ करता है।

भ्रष्टाचार की चर्चा सब करते हैं। इस दैत्य से निबटने के लिए एक कारगर यंत्रावली निर्मित की जानी चाहिए।

उसी भांति कानूनी सुधार की बात लें…एक मामूली आदमी के लिए इंसाफ आज कहीं नहीं है…

मैं यह नहीं कहता कि हमारे पास इन सब के लिए बने-बनाए समाधान मौजूद हैं या हमारे समाधान सर्वोत्तम हैं। लेकिन इन बुराइयों को समाप्त करने के लिए सर्वोच्च स्तर पर ही, दृढ़ निश्चय के साथ, हम अवश्य प्रयास करें।

आप पाएंगे कि हमने दो क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण का सुझाव रखा है: (क) बैंकिंग और इंश्योरेंस (ख) खदान… ....
....

मेरे विचार से हमारे सहयोग के प्रयोजन तथा संभावनाएं, संक्षेप में, यही हैं। यदि आपके भी विचार वैसे ही न हों, तो मैं सादर आग्रह करूंगा कि अपना प्रयास आप बिल्कुल छोड़ ही दें…

…चूंकि, लोगों के बीच इस विषय पर बहुत सारी अटकलबाजियां हो चुकी हैं, इसलिए किसी उपयुक्त अवसर पर आप यह कह दें कि सहयोग के संबंध में आपकी हम लोगों से कुछ बातें हुई थीं, परंतु देश की समस्याओं के प्रति हमारे दृष्टिकोण में भिन्नता के कारण वार्ता समाप्त कर दी गई।

आपका स्नेहाकांक्षी,
जयप्रकाश

(पत्रोत्तर)

प्रधानमंत्री
भारत

नई दिल्ली,
मार्च 17, 1953

मेरे प्रिय जयप्रकाश,

गया से भेजी हुई 4 मार्च की तुम्हारी चिट्ठी कुछ दिनों पहले मुझे मिली। मैंने जवाब इसलिए नहीं दिया कि तुम तो दिल्ली आ ही रहे थे, और हम लोग कल बात भी कर ही चुके हैं।

तुम्हारी चिट्ठी पढ़कर मैंने महसूस किया कि हमारे आधारभूत दृष्टिकोण तो बहुत कुछ एक ही जैसे हैं, लेकिन रास्तों के बारे में हममें फर्क भी हैं। मुमकिन है, ये फर्क कुछ हद तक इस वजह से हों कि समस्याओं को हम भिन्न-भिन्न कोण से देखते हैं। हम जो कुछ चाहते हैं, उनकी एक लिस्ट तैयार कर लेना तो काफी आसान है। (किंतु) उचित प्राथमिकता के अनुसार उन्हें पूरा करना अधिक कठिन है। बहुत सारी बातों को एक ही साथ पूरी करने की कोशिश का नतीजा कभी-कभी यह हो जाता है, कि कुछ भी नहीं हो पाता।

आखिर हमारी पंचवर्षीय योजना, तस्वीर को पूरी तरह देखने और प्राथमिकता निश्चित करने की ही तो एक चेष्टा है। बहुत मुमकिन है, तजुर्बे के साथ योजना में सुधार और परिवर्तन किए जाएं और उन पर पुनर्विचार हो, लेकिन इसका आधार निस्संदेह वही रह जाएगा···

······मुझे इस बात की अनुभूति होती है कि संसार में एक मौलिक गत्यात्मक परिवर्तन हो रहे हैं जो राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि—मानवीय जीवन के प्रत्येक पक्ष को—प्रभावित करने लगे हैं। अधिकतर ये तकनीकी प्रगति के वेग के ही परिणाम हैं। मैं यह नहीं सोचता कि ये सब परिवर्तन भले के लिए ही हैं, लेकिन वे मौजूद हैं। अगर मैं कह सकूं, तो मेरा ख्याल है, इन तब्दीलियों के मुकाबिले हमारे विचार पीछे छूट जाएंगे।

....

तुमने कहा है कि समाजवाद के लक्ष्य तुम्हारे लिए अपरिवर्तनीय रूप में निश्चित हैं और उन लक्ष्यों की तुम्हारी परिभाषा है : एक नए समाज की रचना करना, जिसमें शोषण न हो, जिसमें आर्थिक और सामाजिक समता हो तथा जिसमें सबके लिए मुक्ति और कल्याण हो। निश्चय ही संसार में शायद ही ऐसा कोई समझदार आदमी होगा जो उस लक्ष्य या उन मूल्यों के साथ सहमत न हो। मैं तो निश्चय ही उन्हें पूर्णरूपेण स्वीकार करता हूं। इससे आगे मैं यह भी कबूल करता हूं कि, जहां तक मुमकिन हो, उन्हें जल्द से जल्द हासिल करने की कोशिश करनी जरूरी है। सवाल है, उस ओर हम कैसे बढ़ें, और इस सिलसिले में तभी जिन मानवीय तत्त्वों का हम उपयोग कर रहे हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कई असंदिग्ध तत्त्वों से टकरा जाते हैं। तुम्हारे साथ इस बात पर मैं सहमत होने के लिए तैयार हूं कि सामान्यतः अपने देश, और हमारी नीतियों में भी, अविलंबिता-बोध का अभाव है। मैं उस बोध को प्रगाढ़ करना चाहूंगा।

मैं यह भी कबूल कर लेता हूं कि भले ही मंजिल साफ हो, फिर भी, मेरी नीयत टटोल-टटोलकर, कदम-ब-कदम आगे बढ़ने की रहती है।

लेकिन इन बातों पर मैं बहस करना नहीं चाहता क्योंकि बहस की कोई हद नहीं होती और अक्सर हम उससे कहीं पहुंच नहीं पाते। जब लोग एक-दूसरे को समझते हों, भले ही उनमें कुछ मतभेद हों, तो उन्हें किसी विलक्षण तर्क की आवश्यकता नहीं हुआ करती।

तुमसे तथा कृपलानी जी और नरेन्द्र देव के साथ बात करने का मेरा प्रयोजन यह था कि अपने कार्यकलापों के लिए, जितनी अधिक मात्रा में सहयोग संभव हो सके, हम प्राप्त करें। साथ ही उस अविलंबिता-बोध को भी जाग्रत करना तथा अपने गंतव्यों का स्पष्टीकरण करना भी मेरा अभीष्ट था···

···जाहिर है, यह सब मैंने इस ख्याल से भी किया कि इस मुल्क में हमें बड़े काम करने हैं और उनके लिए हमें साथ मिलकर कोशिश करनी है। अगर मैं कह सकूं तो, अपनी तरक्की की रफ्तार से मुझे खुद भी तसफ्फी नहीं। मैं इसे तेज करना चाहता था और इसे करने में तुम्हारी मदद चाहता था।

इसे करने का कोई मौजूं तरीका भी मैं नहीं सोच पाया था ··मैंने महसूस किया कि सहयोग की आवश्यकता का पारस्परिक-बोध हो जाए, तो अन्य बातें उसी से निकल आएंगी। जब तुमने और कृपलानी जी ने मुझे सुस्पष्ट ढंग से कुछ कहने को कहा, तो मैंने कहा था कि इस प्रश्न पर सार्वजनिक और सरकारी, सभी स्तरों पर विचार करने को मैं तैयार हूं···

···तुमने कार्यक्रम का प्रारूप मुझे भेजा है* जिनमें दूसरी बातों के अलावा, मौलिक संवैधानिक परिवर्तनों की भी बात है। अब यह भी स्पष्ट है कि इन परिवर्तनों को लाना मेरे लिए आसान नहीं है, भले ही मैं उनके विरुद्ध न होऊं। तुमने कानून, विधि-प्रक्रिया और राज्यों के पुनर्गठन आदि अन्य कई प्रकार के परिवर्तनों की बात की है। इन सबके बारे में, अलग-अलग विचार करने पर, मुझे कोई विशेष आपत्ति तो नहीं है, और उनकी ओर ध्यान देने में मुझे प्रसन्नता ही होगी। लेकिन, प्रधानमंत्री और कांग्रेस अध्यक्ष, दोनों ही हैसियत में यह मेरे बूते के बाहर की बात है कि ऐसे अहम सवालों का मैं खुद ही निबटारा कर दूं और उनके बारे में भरोसा दिलाऊं। तर्क के आधार पर उनमें से कुछ बातें न्यायोचित हो सकती हैं, फिर भी कई ऐसी अड़चनें हैं जो रास्ता रोक देती हैं। साथ ही यह बात भी है कि कोई आदमी बहुत मुश्किल से ही उन्हें इकट्ठे, एक साथ छू सकता है।

··· ··············· ·· ··········

*नोट : जे० पी० ने अपने पत्र के साथ चौदह-सूत्री कार्यक्रम का प्रारूप भी पंडित जी को भेजा था।

इस महीने की 20 तारीख को उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमिटी तथा कांग्रेस कमिटियों के कुछ पदाधिकारियों के समक्ष मेरठ में मैं भाषण करने वाला हूं। उस अवसर का लाभ उठाकर इस विषय पर वहां मैं कुछ बोलूंगा। मैं अलग से नोट कर ले रहा हूं कि मुझे क्या कहना है।

सस्नेह तुम्हारा,
जवाहरलाल

पत्राचार तो आवरण मात्र था। बात की जड़ कहीं और थी। उनका कोई उल्लेख पत्रों में न तो किया गया है, और न किया ही जा सकता था।

(उपर्युक्त पत्र पंडित जी ने 17 मार्च को लिखा। उस से एक दिन पहले जैसा कि पत्र में संकेत है) अर्थात 16 मार्च को, सहयोग-प्रस्ताव के सिलसिले में जे० पी० ने पंडित जी से अंतिम बार भेंट की। उसी भेंट में बची-खुची अंदरूनी बातें हुईं और जे० पी० ने शायद यह सुझाव भी दिया कि पंडित जी उन्हें एक पत्र लिख कर सारी बातें लीप-पोत दें। दोनों नेताओं की आपस में पहले भी राय हो चुकी थी कि बातों को जनता के सामने कब और कैसे रखना है। यह तो पत्र पढ़ने से भी पता चल जाता है, क्योंकि जे० पी० ने अपने 4 मार्च के पत्र में लिखा है : "किसी उपयुक्त अवसर पर आप यह कह दें कि सहयोग के संबंध में आपकी हम लोगों से कुछ बातें हुई थीं, किंतु देश की समस्याओं के प्रति हमारे दृष्टिकोण में भिन्नता के कारण वार्ता समाप्त कर दी गई," और पंडित जी ने लिखा : "मेरठ में मैं भाषण करने वाला हूं, उस अवसर का लाभ उठा कर इस विषय पर वहां मैं कुछ बोलूंगा। मैं अलग से नोट कर ले रहा हूं कि मुझे क्या कहना है।" उसी भेंट और बात-चीत के अगले दिन, अर्थात् 17 मार्च को, पंडित जी ने जे० पी० को पत्र लिखा, जिसे ऊपर आप पढ़ चुके हैं। उस दिन भी जे० पी० दिल्ली में ही थे। कल होकर इस विषय पर अखबारों में पंडित जी का एक बयान भी आया। अपने वक्तव्य के प्रारंभिक भाग में सोशलिस्ट नेताओं के प्रति पंडित जी ने अपने उद्‌गार प्रकट किये और कहा : "…उनके लिए मेरे मन में जो सम्मान और स्नेह है, उसमें इस बात से कोई अड़चन नहीं हुई कि अब वे कांग्रेस में नहीं हैं, और अन्य दल के सदस्य होने के नाते, उन्होंने अक्सर कांग्रेस का विरोध भी किया है। वे न केवल हमारे पुराने साथी हैं, बल्कि भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम के परीक्षित सेनानी भी हैं…"

अगले दिन, 19 मार्च को, जे० पी० ने भी दिल्ली में ही एक वक्तव्य प्रसारित किया। आश्चर्य की बात तो यह है कि नेहरू जी और जे० पी०, दोनों ही ने अपने-अपने वक्तव्य में एक ही स्वर में स्वीकारा था कि उनके विचार और दृष्टिकोण में यथेष्ट एकरूपता है। जे० पी० ने कहा : "हमारी वार्ता में व्यापक

मतैक्य प्रकट हुआ···" और पंडित जी ने कहा था, "···मैंने पाया, जो मैं पहले से ही जानता था, कि हम में बड़ा व्यापक मतैक्य है···" फिर भी वार्ता भंग हो गई ! क्यों ? यह भेद भी खुल ही जाएगा।

जहां तक पत्राचार का संबंध है, उसके पीछे मानस यह था कि बातों को 'रेकॉर्ड' पर ला दिया जाए ताकि अपने-अपने हित और सुविधा के अनुसार भविष्य में उनका कभी कोई उपयोग भी किया जा सके।

'मेरिट' (गुणवत्ता) की दृष्टि से पंडित जी का पत्र काफी तगड़ा था—अनुभव-सिक्त कहिए। अनुभव के साथ ही, उनके इतिहास-बोध और विज्ञानानुराग की भी स्पष्ट झलक पत्र में थी। समाजवाद के गंतव्य और मूल्यों के संबंध में जे० पी० और पंडित जी में भेद ही कहां था। जे० पी० के समाजवाद की परिकल्पना से, पंडित जी के शब्दों में—"निश्चय ही संसार में शायद्र ही ऐसा कोई समझदार आदमी होगा जो उस लक्ष्य या उन मूल्यों के साथ सहमत न हो। मैं तो निश्चय ही उन्हें पूर्णरूपेण स्वीकार करता हूं," हां, अपने लम्बे राजनैतिक संघर्ष और साधना के परिणामस्वरूप पंडित जी ने समग्र जीवन के प्रति जो अभिवृत्ति (अैटीट्यूड्) विकसित कर लिया था, उसी के प्रभाववश वे कहते थे, "भले ही मंजिल साफ हो, फिर भी मेरी नीयत टटोल-टटोल कर, कदम-ब-कदम आगे बढ़ने की रहती है।" देश की अनेक समस्याओं का कोई असंदिग्ध समाधान यदि पंडित जी के पास नहीं था, तो जे० पी० ने भी तो वही लिखा—"मैं यह नहीं कहता कि हमारे पास इन सब के लिए बने-बनाए हल मौजूद हैं या हमारे समाधान सर्वोत्तम हैं।" जहां तक पंडित जी की नीयत का सवाल है, जब जे० पी० ने स्वयं ही महसूस किया था : "जो प्रस्ताव मेरे समक्ष आपने रखा, वह निर्भीक और अपूर्व था···दलगत भावनाओं से ऊपर उठ कर आपने एक राष्ट्रनायक की भांति पग बढ़ाया···मेरी समझ में आपका प्रस्ताव एक नए भारत के निर्माण के लिए संयुक्त प्रयास करने का था···" तब फिर पंडित जी की मंशा और उदात्त भावनाओं पर भला शंका ही किसे हो सकती थी ! और जे० पी० ने यह जो कहा था कि देश और सरकार की नीतियों में अविलम्बिता-बोध (सेंस आफ अरजेंसि) का अभाव है, तो उसे पंडित जी स्वयं भी तो स्वीकार करते ही थे। देश की उन्नति की रफ्तार से उन्हें स्वयं संतोष नहीं था और उसी रफ्तार को तेज करने के इरादे से ही तो उन्होंने अपना प्रस्ताव जे० पी० के सामने रखा था और उनकी मदद मांगी थी। हां, कहने और करने में जो व्यावहारिक अंतर हुआ करता है, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान पंडित जी को ही था, जे० पी० को नहीं। क्योंकि करने का कोई अवसर जे० पी० को कभी मिल ही न पाया था। और यह भी उल्लेखनीय है कि अपनी पार्टी की ओर से उन दिनों जे० पी० ने पंडित जी के समक्ष जो चौदह-सूत्री कार्यक्रम रखा था, उनमें से अधिकतर को, धीरे-धीरे ही सही, कांग्रेस सरकार ने अपनाया और

लागू किया। पंडित जी के समय से लेकर इंदिरा जी के शासन काल तक, सरकार द्वारा समाजवाद की दिशा में जो भी पग उठाये गए, उनमें से अधिकतर वे ही तो हैं जिन्हें जे० पी० और उनके समाजवादी साथियों ने अपने चौदह-सूत्री कार्यक्रम में पंडित जी के समक्ष प्रस्तुत किया था :

इंश्योरेंस, बैंक, खदान आदि के राष्ट्रीयकरण; प्रिवि पर्सेज़ की समाप्ति, देशी नरेशों और आई० सी० एस० की गारंटियों की समाप्ति, सीलिंग ऐक्ट, बेदखली इत्यादि, इत्यादि।

निस्संदेह, सोशलिस्ट पार्टी, जे० पी०, लोहिया और उनके साथियों ने देश में समाजवाद की हवा फैलाने का काम जरूर किया, लेकिन उसे कुछ ठोस रूप देने का श्रेय कांग्रेस, जवाहरलाल नेहरू और इंदिरा गांधी को ही जाएगा। पंडित जी ने कितना ठीक कहा था—"सहयोग की भावना का पारस्परिक-बोध हो जाए, तो अन्य बातें उसी से निकल आएंगी।"

पत्राचार के प्रसंग में बस एक बात और एक किस्सा और कह देना चाहता हूं। संवैधानिक सुधार के बिन्दु पर जे० पी० ने अपने पत्र में पंडित जी से यह शिकायत की कि कैसे उन्होंने एक प्राणहीन और रूढ़िवादी संविधान का अनुमोदन कर दिया था। पंडित जी ने उत्तर तो दिया, लेकिन एक मेहरबानी कर दी कि जे० पी० को उन्होंने यह याद नहीं दिला दिया कि संविधान को प्राणवान और प्रगतिशील बनाने के लिए ही तो वे इस बात के लिए व्यग्र थे कि जे० पी० भी संविधान सभा में सम्मिलित हो जाएं। उस समय तो जे० पी० ने किसी की न सुनी थी और अब वे चाहते थे कि एक ही झटके में ढेर सारे परिवर्तन कर दिए जाएं!

किस्सा फ्रांसीसी राज्य क्रांति के दिनों का है, किंतु घटना-स्थल है, रूस। फ्रांस के दार्शनिक दिदॅरा ने राजकीय सुधार संबंधी अपनी विशद-योजना जब रूस की सम्राज्ञी कैथेराइन के समक्ष रखी, तो सम्राज्ञी ने उससे कहा : "आह, मेरे मित्र! आप तो कोरे कागज पर लिखते हो न, जिसकी चिकनी सतह आपकी कलम के लिए कोई रुकावट पैदा नहीं करती। लेकिन मुझ बेचारी महारानी को तो अपनी प्रजा की वैसी त्वचा पर लिखना पड़ेगा जो अत्यधिक संवेदनशील और रोमांचकारी है।"

वार्ता आखिर भंग क्यों हो गई, यह भेद तो पूरी तरह से खुला नहीं। हां, एक बात मैंने जरूर सुनी थी। लोहिया और कृपलानी जी को अपने मंत्रिमंडल में

सम्मिलित करने के लिए पंडित जी बिल्कुल तैयार न थे। लोहिया को इसलिए कि, 'वह थॉरोली अनमैनिजबॅल (बिल्कुल बेलगाम) हैं' और कृपलानी जी को इसलिए कि वे 'इक्सट्रीमली पीविश (आत्यंतिक कर्कश) हैं।' लोहिया जी की 'पंडत' से और पंडित जी की राममनोहर से चिढ़ पुरानी थी। शायद 'आनन्द-भवन' के दिनों से ही, जब पंडित जी ने उन्हें वैदेशिक मामलों का सचिव बना कर अपने साथ रखा था। लोहिया जी में कई भयंकर ऐब थे। एक ऐब यह भी था कि जब किसी के पीछे पड़ते थे तो हाथ धोकर पड़ते थे। उस स्थिति में उन्हें भला-बुरा, मान-मर्यादा, किसी बात का कुछ ख्याल ही नहीं रह जाता था। पंडित जी के पीछे भी वे वैसे ही पड़े रहे। वैसे, एक बार जब मैंने उनसे पूछा, "डाक्टर साहब ! पंडित जी के खिलाफ इतने शगूफे आप कहां से छोड़ते हैं ?" तो उन्होंने मुझे बताया—"अरे ! सब उन्हीं के आदमी लोग मुझको बता जाते हैं। गढ़ कर मैं कुछ थोड़े ही कहता हूं। और एक भी बात गिनाओ जो मेरी कही गलत निकली हो।" उसी समय उन्होंने विलायत में इंदिरा जी की शिक्षा-दीक्षा के बारे में भी मुझे कुछ बातें कही थीं, खैर।

मई या जून '46 में, जब पंडित जी कांग्रेस अध्यक्ष चुने गए थे, तो अपनी वर्किंग कमिटी में सोशलिस्टों को वे महामंत्री पद के अतिरिक्त दो और स्थान देना चाहते थे। जे० पी० और लोहिया हाल ही में जेल से छूटे थे। उन्होंने दोनों को बुलाया। वे दोनों तीन बार उनसे मिलने गए। लोहिया जी को नेहरू से तो चिढ़ थी ही, उन दिनों जे० पी० से भी वे चिढ़े रहते थे। नागार्जुन सागर में आयोजित 'समाजवादी शिक्षण-शिविर' में लोहिया जी ने स्वयं ही लोगों को बताया था : "सच पूछो तो हमारा-उनका (जे० पी० का) मनमुटाव इतना जबरदस्त हो चला था कि हम जब तीन दफे गए नेहरू जी के यहां तो आपस में बिल्कुल बात नहीं हुई कि क्या करना है।"

चिढ़ के कई कारण थे। एक कारण तो शायद यह रहा हो कि अगस्त-क्रांति के बाद '46 में जब वे दोनों जेल से निकले, तो यशोगान जे०पी० का ही ज्यादा होने लगा था। काम तो दोनों ही ने बराबर-बराबर किया था, मगर नाम जे० पी० ज्यादा लूट ले गए। जनता की नजर जे० पी० पर ही ज्यादा बरसने लगी थी और नेहरू जी की नजर तो उन पर पहले से ही रहा करती थी। स्पष्ट था कि कांग्रेस महामंत्री का पद जे० पी० को ही प्राप्त होता और यदि अंग्रेजों की ओर से सत्ता सचमुच भारतीयों को हस्तांतरित कर दी जाती, तो यह भी तय था कि कांग्रेस अध्यक्ष ही प्रधान मंत्री बनाए जाते। सो, लोहिया जी ने पंडित जी के सामने तीन शर्तें रखीं : एक कि कांग्रेस का सभापति, अंग्रेजी सरकार जो भी मंत्रिमंडल बनाएगी, उसमें मंत्री नहीं रहेगा। दूसरा, कि कांग्रेस की कार्य-कारिणी के जो सदस्य होंगे, वे मंत्री नहीं रहेंगे। तीसरा, कि कांग्रेस संगठन अपने

मंत्रियों की सद्भावनापूर्ण आलोचना कर सकेगा। उन तीनों में अंतिम शर्त तो अहिंसक थी, सो नेहरू जी मान गए। लेकिन पहली और दूसरी शर्त से उनकी अपनी ही हिंसा हो जाती, इसलिए चाल समझ कर वे नहीं माने। तो लोहिया जी भी उठ कर चल दिए। अड़चन पड़ गई। महीने-दो-महीने बाद, पंडित जी ने जे० पी० को अकेले बुलाया और उन्हें राजी कर कांग्रस का महामंत्री बना दिया। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में जे० पी० के विरुद्ध अंदर ही अंदर बहुत काना-फूसी, शिकवा-शिकायत हो गई कि अकेले ही चले गए। इस क्रोध को लोहिया जी बहुत दिनों तक ढोते रहे।

सारी बातों को ठीक से समझने के लिए कांग्रेस और सोशलिस्ट नेताओं का राजनीतिक समीकरण भी समझ लेना आवश्यक होगा: कांग्रेस के दो प्रतिस्पर्धी सारथी थे—नेहरू और पटेल। उधर सोशलिस्टों में विद्वत्ता, सम्मान, प्रसिद्धि आदि दृष्टि से वैसे थे तो कई नेता—आचार्य नरेन्द्र देव, अच्युत पटवर्धन, मीनू मसानी, युसूफ मेहर अली, अशोक मेहता; मगर व्यापक लोकप्रियता के कारण चुम्बकीय ध्रुव दो ही थे, जयप्रकाश नारायण और डॉ० राममनोहर लोहिया। आचार्य जी और मसानी साहब को छोड़ कर, बाकी सब में आपसी खींचा-तानी चला करती थी; खासकर जे० पी० और लोहिया में। उन दोनों के मनमुटाव का जो हाल था, वह तो आपने खुद लोहिया जी की जबान से ही सुन लिया। जे० पी० को सरदार पटेल से 'एलर्जी' थी, तो लोहिया को नेहरू से। नेहरू-पटेल प्रतिस्पर्धा में जे० पी० जब नेहरू के समर्थक थे, तो स्वाभाविक ही था कि पटेल के लिए लोहिया का मन मुलायम हो। हालांकि लोहिया जी ने खुल कर कभी पटेल का पक्ष नहीं लिया क्योंकि, लोहिया प्रगतिशील सोशलिस्ट विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे और पटेल अनुदारवादिता के प्रतीक रहे। एक 'फायर ब्रैंड सोशलिस्ट' के लिए 'आइस-कोल्ड कंजरवेटिव' की खुली हिमायत कितनी असंगत और हस्यास्पद बात हो जाती। अंदर मन की धारा भले ही उस ओर मुड़ जाया करे। हिंदुस्तान को आजादी मिलेगी, तो बिल्कुल साफ था कि प्रधान-मंत्री नेहरू या पटेल, उन्हीं दोनों में कोई होगा, तीसरा नहीं। राजनीति की मोटी समझ रखने वाला आदमी भी यह बात जानता था। सो, सन् '46 में, जब स्वतंत्रता के संभावित शुभागमन का समाचार हवा में तैरने लगा था और 'पावर-पॉलिटिक्स' की रण-नीति अंदर-अंदर निर्धारित की जाने लगी थी, तो वैसी घड़ी में कांग्रेस-अध्यक्ष नेहरू के सामने रखी गई शर्तों के पीछे लोहिया जी का क्या इरादा रहा होगा? इसलिए, '53 में बात-चीत के लिए पंडित जी ने पहले जे०पी० को ही अकेले बुलाया। बात आगे बढ़ी तो और लोग भी शरीक हुए—कृपलानी जी, नरेन्द्र देव, शायद अशोक मेहता भी। लेकिन, अपनी ओर से पंडित जी ने लोहिया साहब को न तो बुलाया, और न ही वे कभी गए।

जे० पी० को लगा कि लोहिया को छोड़ कर वे स्वयं सरकार में शामिल हो जाएं, तो '46 वाली घटना की पुनरावृत्ति हो जाएगी। लांछना-भय से वे सहम गए। पंडित जी का प्रस्ताव स्वीकार कर लेने के पक्ष में जे० पी० ने लोहिया जी के सामने तर्क तो बहुत किए किन्तु उन्हें असली बात बताई नहीं कि पंडित जी अपने मंत्रिमंडल में उन्हें लेने को बिल्कुल तैयार नहीं हैं। लोहिया जी से उन्होंने यही कहा कि तुम लोग तो सरकार में जाओ, मैं बाहर रह कर ही काम करूंगा। लोहिया जी को गुस्सा आया, बोले : तुमने यह क्या तरीका चला रखा है कि लोगों को तो ठेल देते हो और खुद दूर जा खड़े होते हो। चुनाव में भी यही सब किया था। सब को झोंक दिया और आप बाहर रह गए। अंदर चलना है, तो साथ चलो; नहीं तो बाहर मिल कर कांग्रेस को तोड़ो।

वैसे लोहिया जी की अपनी समझ यह थी कि अभी सरकार में जाना ही नहीं चाहिए। क्योंकि कांग्रेस के साथ सरकार चला कर कुछ किया नहीं जा सकेगा। जनता की हालत जैसी की तैसी रह जाएगी। उससे लोगों को गुस्सा आएगा, सोशलिस्टों पर से भी भरोसा उठ जाएगा और आगे का रास्ता बिल्कुल बंद हो जाएगा। इसलिए वे उस वक्त तक इंतजार करना चाहते थे जब कांग्रेस अपने गलत रास्तों पर चलते-चलते खुद टकराकर गिर न पड़े। वार्ता तो भंग हो ही गई, जे०पी०-लोहिया मैत्री भी कुछ काल के लिए भंग रही। जे०पी० धीरे-धीरे प्रजा सोशलिस्ट पार्टी से ही नहीं, दलगत राजनीति से भी विलग हो गए। कालक्रम में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी में ही विलगाव की स्थिति उत्पन्न हो चली। पार्टी ने लोहिया जी पर अनुशासनिक कार्रवाई करते हुए उन्हें दल से ही निकाल दिया। उन्होंने अपनी अलग पार्टी बना ली। कुछ जानकार लोग तो कहते हैं, लोहिया जी को निष्कासित करने के प्रस्ताव का मसविदा जे० पी० ने ही तैयार किया था। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी जब तक कायम रही, राजनीति से विलग होते हुए भी जे० पी० उसके 'गॉड-फ़ादर' रहे थे।

यह भी एक गहन शोध का विषय है कि जे० पी० स्वयं कभी सत्ता में जाना चाहते थे या नहीं। उनके वचन और कर्म से तो यही लगता है कि वे सत्ता संभालना नहीं चाहते थे। वे तो सत्ता की छाया से भी दूर भागते रहे : संविधान सभा में नहीं गए। कभी चुनाव नहीं लड़े। सरदार का सुझाव ठुकरा दिया। पंडित जी का आग्रह टाल गए। तो फिर राजनीति क्यों करते थे ? अपने भाषणों और लेखों में अनेक बार इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने दिया होगा। सब संकलित किए जाएं तो राजनीति-दर्शन का एक उत्कृष्ट महाकाव्य बन निकले। जे० पी० में उतना पांडित्य, उतनी प्रखर बौद्धिक कल्पना-शक्ति तो थी ही कि विचारों का एक सुखद स्वप्नलोक सृजित कर लें; 'लोकनीति' का एक आदर्शलोक गढ़ कर देश-विदेश के लोगों को लुभा दें। फिर भी, अनेक वर्षों तक जब कभी देश में यह

प्रश्न उभरा--'नेहरू के बाद कौन ?' तो लोग बरबस जे० पी० की ओर ही देखने लगते थे। प्रधान मंत्री बनने के छह मास के अंदर स्वयं पंडित जी ने भी रेडियो पर बोलते हुए जे० पी० के बारे में कहा था, "···मुझे विश्वास है कि समय आएगा जब भारत के भाग्य को स्वरूप देने में वे बड़े महत्त्व का भाग लेंगे।" जे० पी० भी बीच-बीच में सत्ता ग्रहण करने की संभावना सूचित कर ही देते थे :—

लंदन में (सन् '58) जब 'गार्डियन' के संवाददाता ने जे० पी० से सत्ता राजनीति में पुनः प्रवेश की संभावना के संबंध में पूछा, तो उन्होंने कहा—'मैं कोई पलायनवादी नहीं। देश-हित में यदि आवश्यक हुआ, तो सत्ता भी ग्रहण कर सकता हूं।' सत्ता की सुसुप्ताकांक्षा उनके अन्तर्मन का पट खोल, कभी-कभी सकुचाती हुई बाहर भी झांक जाया करती थी। वैसे ही एक बार पटना लॉन की जनसभा में बोलते हुए लोहिया जी ने जब कहा : "आप लोग एक सवाल उठाते हो कि पंडित जवाहरलाल नेहरू के बाद कौन ? कोई उनके जैसा प्रधानमंत्री हो सकता है क्या ? मैं जानता हूं कि कई लोग हैं। लेकिन एक को तो मैं अभी बता सकता हूं।" इतना कह कर मंच पर बगल में बैठे जे० पी० की ओर इंगित करते हुए उन्होंने आगे कहा, "यह तो पंडित जवाहरलाल नेहरू से भी ज्यादा अच्छा प्रधानमंत्री बन सकता है···" जोरों की ताली पिटी। लोहिया जी ने पलट कर देखा—जे० पी० मुस्कुरा रहे थे।

एक घटना मुझे फातिमी चाचा ने भी सुनाई थी। (स्वर्गीय अहद फातिमी साहब जे० पी० के बहुत करीबी लोगों में थे) उन्होंने मुझे बताया कि डॉ० जाकिर हुसैन साहब जब राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार बने तो उनके समर्थन में जे० पी० ने संसद तथा विधान सभाओं के सदस्यों के नाम अपना एक पत्र प्रसारित किया जिसके मूल प्रारूप में प्रसंगवश उन्होंने यह भी लिखा था कि वे स्वयं कभी किसी पद के लिए चुनाव नहीं लड़ेंगे। टाइप में जाने से पहले उनके एक विश्वास-भाजन ने उस वाक्य की ओर उनका ध्यान खींचते हुए जब यह कहा कि इस स्थल पर अनावश्यक आप ऐसी प्रतिज्ञा क्यों कर रहे हैं, तो जे० पी० ऊपर सिलिंग की ओर देखने लगे। कुछ क्षण तो वे चुप रहे, फिर थोड़ा मुस्कुराए और बोले—"अच्छा, तो इसे काट दो।"

राजनीति से हट जाने के बाद भी जे० पी० दलगत राजनीति की व्यूह-रचना में जुट ही पड़ते थे। सन् '57 के आम चुनाव के वक्त उन्होंने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का कम्युनिस्ट तथा अन्य विरोधी दलों के साथ ताल-मेल कायम करवाने में बड़ी दिलचस्पी ली थी। तिब्बत, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया के प्रश्न को लेकर उन्होंने भारत सरकार की भी विदेश-नीति पर जैसा कड़ा प्रहार किया, उससे अन्तर्राष्ट्रीय जनमानस भी आंदोलित हो उठा था। पंडित जी की नीतियों

बोध पंडित जी को भी सत्ता में आने के बाद ही हो पाया था। और इसीलिए वे चाहते थे कि जे० पी० सत्ता-संचालन का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कर लें ताकि आगे "देश के भाग्य को स्वरूप देने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान" हो सके।

भारत के पिछले कुछ हजार वर्षों के इतिहास में चलें, तो आप चरमोत्कर्ष के चार ही युग पाएंगे : मौर्य काल, गुप्त काल, मुगल काल, और ब्रिटिश काल। उस कालावधि में जो चतुर्दिक उन्नत्ति और विकास हुए, अथवा राज्य सुदृढ़ और सबल बन पाया उसका एक प्रबल कारण, मेरी समझ में, यह था कि उन दिनों काफी लम्बे समय तक कुशल प्रशासकों का एक क्रमबद्ध सिलसिला चलता गया। मौर्य वंश में—चंद्रगुप्त, बिंदुसार, अशोक; गुप्तवंश में—चंद्रगुप्त समुद्र-गुप्त, विक्रमादित्य, कुमारगुप्त, स्कंधगुप्त; मुगल वंश में—बाबर, अकबर जहांगीर, शाहजहां, औरंगजेब तथा ब्रिटिश काल में—क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्स, कार्नवालिस, वेलेज़ली, हेस्टिंग्स, बैंटिक, हार्डिज, डलहौज़ी आदि एक के बाद एक योग्य प्रशासक आते गए जिन्होंने राजकाज को सुव्यवस्थित कर उत्तम प्रशासकीय परंपराओं का निर्माण और निर्वाह किया। पूर्ववर्ती प्रशासक जितना रास्ता तय कर चुके थे, उनके अनुभव एवं उपलब्धियों से समृद्ध और सबल बन कर उत्तरवर्ती प्रशासक उससे और आगे बढ़े। और इस तरह एक अनवरत अभियान चला जिसमें निरंतर प्रगति और विकास होता गया। सभ्यता या संस्कृति किसी एक व्यक्ति की देन नहीं हुआ करती। वह तो विकास का एक उत्तरोतर क्रम है जिसमें बारी-बारी से अनेक सिद्ध-पुरुष अपना योगदान कर जाते हैं। एक 'रिले-रेस' समझिए। स्वाधीन और लोकतांत्रिक भारत में सुदृढ़ और स्वस्थ राजनैतिक एवं प्रशासकीय परंपराओं की स्थापना के लिए भी यह आवश्यक था कि इस देश को एक लम्बे काल तक नेहरू जैसे कुशल और यशस्वी प्रधान मंत्री उपलब्ध होते रहते। जे० पी० उसी श्रृंखला की एक शानदार कड़ी होते। यह तो मात्र संयोग और सौभाग्य की बात थी कि पंडित जी के बाद (स्वर्गीय) लाल बहादुर शास्त्री अपने अति-अल्प कार्यकाल में ही लोगों को चकित कर अपनी कीर्ति-पताका गाड़कर चले गए। वह तो एक नितांत आशातीत, किंतु गौरवपूर्ण लघु-अध्याय हैं। और शुरू में इंदिरा जी भी जब प्रधान मंत्री बनी थीं, तो लोगों को बिल्कुल ही आशा न थी कि इतने विशाल देश और प्रशासन तंत्र को संभाल ले चलने में वे सफल हो पाएंगी। परन्तु, उन्होंने तो लोगों को अत्यधिक विस्मित कर दिया। विपक्षी चाहे जो कहें, किंतु इंदिरा जी की गणना विश्व के इने-गिने कुशल एवं सशक्त प्रधान मंत्रियों में की जाती है; की जाएगी। कोई स्वयं को या लोगों को धोखे में रखना चाहे तो भले ही इस बात से इंकार करे। हां, मुझ जैसे लोगों को भी इतना अफसोस जरूर है कि इतने निपुण और शक्तिसम्पन्न प्रधानमंत्री से भी देश को अनेक वांछित लाभ न हो पाए। और जिसे राजनीतिक संस्कृति कहते

हैं; उसका अधोपतन तो इंदिरा जी बिल्कुल रोक ही न पाईं।

लोकतंत्र में जितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका, जितना उत्तरदायित्व सत्तापक्ष का होता है, उससे कम प्रतिपक्ष का नहीं। जे० पी० यदि प्रतिपक्ष को ही सबल और मर्यादित बनाते, तो भी भारत के भाग्य को संवारने में उनका अति महत्त्वपूर्ण योगदान हुआ होता। सत्ता-लिप्सा से मुक्त उनके जैसा समृद्ध व्यक्तित्व वाला नेता, जिसमें उतनी 'मास-अपील' थी, अंतर्राष्ट्रीय जगत में जिसका उतना व्यापक व्यक्तिगत सम्पर्क, सम्मान और नाम था; किसी भी राजनीतिक दल के लिए स्वयं ही कितनी बड़ी पूंजी थे। गांधी जी कांग्रेस को अनुशासित, संगठित और शक्तिशाली इसलिए भी तो बना पाए थे कि उन्हें स्वयं सत्ता की कामना नहीं थी। सब जानते थे, वे नितांत नि:स्वार्थ और निर्लिप्त भाव से राजनीति कर रहे हैं। इस बात ने उन्हें ऐसी विशिष्टता प्रदान कर दी थी कि कांग्रेस का 'चरनिया मेम्बर' भी नहीं होते हुए वे 'हाई कमांड आफ़ दि हाईकमांड आफ दि कांग्रेस' माने जाते रहे। कांग्रेस संगठन के अंदर वे एक ऐसी नैतिक शक्ति के रूप में विराजमान रहे, जिसके समक्ष बड़े से बड़े कांग्रेसी नेता को झुक जाना पड़ता था। कांग्रेस के अंदर परस्पर-विरोधी तत्त्वों को एकजुट रखने और साथ ले चलने में गांधीजी इसलिए भी सफल हो पाए कि स्वतंत्र भारत का राष्ट्रपति या प्रधान मंत्री बनने की कोई महत्त्वाकांक्षा उनमें कभी नहीं रही। जे० पी० ने भी यदि यही तय कर लिया था कि वे स्वयं कभी सत्ता ग्रहण नहीं करेंगे, तो प्रतिपक्ष के लिए वे कितनी अमूल्य-निधि थे। देश का प्रतिपक्ष आज यदि संगठित, अनुशासित, मर्यादित और सशक्त रहा होता, तो भविष्य की ओर से तो हम निश्चित रहे होते।

लोहिया जी ने भी बड़ी-बड़ी भूलें कीं, लेकिन वे मैदान छोड़ कर नहीं भागे। उनके अथक प्रयास का परिणाम '67 में निकला जब देश के आठ राज्यों में कांग्रेस पराजित हुई और संविद सरकारें बनीं। हालांकि, अभूतपूर्व सफलता की उस महत्त्वपूर्ण घड़ी में भी, मेरी समझ में, उनसे भूल हो गई। बिहार के चुनाव परिणाम आने के तुरंत ही बाद वे पटना आए। गांधी मैदान की विशाल सार्वजनिक सभा में 27 फरवरी की संध्या को उन्होंने अपने दल के पूर्व वक्ताओं की अनेक वैसी घोषणाओं का जोरदार समर्थन कर दिया जिनका उपस्थित जन-समुदाय ने तो करतल ध्वनि से शानदार स्वागत किया, लेकिन मुझे उसी क्षण आशंका हो गई, इससे पराजित कांग्रेसी लोग—जिनकी शक्ति अब भी शेष थी—आतंकित हो उठेंगे और अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए वे पुराना पारस्परिक वैर भूल, एकजुट हो मोर्चे पर जा डटेंगे। एक प्राचीन शास्त्रोक्त नीति है—पराजय में धैर्य और विजय में सदाशयता रखनी चाहिए।

सभा समाप्ति के कुछ देर बाद मैं प्रिंसेज होटल में लोहिया जी से मिला और

उन्हें समझाने की कोशिश की। वे जल्दी में थे इसलिए भी मुझसे कहा, "तुम भोला[1] से बात कर लेना।" मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने उनसे कहा, "डाक्टर साहब ! जो बात आप सुनने-समझने को तैयार नहीं उसे भोला जैसे लोगों से कह कर क्या फायदा ! मैं उन्हें इस लायक नहीं समझता।" लोहिया जी की गाड़ी चल पड़ी और मैं भी प्रेस की ओर निकल पड़ा। उस रात मैंने जो बयान प्रसारित किया वह भी अगली सुबह 28 फरवरी '67 को बिहार के एक प्रमुख हिन्दी दैनिक, 'प्रदीप', में बड़ी प्रमुखता के साथ छपा। जो बातें मैंने लोहिया जी से कही थीं, वे ही सारी बातें बयान में भी थीं; जिनके कुछ अंश उद्धृत कर देता हूं: –

> ···चौथे आम चुनाव के जो परिणाम प्राप्त हुए हैं, उनसे देश के आठ राज्यों में कांग्रेसी शासन समाप्त हो रहा है और विरोधी दलों को एक मिली-जुली सरकार गठित करने का अवसर प्राप्त हो गया है। बिहार वैसे ही आठ राज्यों में एक है। निर्वाचकों ने इस राज्य में जहां एक ओर कांग्रेस को अपनी शक्ति पर सरकार गठित कर लेने में असमर्थ कर दिया है, वहीं दूसरी ओर किसी भी विरोधी दल को इतनी संख्या में नहीं भेजा है कि वे अकेले अपनी सरकार बना कर अपने दल की नीतियों और कार्यक्रमों को क्रियान्वित कर सकें···
>
> इस संदर्भ में 27 फरवरी की पटने की सार्वजनिक सभा में संसोपा के कुछ राज्यस्तरीय नेताओं ने जो घोषणाएं कीं और जिनका समर्थन डॉ० लोहिया ने और अधिक स्पष्ट और जोरदार शब्दों में किया, वे सब आमूल क्रांतिकारी कार्यक्रम कहे जा सकते हैं जिनकी घोषणा का उपयुक्त अवसर तब होता जब मतदाताओं ने राज्य विधान सभा में उन्हें स्पष्ट बहुमत देकर भेजा होता।
>
> ···डॉ० लोहिया तथा उनके दल के अन्य सदस्यों की इस घोषणा का आज जनता—जो कांग्रेस को हराने की खुशी में मग्न है—भले ही करतल ध्वनि से स्वागत करे, परंतु संसोपा नेताओं ने यदि अपने आमूल क्रांतिकारी कार्यक्रमों का अधिक ढिंढोरा पीटा, तो भय है कि शीघ्र ही राज्य के जनमानस में आतंक छा जाए और गैर-कांग्रेसी मिली-जुली सरकार यदि गठित भी हो जाय, तो उसका अधिक दिनों तक टिकना संभव न हो···

और वही हुआ। उस बार बिहार की संविद सरकार मुश्किल से नौ महीने टिक पाई। नयी सरकार गठित होने के बाद, अपदस्थ मुख्यमंत्री (स्वर्गीय) कृष्ण वल्लभ सहाय 'रिटायर्ड-लाइफ' गुजारने अपने घर हजारीबाग चले गए थे। कृष्ण

1. श्री भोलाप्रसाद सिंह सन् 1967 में बिहार की संविद सरकार के स्वायत्त शासन मंत्री हुए थे।

वल्लभ बाबू अंग्रेजी साहित्य और भाषा के बड़े अच्छे ज्ञाता थे। अपने जमाने के गोल्ड-मेडलिस्ट एम० ए०। मैंने सुना, उन दिनों वे अपने पौत्र-पौत्रियों को शेक्सपियर के नाटक पढ़ाने में रुचि लेने लगे थे। उनकी योजना अपने फार्म की देख-रेख करने की भी थी। इसी बीच नवगठित संविद सरकार ने, और कई बातों के अलावा, बिहार के भूतपूर्व मंत्रियों के विरुद्ध 'अय्यर जांच आयोग' बिठाने की घोषणा कर दी—कृष्णवल्लभ बाबू, महेश बाबू, सत्येन्द्र बाबू, सब के सब आतंकित हो उठे। आपसी वैर-भाव भूल-भाल कर आत्म-रक्षा में एकजुट हो, वे सब निकल पड़े। व्यूह रचना के पारंगत कृष्णवल्लभ बाबू ने तीन लाख रुपये थैली में भर लिए। सच तो यह है कि चुनाव में कांग्रेसियों को विरोधी दल वालों ने उतना हताहत नहीं किया था जितना स्वयं कांग्रेसी नेताओं ने एक-दूसरे को किया। अब वे सब प्रायश्चित ही नहीं, संयुक्त संकल्प कर संविद सरकार को ध्वस्त करने निकल पड़े थे। नौ महीने में ही सरकार समाप्त हो गई।

लोहिया जी तो फिर मुझे नहीं मिले। दुर्भाग्यवश उसी वर्ष अक्टूबर मास में उनका निधन हो गया। लेकिन एक बात मैं जरूर महसूस करने लगा था कि जीवन के अंतिम कुछ महीनों में उनमें गुणात्मक परिवर्तन के कई लक्षण प्रकट होने लगे थे। बदली हुई परिस्थिति की गंभीर चुनौतियां और नेतृत्व का गुरुतम दायित्व उन्हें अधिक सतर्क और प्रौढ़ बनाता जा रहा था। इसी बीच विधाता हस्तक्षेप कर बैठे।

संविद सरकार की वैसी ही एक और घटना याद आ जाती है। सरकार अभी बनी ही थी कि विधानसभा के नये उपाध्यक्ष महोदय ने अपने एक स्वागत-समारोह में बोलते हुए लोगों से कहा कि अब राज बदल गया है इसलिए जो भी अफसर भ्रष्टाचार या कोई गलत काम करे, लोग उनका कान पकड़ कर सीधे सरकार के सामने हाजिर करें। मोतिहारी में कुछ अफसरों ने उनके उस भाषण की मुझसे बड़ी शिकायत की। जब मैं पटना गया तो (स्वर्गीय) रामानंद तिवारी से मैंने उसकी चर्चा की। तिवारी जी पी० एस० पी० के एक प्रमुख नेता और बिहार मंत्रिमंडल के एक वरिष्ठ सदस्य थे। मैंने उनसे कहा कि जब ऊंची-ऊंची जगहों पर बैठे लोग ऐसी गैर जिम्मेदारी की बातें करने लग जाएंगे तो सरकार का क्या हाल हो जाएगा। यह सरकार बस इतनी ही हवा फैला दे, और अफसरों को विश्वास हो जाए, कि इस राज में केवल कर्त्तव्यनिष्ठा और सच्चाई की ही पूछ होगी; जात-पात, भाई-भतीजा, खुशामद आदि नहीं चल पाएंगे, तो इतने से ही भ्रष्टाचार में कमी होने लग जाएगी। लेकिन बेचारे तिवारी जी को मेरी बात कोई विशेष महत्त्व की नहीं लगी। उन्होंने कहा, "अरे छोड़ऽ इ सब चलेला।" उनका मतलब था कि भाषण में वैसी बात कोई कह भी दे, तो कोई हर्ज नहीं। भाषणों में यह सब तो चलते ही हैं।

कोई दस वर्ष बाद, देश में जब जनता सरकार बनी, तो नये संचारमंत्री, जार्ज फर्नांडीस, पटना आए। हवाई अड्डे पर स्वागत के लिए कर्मचारी संघ के लोग जुटे थे। उनके सामने बोलते हुए उन्होंने कुछ ऐसी बातें कहीं, खास कर उनका तर्ज और तेवर ऐसा था, मानो अब भी वे यूनियनबाजी ही कर रहे हों। भाषण समाप्त हुआ तो अवसर पाकर मैंने उन्हें आहिस्ते से टोका, "जार्ज ! अब तो आप मंत्री हैं। ऐसी बातें क्यों करते हैं जिनसे आगे आपकी सरकार कठिनाई में पड़ जाए।" वे चुप रहे। असल में जिस भी काम को एक लम्बे अर्से तक करते जाइए, आपका स्वभाव भी उसी के अनुरूप बन जाएगा। भारत के विरोधी दल, जब सरकार में भी गए, तो उनका संस्कार पुराना ही रहा। उन्हें याद ही नहीं रहा कि अब वे जिम्मेदारी की जगह पर बैठे हैं। ठीक इसके विपरीत, बहुत दिनों तक सरकार में रह जाने के बाद, कांग्रेस के वरिष्ठ लोग जब प्रतिपक्षी बने, तब भी वे अपना संस्कार न भूल पाए। इसका सबसे बड़ा और अच्छा उदाहरण है कि इंदिराजी अपदस्थ होकर जब विरोधी पक्ष में थीं, तो उन्हीं दिनों रेलवे वाले हड़ताल पर जाने की बात कर रहे थे। यद्यपि सरकार जनता पार्टी की थी, फिर भी उन्होंने कहा कि हड़ताल राष्ट्रहित में अच्छी बात नहीं। इससे देश की समस्या और जटिल हो जाती है। इंदिरा जी का बयान अखबारों में आया था। विरोधी नेताओं में ऐसी बातें केवल मोरारजी भाई से सुनने को मिल जाया करती हैं। और इसका भी कारण फिर वही है—संस्कार।

बहुत पहले सन् '39 में, गांधीजी सारी कांग्रेस पार्टी को ही सोशलिस्टों के हवाले कर देना चाहते थे—ऐसा लोहिया जी ने ही लोगों को बताया था। नागार्जुन सागर में वे सुना रहे थे, "गांधीजी ने देखा और कहा कि ये कांग्रेस समाजवादी लोग बड़ी लंबी-लंबी और गरम-गरम बातें जो करते हैं, इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि इन्हें जिम्मेदारी नहीं दी गई, तो इनको जिम्मेदारी दे दो। उनके शब्द थे कि मैं चाहता हूं कि कांग्रेस इनको सौंपो और खाली कांग्रेस ही नहीं, कांग्रेस का पार्लियामेंटरी बोर्ड भी इनको सौंप दो। इसका नतीजा होगा कि एक तो कांग्रेस के अंदर जो बुढ़ापा आ गया है, वह दूर होगा, क्योंकि नौजवान लोग कांग्रेस के अंदर नया खून लाएंगे। दूसरा अच्छा नतीजा यह होगा कि ये खुद आज जैसे बिना सोचे-समझे बातें करते हैं, फिर जिम्मेदारी की बात करेंगे। महात्मा गांधी के ये प्रस्ताव और तर्क कितने अच्छे थे…"

भारत में ही नहीं, विदेशों में भी बड़े-बड़े लोग यही महसूस करते रहे कि सदा विरोधी पक्ष में रहना आदमी को गैर-जिम्मेदारी सिखलाता है। ब्रिटिश लेबर पार्टी के नेता क्लिमेंट ऐटली जब प्रधानमंत्री हुए, तो इंडिया इंडिपेंडेंस बिल पर बहस के सिलसिले में चर्चिल के विरोध का जवाब देते हुए हाउस आफ कामन्स में उन्होंने कहा था : "…(भारतीयों को) जिम्मेदारी के बदले हमने ही गैर-

जिम्मेदारी सिखलाई है। भारत के सभी राजनीतिज्ञ अब तक स्थायी रूप से विरोधी पक्ष में ही रहे हैं, और लंबे अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूं कि सदा प्रतिपक्ष में ही रहना अच्छी बात नहीं···"

लोहिया जी को भी इस कटु सत्य का मर्म समझ में आने लग गया था। उस बार नागार्जुन सागर में उन्होंने जो बातें कहीं, वे सब टेप कर ली गई थीं। टेप से लिपिबद्ध हुईं, और फिर पुस्तक बनकर निकलीं—'समाजवादी आंदोलन का इतिहास' उसी पुस्तक में आप लोहिया जी को कहते पाएंगे :

"···मुझ जैसे लोगों की तरफ से भी, सिवाय बकवास के और कुछ नहीं हो पाया···मुझे ऐसा लगता है कि किसी संगठन के अंदर रह करके वामपंथी गुट को चलाना कोई बहुत बुद्धिमानी का काम नहीं···लगातार एक वामपंथी गुट किसी पार्टी के अंदर बनाकर रखना खाली सम्मेलन में प्रस्ताव पास करने के लिए, तो उससे बड़ी गैर-जिम्मेदारी हो जाया करती है। उसके साथ-साथ एक भावना रहती है कि हम अपने दामन को बिल्कुल साफ रखें। हमारा आदर्श बिल्कुल पवित्र रहे, हम जुड़ें नहीं किसी चीज के साथ। किसी मित्र गुट का यह तरीका या उद्देश्य होना चाहिए कि अगर अफसरी में जगह मिलती हो तो ले लो और संगठन की अफसरी लेकर अपने विचारों को चलाओ। उसको वह ले नहीं पाता, क्योंकि पवित्र रहने की इच्छा रहती है और पवित्रता को खतरा हो जाता है। संगठन तो मिश्रित होता है और उसकी अफसरी लेने में डर लगता है कि हम भी थोड़े काले न हो जाएं या कम से कम मटमैले न हो जाएं···खाली सिद्धांत-सिद्धांत, सच-सच रटते रह जाओ और अगर उसमें ताकत नहीं तो वह कमजोर सत्य बेमतलब हुआ करता है···"

एक बहुत कीमती बात कह गया है अनातोले फ्रांस। पता नहीं, लोहिया जी को उन दिनों मालूम था या नहीं। लेकिन सन् '62 में उन्होंने खुद ही उसका जिक्र किया था। अनातोले ने कहा था कि दुनिया निखर जाती अगर जवानी बुढ़ापे के बाद आती। बुढ़ापा पहले आता तो उसके साथ अक्ल भी पहले ही आती आंख खुल जाती। बुढ़ापे के अनुभव के साथ बाद में जब जवानी के तन-मन की शक्ति का संयोग होता, तो निश्चय ही दुनिया बिल्कुल दूसरे ढंग से बनाई-संवारी गई होती।

बूढ़े सरदार और नेहरू बनाम जवान जे० पी० और लोहिया के प्रसंग में अनातोले फ्रांस के उस कथन की सार्थकता भारतीय राजनीति के भाग्य और स्वरूप के लिए मन में बड़ी कचोट पैदा कर जाती है।

आठ

जे० पी० का अहं बड़ा प्रबल था। इस बात को वे भी जानते थे और कई बार उन्होंने स्वयं ऐसा कहा भी था। '74 के आंदोलनक्रम में जब वे मोतिहारी की विशाल जनसभा को संबोधित कर रहे थे, तो वहां भी प्रसंगवश उन्होंने कहा था—"मैं तो अपने को गांधी और लेनिन का संगम मानता हूं। हो सकता है यह मेरा अहं हो—और वह मुझमें है—लेकिन यह भी सच है कि मुझ पर उन्हीं दो महापुरुषों के विशेष प्रभाव रहे हैं।" प्राय: सभी बड़े लोग अहंकारी होते हैं। अहं न हो, तो शायद वे कोई बड़ा काम कर भी न पाएं। अहं व्यक्ति की ऊर्जा और शक्ति है। दक्षिण अफ्रीका में गांधी ने जो सत्याग्रह प्रारंभ किया था, उसके पीछे कुछ दूर हटकर उनका आहत अहं ही खड़ा था: फर्स्ट क्लास का टिकट रखते हुए भी बैरिस्टर गांधी को बीच यात्रा में ही गोरे अंग्रेजों ने कम्पार्टमेंट से बाहर धकेल दिया और उस काले यात्री को मोरित्सबर्ग रेलवे स्टेशन के अंधेरे वेटिंगरूम में जाड़े की सर्द रात ठिठुर कर गुजारनी पड़ी थी। आगे की यात्रा जब सिरकम घोड़ा गाड़ी से शुरू की, तो सिरकम कंपनी के गोरे नायक ने 'सामी' गांधी को अपने पैरों के नीचे गंदे बोरे पर बैठने को कहा। गांधी ने इंकार किया तो गोरे साहब ने उनपर तमाचों की वर्षा कर दी और नीचे धकेलने पर उतारू हो गया। उस रात वेटिंग रूम में गांधी जी रात भर अपने कर्त्तव्य की सोच में डूबे रहे: "या तो स्वदेश वापस चला जाऊं, या यहां जो अपमान होते हैं उन्हें सहन करूं अन्यथा मुझे अपने हकों के लिए लड़ना चाहिए···छोड़ कर भाग जाना तो नामर्दगी होगी"।

अक्सर एक प्रश्न मेरे मन में उभर आता है— जे० पी० के अहं को चोट न लगी होती तो क्या वे '74 के हंगामे में कूदे होते? इतना तो निर्विवाद है कि जे० पी० अगर आगे न बढ़ आए होते, तो बिहार में उन दिनों जो कुछ हुआ, वह एक सशक्त और व्यापक आंदोलन का रूप ग्रहण न कर पाता। जे० पी० के विशाल

व्यक्तित्व ने ही हंगामे को एक जनआंदोलन की गरिमा प्रदान कर दी। लेकिन प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न तो है कि समरक्षेत्र में जे० पी० हठात् कूद कैसे पड़े? ऐसा न था कि उन दिनों विहार की स्थिति अचानक बिगड़ कर विस्फोटक हो गई हो। भ्रष्टाचार, महंगाई, बेरोजगारी अथवा शैक्षणिक दुर्व्यवस्था—ये सभी समस्याएं आंदोलन के बहुत पहले से चलती आई थीं और आंदोलन के बाद भी चलती रहीं। आज भी देश की प्रमुख समस्याएं वे ही हैं और पता नहीं, उनका संतोषजनक समाधान कब निकले! यह भी सच है कि उस आंदोलन के लिए पहले से कहीं कोई योजनाबद्ध और संगठित प्रयास नहीं चलाए जा रहे थे।

राजेन्द्रनगर (पटना) में मेरे एक पड़ोसी थे—'भच'। गांधी शांति प्रतिष्ठान के भच एक वेतनभोगी कर्मचारी थे। प्रतिष्ठान कार्यालय के ही एक भाग में बाल-बच्चों के साथ रहा करते थे और प्रतिष्ठान की ओर से नियमित-अनियमित रूप से जो अल्प वेतन उन्हें उपलब्ध हो जाता, उसी से वे निर्वाह करते थे। राजनीति का भी थोड़ा चस्का था। पटना यूनिवर्सिटी के कई तथाकथित छात्र नेताओं से भच महोदय का अच्छा सम्पर्क था और अक्सर उन सब की जुटान प्रतिष्ठान-कार्यालय में हुआ करती थी। 18 मार्च '74 को पटना में जो कांड हुआ, उसकी रूप-रेखा प्रतिष्ठान कार्यालय में ही तैयार की गई थी और भच उसके सूत्रधारों में थे। एक बार उन सब ने मिल कर व्हीलर सिनेट हॉल में जे० पी० का भाषण भी कराया था। कुलदीप नायर भी आए और बोले थे। रामनंदन मिश्र जी भी एक बार बुलाए गए थे। उनका भी सिनेट हॉल में ही भाषण हुआ था। दोनों ही मौकों पर एक विशेष-आमंत्रित श्रोता के रूप में मैं भी मौजूद था। यह सब आंदोलन के साल-छह महीने पहले की बात है। उन दोनों मीटिंग में ऐसी कोई विशेष बात न हुई थी जिनका आंदोलन से कोई संबंध रहा हो।

मार्च के शुरू सप्ताह में भच ने मुझे बताया था कि आगामी 18 मार्च को छात्र लोग बिहार विधान सभा का घेराव करेंगे—छात्रों के सामने जो कठिनाइयां थीं, उन्हीं मुद्दों को लेकर। मैं उन दिनों बिहार राज्य सोशलिस्ट पार्टी का एक सचिव था। छात्रों के उस प्रस्तावित कार्यक्रम में, तब हम में से किसी की कोई खास दिलचस्पी न थी।

18 मार्च की दोपहर को मैं डाकबंगला पर पी० टी० आई० के दफ्तर में ऊपर बैठा था। नीचे सड़क पर वैसे तो सन्नाटा था, लेकिन बीच-बीच में पुलिस की गाड़ियां आ-जा रही थीं। लगभग डेढ़ बजे कुछ शोर हुआ तो छज्जे पर निकल कर देखा कि डी० लाल ऐण्ड सन्स की दुकान में लूट मची हुई है। बगल के मारवाड़ी मिष्ठान भंडार से भी मिठाइयां लूट कर लोग खा रहे हैं। कुछ ही देर बाद बगल के सुजाता होटल में आग लगा दी गई। उस हंगामे में मुझे शायद ही ऐसा कोई लगा जो छात्र दीखता हो। घंटे-डेढ़ घंटे बाद पी० टी० आई०

में खबर पहुंची कि स्टेशन मालगोदाम में आगजनी और लूट हुई है। ऊपर छत से देखा तो दूर दक्खिन-पश्चिम कोने में लाली छाई थी और धुआं उठ रहा था। कुछ देर बाद सरसों का तेल और डालडा के सीलबंद डिब्बे लिए दो-चार लोगों को पी० टी० आई०की गली से गुजरते देखा। विधान सभा के निकट आर ब्लाक गोलम्बर के इर्द-गिर्द जो हुआ, उसे मैंने खुद देखा नहीं। शाम पांच बजे तक पी० टी० आई० में ही बैठा मैं सब तमाशा देखता रहा और शहर का समाचार भी सुनता रहा। जे० पी० उस रोज पटना में नहीं थे। शायद रात में या अगले दिन आए। जे० पी० ने क्या किया या नहीं किया, सो मैं नहीं जानता। हां, केन्द्रीय गृह मंत्री उमाशंकर दीक्षित जब उनसे मिल कर बाहर निकले तो उन्होंने कहा, अगर जे० पी० न होते तो सारा पटना धू-धू कर जल जाता।

कोई पांच-सात दिनों बाद गया में जब गोली चली, तो जे० पी० भी गरमाए। उन्होंने एक जांच-समिति गठित की। लगभग एक पखवारे बाद वे खुल कर सामने आ गए। जे० पी० ने जब नेतृत्व संभाला तो हम लोगों को भी लगा, मामला अब रंग लाएगा। हम सब लोग अपनी-अपनी देह सेंकने के लिए कसमसा उठे। वैसे, राजनीतिक दल वालों से वे यही कहते रहे, आप सब लोग आंदोलन से अलग ही रहिए। लेकिन राजनीतिक दलवालों के कूदे बगैर कुछ न हो पाएगा यह बात दलवाले भी जानते थे और जे० पी० भी। अपने दल की राज्य कार्य-कारिणी की बैठक में मैंने काफी जोर लगाया था कि छात्रों और नौजवानों के उस आंदोलन को एक व्यापक जनआंदोलन करार देकर हमें भी उसमें सक्रिय योगदान देना चाहिए। इस आशय का प्रस्ताव जब पारित हुआ तो पार्टी की ओर से जनता के नाम अपील तैयार करने का दायित्व मुझ पर ही सौंपा गया था। अपील तैयार हुई, छपी और बंटी। 24 मार्च को धारा 144 और कर्फ्यू का उल्लंघन कर जुलूस निकालते हुए रामानंद तिवारी, रामसुन्दर दास आदि इक्कीस साथियों के साथ मैं भी गिरफ्तार कर लिया गया। पूरे आंदोलन के दौरान डी०आई०आर० और मीसा के अंतर्गत मैं तीन बार गिरफ्तार हुआ था। लेकिन इन सब का कोई विशेष महत्त्व नहीं। वास्तविक महत्त्व की बातें तो दूसरी हैं।

आंदोलन जे० पी० ने नहीं शुरू किया था, क्योंकि न तो उस दिन वे पटना में थे और न उस साल मार्च से पहले कभी सुना कि वे कोई आंदोलन छेड़ने की तैयारी कर रहे हैं। देश की स्थिति से वे अवश्य असंतुष्ट रहा करते थे। लेकिन देश की कुस्थिति और उनका असंतोष, दोनों ही पुराना था। पिछले पन्नों में वही सब दास्तान तो है। हां, इस बीच सार्वजनिक महत्त्व की कुछ ऐसी व्यक्तिगत घटनाएं अवश्य हो चुकी थीं जिसने जे० पी० के अंह को काफी चोट पहुंचाई थी :

मार्च 1971 में बंगला देश का जो विप्लव हुआ, उसके पक्ष में भारत में प्रबल

जनमत जाग्रत करने का सर्वाधिक श्रेय जे० पी० को ही है। इस संबंध में जब तक जे० पी० का वक्तव्य नहीं आया था, तब तक अच्छे-अच्छे पत्रकार और बुद्धिजीवी समझ नहीं पा रहे थे कि वे क्या रुख अपनाएं। एक छोटी-सी मिसाल दे देता हूं। पटने में एक संस्था चलती थी—'पीस इन एशिया सोसाइटी'। भूत-पूर्व सांसद श्री मथुरा प्रसाद मिश्र उसके अध्यक्ष थे, और मैं था महामंत्री। हम लोगों ने तय किया कि बंगला देश के वीर स्वतंत्रता सेनानियों को हमें अपना नैतिक समर्थन देना चाहिए। सोसाइटी की ओर से हम लोगों ने एक संयुक्त प्रेस वक्तव्य तैयार किया। वक्तव्य लेकर मैं खुद ही पी० टी० आई० के दफ्तर गया जहां मंटो 'दा बैठे मिले। मैंने उन्हीं के हाथ में वक्तव्य थमाया। पढ़ते ही वे झल्ला उठे: "तुम लोगों को क्या फालतू-फालतू काम सूझता रहता है। अरे, इसका इम-प्लिकेशन्स भी समझते हो? कल यदि दक्षिण भारत के लोग हल्ला करने लग जाएं कि भारत से अलग होकर हम अपनी एक अलग 'सावरेन स्टेट' कायम करेंगे तो तुम किस मुंह से उनका विरोध करोगे?" वक्तव्य उन्होंने मेरी ओर फेंक दिया। उसके तीसरे या चौथे दिन बंगला देश के समर्थन में जे० पी० का एक बड़ा-सा वक्तव्य सारे देश के अखबारों में आया। उसका जादू फौरन मंटो 'दा के सर पर चढ़ कर भी बोलने लगा और उन्होंने स्वयं ही मथुरा बाबू को फोन करके आग्रह किया कि, हमारे उस रोज वाले वक्तव्य की कोई प्रतिलिपि यदि उपलब्ध हो तो उसे वे फौरन भिजवा दें। और तब पी० टी० आई० ने हमारा वही बयान प्रसारित किया जो अगले दिन 30 मार्च 71 को अंग्रेजी के अखबारों में प्रकाशित हुआ था। यह था जे० पी० के वक्तव्य का चमत्कार जिसने सब लोगों को दिशा दे दी।

बंगला देश के प्रश्न पर जे० पी० के भ्रमण और भाषणों से सारे देश में एक ज्वार उमड़ आया। बड़ा व्यापक और प्रबल जनसमर्थन। मैंने यह भी सुना था कि बंगला मुक्ति-वाहिनी को विदेशों से भी जे० पी० ने अनेक प्रकार की सहायता पहुंचवाने का प्रबंध कराया था।

एक रात, जे० पी० जब मुजफ्फरपुर के मुशहरी प्रखंड में थे, तो वहां के जिलाधीश उन तक एक अत्यावश्यक संदेश पहुंचाने दौड़े-दौड़े पहुंचे। प्रधानमंत्री भवन से बिहार के राज्यपाल के पास संदेश आया था कि जे० पी० से अविलम्ब सम्पर्क स्थापित कर उनसे आग्रह किया जाए कि वे दिल्ली के लिए शीघ्र रवाना हो जाएं। अगले दिन जे० पी० प्रधान मंत्री भवन पहुंचे। इंदिरा जी ने उनसे बहुत आग्रह किया कि बंगला देश के पक्ष में अंतर्राष्ट्रीय जनमत जाग्रत करने के लिए वे विदेश यात्रा पर भी निकलें। जे० पी० ने कहा कि भारत सरकार की ओर से जब विदेश मंत्री सरदार स्वर्ण सिंह इस अभियान पर निकल ही चुके हैं तो फिर उनके जाने की आवश्यकता ही क्या है। उत्तर में इंदिरा जी ने कहा था

कि आवश्यकता इसलिए है कि जे० पी० और स्वर्ण सिंह के व्यक्तित्व और प्रभाव में बड़ा अंतर है और फिर, विदेश मंत्री तो भारत सरकार के विचारों का प्रतिनिधित्व करेंगे, लेकिन जे० पी० जन-आकांक्षाओं का। 16 मार्च को वे विदेश यात्रा के लिए दिल्ली से रवाना हुए और 26 जून को स्वदेश लौटे। दुनिया के पंद्रह छोटे-बड़े देशों की राजधानियों में वे गए—मास्को, वाशिंगटन, लंदन, पेरिस बेलग्राड, बांन, रोम, हेलसिंकी, स्टॉकहोम, टोकिओ, जकार्ता, सिंगापुर, कुआलालम्पूर, काहिरा, ओटावा। जे० पी० के विदेश-भ्रमण से बंगला मुक्तिवाहिनी का हौसला तो बढ़ा ही, साथ ही भारत सरकार के भी हाथ मजबूत हुए। लेकिन विजय-मुकुट धारण कर बंगबंधु मुजीबुर्रहमान जब लंदन से ढाका जाते हुए दिल्ली उतरे, तो वहां अपने भाषण में उन्होंने भारत सरकार का तो धन्यवाद ज्ञापन किया, किंतु भारतीय जनता की ओर से जे० पी० द्वारा किये गए सत्प्रयासों का कोई जिक्र नहीं किया। इंदिरा जी भी उस अवसर पर, या बाद के अपने भाषणों अथवा वार्ता में, जे० पी० को बिलकुल भूल ही गईं। उन्होंने जे० पी० के भगीरथ-प्रयत्न के प्रति कभी कोई आभार प्रदर्शित करने की औपचारिकता भी न निभाई। इस तोताचश्मी रवैये को सहन कर लेना जे० पी० जैसे संवेदनशील व्यक्ति के लिए सहज था क्या?

दूसरी घटना: चम्बल घाटी के डकैतों को अपराध-वृत्ति त्याग कर सामान्य जीवन व्यतीत करने के लिए जे० पी० ने ही प्रेरित किया था। कई वर्ष पूर्व उस दिशा में विनोबा भी अपना प्रयोग चला चुके थे, परंतु उन्हें कोई विशेष सफलता न मिल पाई थी। तब उन्होंने कुछ इच्छुक दस्यु-सरदारों को जे० पी० के पास भेजा था। उनमें से एक या दो चुपके से पटना आकर जे० पी० से मिले। उनका आग्रह स्वीकार कर जे०पी० ने अपना प्रयास चलाया और उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। उनके सत्प्रयास से अनेक भयंकर दस्युदल आत्म-समर्पण करने को तैयार हो गए। एक निश्चित तिथि को आत्म-समर्पण-समारोह आयोजित किया गया। जे० पी० की बड़ी प्रबल इच्छा थी कि भारत सरकार के फ़िल्म्स-डिवीजन द्वारा उस अभूतपूर्व समारोह का डाक्यूमेंटरी फ़िलम तैयार कर लिया जाए ताकि इतिहास का एक दृश्य-अंग बन कर वह सुरक्षित रह सके। परंतु भारत सरकार जे० पी० को गौरवान्वित करना नहीं चाहती थी। सूचना और प्रसारण मंत्रालय ने उस ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया।

सबसे बुरा तो यह हुआ था कि ब्रॉडकास्टिंग कारपोरेशन की स्थापना के संबंध में जे० पी० जब इंदिरा जी से बात करना चाहते थे तो उन्होंने कहलवा भेजा कि वे सूचना एवं प्रसारण मंत्री गुजराल से बात कर लें। अनुमान कीजिए, जे० पी० के आत्माभिमान को कितनी चोट पहुंची होगी! इंदिराजी प्रधानमंत्री थीं तो क्या हुआ? जे० पी० तो उनके गुरुजनों में थे—देश के अतिमहत्त्वपूर्ण

श्रेष्ठजनों में एक। स्वर्गीय प्रधानमंत्री नेहरू के जीवन-काल में ऐसा कदापि नहीं हो सकता था कि जे० पी० जब पंडितजी से कोई बात करना चाहते हों, तो पंडित जी उन्हें अपने किसी 'जूनियर' से मिल लेने को कहला भेजें। लेकिन अब तो सारे मूल्य, सारी मान्यताएं ही बदल चुकी थीं। स्वाभाविक था कि जे० पी० वैसी अवहेलना, वैसे तिरस्कार से तिलमिला उठें। सत्ताधारी लोग यदि शक्ति का ही सम्मान करने लग गए हैं, तो जे० पी० में अब भी वह शक्ति थी कि चाहें तो सारे देश को हिला दें। और उन्होंने हिला कर दिखा दिया। यह बात भी भूलने की नहीं कि जे० पी० प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने पराजित इंदिरा गांधी को उनके उज्ज्वल भविष्य के लिए शुभाशीष दिया। जे० पी० को जहां तक मैं जान-समझ पाया था, मेरा अपना विश्वास तो यह है कि अपदस्थ होने के बाद इंदिराजी जिस भाव से जे० पी० से मिली थीं, वैसे यदि आंदोलन के दिनों में ही मिल ली होतीं तो जे० पी० ने उसी समय अपना वरद्हस्त उनके सिर पर रख दिया होता।

अब कारण चाहे जो भी रहे हों, किन्तु अपने पराक्रम-प्रदर्शन का जो समय जे० पी० ने चुना, वह सर्वथा अनुपयुक्त था। आज इन सारी बातों पर जब सोचने बैठता हूं तो लगता है, उस आंदोलन की सबसे बड़ी ताकत और सबसे बड़ी कमजोरी भी जे० पी० ही थे। जे० पी० का व्यक्तित्व, जे० पी० की साख, जे० पी० का पुण्य—और कुछ हद तक उनका पवित्र अहंकार—आंदोलन को प्रचुर शक्ति दे गया। किन्तु उनकी उम्र और उनके उदात्त अंतर्विरोध, आंदोलन की दुर्बलता बन गए। उनके मन में एक द्वन्द्व-सा चला: आंदोलन का प्रयोजन पुनर्जागरण हो अथवा सत्ता-परिवर्तन? आंदोलन राजनीतिक दल वालों के साथ मिल कर चलाया जाए या उनके बिना? आंदोलन की संचालन-शैली विशुद्ध गांधीवादी हो अथवा लेनिनवादी भी? मुझमें तो वह मर्मज्ञता नहीं कि इस विषय पर निश्चयपूर्वक कुछ कह सकूं, किन्तु मुझे लगता है कि, देर-सबेर, गवेषणा के लिए विद्वजन जे० पी० के विचार-प्रवाह के उस संगम-स्थल पर अवश्य पहुंचेंगे जहां गांधीवादी और लेनिनवादी विचारधाराएं दो विपरीत दिशाओं से आकर उनके व्यक्तित्व में संयोजित हुई थीं। और तब संभवतः वे भी यही पाएं कि जे० पी० के संपूर्ण वैचारिक जीवन में 74 से 77 के वर्ष वे काल-बिन्दु थे जब अपने अन्तर्विरोधों के कारण वह संगम-स्थल सर्वाधिक अशांत और आंदोलित हो उठा था। उन दिनों लोकनायक ने एक प्रज्ञा विस्फोट—संपूर्ण क्रांति—के लिए भी लोगों का आह्वान किया और सिंहासन खाली करने के लिए भी सत्ताधारियों को ललकारा। उन्होंने राजनीतिक दल वालों की अवहेलना भी की, और उन्हें आमंत्रित भी किया। उन्होंने आंदोलनकारियों को यह चेतावनी भी दी कि हिंसा की यदि एक भी घटना कहीं होगी तो वे स्वयं आंदोलन से तत्क्षण विलग हो जाएंगे; और जब लाखों-लाख नर-नारियों के विशाल प्रदर्शन और

शानदार त्रि-दिवसीय बिहार-बंद के बावजूद विधान-सभा विघटित न हुई, तब उन्होंने आंदोलनकारियों को यह भी आदेश दिया कि वे विधायकों को सदन से सदेह निष्कासित कर दें। आंदोलन जब ठंडा पड़ जाता था तो उसके हवन-कुंड में घी डालने के लिए जे० पी० के अंदर के लेनिन जग उठते थे। और अग्नि-कुंड जब अत्यधिक प्रज्वलित हो उठता, तो उसके शमन के लिए जे० पी० के अंदर के गांधी गंगाजल लिए बाहर निकल आते थे।

जे० पी० अब भारतीय इतिहास के एक अविस्मरणीय पात्र बन चुके हैं। उस दिवंगत महापुरुष के विचार और कृत्यों का आकलन करते हुए, उनके कुछ दोष और त्रुटियों की जो चर्चा मैंने कर दी है, मैं जानता हूं उनसे पाठक को कष्ट होगा। मैं पूरी सच्चाई के साथ कहता हूं कि उनसे मुझे भी गहन आत्म-पीड़ा हो रही है। तेरह-चौदह वर्ष की अपनी किशोरावस्था में मैं भारत के उस महान् सपूत के सम्पर्क में आया था। मैंने उन्हें अपना नेता ही नहीं, पिता भी माना था। प्रभावती जी से मुझे माता का-सा स्नेह प्राप्त हुआ था। तीन दशाब्दियों के सम्पर्क और सान्निध्य से सिंचित मोह मेरे मन में अक्षुण्ण है। और मोह ही दुःख का कारण होता है। इसीलिए मैं भी दुःखी हूं। लेकिन मैं जो कुछ लिख रहा हूं, वह इतिहास के लिए लिख रहा हूं—इतिहास, जो निर्मोही होता है। इतिहास यदि निर्मोही न हो, तो निष्पक्ष भी न बन पाए। हमारे-आपके जैसे जे० पी० के अनेक समसामयिक लोगों की ऐहिक लीला भी अगले दस-बीस-तीस बरसों में समाप्त हो जाएगी। हम सब भी पूर्णतः लुप्त हो जाएंगे। तब उन अज्ञात भावी संततियों के लिए शेष बच जाएंगे वे तथ्य जिन्हें हमने और आपने जाना-सुना, देखा और भोगा है। इन्हीं तथ्यों से निष्कर्ष निकाल कर वे अपनी दिशा निर्धारित करेंगे। जे० पी० के साथ अपने रागात्मक संबंध और मोह के कारण, भावी संतति के प्रति हमसे कोई बेईमानी न हो जाए, इस उच्चतर कर्त्तव्य-बोध ने ही मुझे बाध्य कर दिया है कि तथ्यों को मैं नितांत निष्पक्ष और निष्कपट भाव से प्रस्तुत कर दूं।

आंदोलन में जिस प्रकार के लोग जुट आए थे, उनसे न तो प्रखर प्रज्ञा विकिरण की ही कोई संभावना दिखती थी और न सत्ता-परिवर्तन के पश्चात् देश के भाग्य संवर जाने की ही। वे नाश तो कर दे सकते थे, नवनिर्माण नहीं। प्रारंभ में जे० पी० जिन निर्दलीय तत्त्वों का जन संघर्ष समितियों में वर्चस्व चाहते थे, वे सर्वोदयी लोग थे—पाखंडी सखी समाजी सर्वोदयी लोग। पौष्टिक तत्त्व चबा-चबा कर तत्त्वविहीन मीमांसा की सिट्ठी उगलने वाले—सिद्ध ढ़ढ़र राज। मेरे जिले का जनसंघर्ष-समिति-संयोजक भी एक सर्वोदयी ही था। आंदोलन के पैसों से बेटे के नाम परिवहन का धंधा चलाने लगा। शांति प्रतिष्ठान के जिस भव्य महोदय की चर्चा कर चुका हूं, आंदोलन के पचासों हजार रुपये निगल गए और डकार तक न ली। सफाई देने के लिए जे० पी० तक खुद जाने की हिम्मत न थी तो एक

बार मुझसे भी अनुनय किया था कि जे० पी० के इजलास में मैं उनकी वकालत कर दूं। मैं उस तीन-तेरह में पड़ा ही नहीं। उनके ही एक जवारी से मजेदार बात यह सुनने को मिली कि गांव पर जब नया मकान खड़ा कर लिया तो गांव वाले दंग रह गए कि अचानक अलादीन का चिराग उन्हें कहां हाथ लग गया! एक ने पूछा : भच बाबू! पटने में क्या रोजगार चलता है कि आनन-फानन में मकान उठ गया? उनका जवाब था—दोस्तों की मेहरबानी है, वरना मेरी क्या औकात। उनके इस तीर पर एक दूसरे गंवई ने अपना तुक्का चलाते हुए कहा : वैसा ही कोई दोस्त हमको भी खोज दीजिए न! भच महोदय को 'छात्र-कोटा' में टिकट भी प्राप्त हुआ और जनता-लहर के साथ बह कर वे भी विधान सभा में जा डटे। दो वर्ष बाद, अपने क्षेत्र के दौरे पर एक स्थानीय प्राचार्य को संग चलने के लिए कहा तो मर्मज्ञ प्राचार्य ने बड़े निश्चित भाव से उन्हें समझाया : 'अरे छोड़िए भी, नाहक अपना समय और गाड़ी का पेट्रोल क्यों बर्बाद कीजिएगा। लहर बार-बार थोड़े आती है।' संघर्ष-कोष के इंचार्ज, श्री चंदावर ने राज्य समन्वय-समिति की एक बैठक में हम लोगों के सामने जे० पी० से कहा था कि आंदोलनकारी छात्र और नौजवान उन्हें छुरा दिखा कर खर्च के लिए उनसे रुपयों की मांग करते हैं। संपूर्ण क्रांति के एक पवनसुत को, जो भागलपुर जेल में बंद थे, संघर्ष-वाहिनी की एक बहना ने पटने से राखी भिजवाई जिसके सात सौ रुपये टैक्सी खर्च समिति को वहन करने पड़े थे। आंदोलन समाप्ति के बाद उस क्रांतिकारी भाई-बहन के रिश्ते में संपूर्ण क्रांति हो गई और वे पति-पत्नी बन गए। 'सेंटर फॉर न्यू एजुकेशन' के कार्यालय से डुप्लीकेटिंग मशीन और टाइपराइटर टपा दिए गए और शांति प्रतिष्ठान का फिल्म-प्रोजेक्टर एक रात अचानक लापता हो गया। ऐसी अनेक कलाबाजियां होती रहीं।

जे० पी० के कदमकुआं निवास पर एक रोज जब राज्य समन्वय-समिति की बैठक चल रही थी तो जे० पी० ने आंदोलन-कार्यक्रमों की प्रगति-रिपोर्ट जाननी चाही। बस, शुरू हो गई भूदानी स्टाइल की ढपोरशंखी : भूदान में जैसे हुआ करता है—'गोपाल का दस्तावेज' खोल, एलान करते चले गए : फलां जगह ग्रामदान, सारा का सारा फलां जिलादान और प्रांत दान वगैरह, वगैरह। ठीक उसी तरह कुछ लोगों ने जे० पी० को बिल्कुल झूठी रिपोर्ट देनी शुरू कर दी। एक ने कहा—अमुक जिले के अमुक प्रखंड में जनता सरकार गठित कर ली गई है तो दूसरे ने कहा, फलां प्रखंड में जनता कचहरी बैठ गई है। किसी ने बताया कि अमुक गांव में रात्रि को संपूर्ण क्रांति का दर्शन समझाया जाता है, आदि-आदि। उस गपड़चौथ में जे० पी० भी अकुला रहे थे। मुझसे नहीं रहा गया तो मैं भी बोलने उठा। कई प्रमुख लोग बैठे थे— ठाकुर दास बंग, ढड्ढा, चौधरी ब्रह्मप्रकाश, महामाया बाबू, गुलाम सरवर, तकी रहीम, शंकर सिंह आदि। मैंने कहा :

इस आंदोलन के दो लक्ष्य कहे जा सकते हैं। एक, तात्कालिक लक्ष्य—महंगाई, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार दूर करना और शिक्षा में आमूल परिवर्तन लाना। दूसरा, दूरगामी लक्ष्य—संपूर्ण क्रांति। जनता ने अपनी पूरी शक्ति इस आंदोलन के पीछे लगा दी है। कई पुराने लोगों का कहना है, इतना जबरदस्त आंदोलन उन्होंने आजादी की लड़ाई के दिनों में भी नहीं देखा था। सभी मजहब और जात, सभी तबके के लोग; औरत-मर्द, बच्चे-बूढ़े-जवान—सभी जुटे। विराट् जन-सभाएं हुईं। लाखों-लाख नर-नारियों का विशाल प्रदर्शन हुआ। मीलों लम्बा जुलूस निकला। लगातार तीन दिनों तक सारा बिहार बन्द रहा। फिर भी आंदोलनकारियों की मांग मानने की कौन कहे, सरकार उनसे बात तक करने को तैयार न हुई। तो इसे मैं आंदोलन की नहीं, सरकार की ही विफलता मानता हूं; क्योंकि प्रजातंत्र में सरकार को जैसा संवेदनशील होना चाहिए, यह सरकार वैसी नहीं है—इससे यही प्रकट होता है। सुनते हैं, विदेशों में लोग केवल काला बिल्ला बांधकर उसपर इतना ही लिख दें, 'हड़ताल पर हूं', तो इतने से ही वहां प्रशासन बेचैन हो उठता है और हड़तालियों से समझौता-वार्ता शुरू हो जाती है। और यहां इतना सब होने के बावजूद सरकार अपनी हठधर्मिता पर ही अड़ी रही। लेकिन मुझे इसका अधिक रोना नहीं।

असल में मैं चिंतित हूं आंदोलन के दूसरे लक्ष्य के प्रति। जिसे आप संपूर्ण क्रांति कहते हैं, उसका उद्देश्य तो यही है न कि हमारे जीवन में आमूल परिवर्तन आ जाए। जीवन के प्रति हमारा समग्र दृष्टिकोण, मूल्य-मान्यता हमारे सोचने-समझने का ढंग, हमारा तौर-तरीका, व्यवहार-आचरण, सब कुछ बदल जाए, निखर जाए। अब अगर संपूर्ण क्रांति की यही परिभाषा है और इसका बिगुल भी बज चुका है, तो इसके साथ एक प्रश्न जुड़ जाता है—इस क्रांति के वाहक कौन होंगे? इसे कौन लाएगा? जाहिर है, हम ही सब लोग जो आज और अभी इस आंदोलन में जुटे हैं। ठीक है, अगर संपूर्ण क्रांति के वाहक हम ही लोग हैं, तब मैं आप सब लोगों से एक छोटा और सीधा सवाल पूछना चाहता हूं: हमारे और आपके अंदर इस बीच ऐसा कौन-सा तात्त्विक, मौलिक परिवर्तन हो गया है जिसके आधार पर यह आशा की जाए कि हम समस्त समाज के जीवन में आमूल परिवर्तन ला सकने के योग्य बन गए हैं और अपने अभियान में हम सफल होंगे?

यह प्रश्न उठाकर मैं बैठ गया। मैंने देखा, जे० पी० की मुद्रा गंभीर हो गई थी।

जे० पी० की कठिनाई असल में यह थी कि वे बहत्तर वर्ष के हो चुके थे। उनका स्वास्थ्य तेजी से गिरता जा रहा था। प्रभावती जी के स्वर्गवास से उनके

व्यक्तिगत जीवन में जो रिक्तता आ गई थी, उसने भी उनके अवचेतन मन को आक्रांत कर दिया था। वैसे, कुछ 'सल्फ़-स्टाइल्ड बेटी-दामाद' उनकी सेवा में अवश्य जुट आए थे। लेकिन मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं, प्रभावती जी यदि जीवित होतीं तो उन कुपात्रों को झाड़ू से बुहार कर कूड़ेदान में फेंक आतीं। वे सब सस्ते 'सेल्फ़-सीकर्स' थे जिन्हें दैवसंयोग से निःसंतान जे० पी० के सूनेपन का शोषण कर लेने का सुवर्ण अवसर उपलब्ध हो गया था। उस विस्मृति-ग्रस्त बूढ़े बीमार की तीमारदारी में उन दिनों जैसी 'हेल्थ-पालिटिक्स' चली, वह खुदा से भी नहीं सहा गया। सारी चांडाल-चौकड़ी में बस एक ही सच्चा आदमी था---टी० अब्राहम। जे० पी० अंदर से टूटते जा रहे हैं, यह मैंने उसी रोज देख लिया था जब प्रभावती जी की अंत्येष्टि के लिए हम लोग बांसघाट गए थे। चिता जब तक जलती रही, हम लोग घाट अगोरे रहे। दिनकर जी और मैं बिल्कुल उनकी बगल में बैठे थे। जे० पी० बीच-बीच में धीमें से कराह उठते थे। मेरी भी मनोदशा संयत न रह सकी, इसलिए मेरे मुंह से एक बात निकल गई: 'डेथ रियली मैटर्स ह्वेन् समबडी डाइज़ टू यू।' सुनते ही जे० पी० की अन्तर्पीड़ा एक गहरी लम्बी सांस बन कर बाहर निकल पड़ी। घाट से जब लौटने लगे तो सीढ़ियां चढ़ने में सहारे के लिए मैंने उनकी बांह पकड़ रखी थी। चढ़ाई जब खत्म कर चुके, तो उतरते समय मुझसे कहा: 'अब छोड़ दऽ' और फिर अत्यन्त दार्शनिक भाव में बोले, "गैटिंग डाउन इज़ नो प्रॉबलेम।"

आंदोलन के शुरू साल में वे अचानक जवानों की तरह जा फड़कने लगे थे—गांधी मैदान के निकट स्टेट बैंक की पांच फुट ऊंची चहारदीवारी फांद गए—वह जे० पी० के कायाबल का नहीं, मनोबल का चमत्कार था। गांधी, नेहरू, पटेल, जे० पी०, इंदिराजी, इन सब की विलक्षणता यह रही है कि चुनौतियों से भिड़ंत के समय उनके अंदर एक अद्‌भुत शक्ति पैदा हो जाती है। चुनौती जितनी गंभीर हो, शक्ति भी उतनी ही प्रबल। लेकिन देह और आत्मा के धर्म और नियम तो अलग-अलग हैं। वय-वृद्धि के साथ आत्मा भले ही दोषमुक्त होने लग जाती हो, परंतु देह तो दोषग्रस्त ही होती जाती है। जे० पी० की एक मनोग्रंथी यह भी थी कि किया तो उन्होंने बहुत कुछ था, परंतु पूरी सफलता उन्हें कभी न मिल पाई थी। जीवन में कम से कम एक बार भी तो उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हो जाए, शायद यह कसक उनकी कमजोरी बन गई थी। आंदोलनकारियों के उतने अनाचार जे० पी० जो सहते चले गए, उसका एक कारण यह भी था कि उस निर्णायक संग्राम में सूर्यास्त से पहले वे अपनी विजय-पताका गाड़ जाना चाहते थे। उनका जीवन-सूर्य जितनी तेजी से क्षितिज की ओर उतरता चला गया, उतना ही वे आतुर होते चले गए। मीन-मेख निकालने का समय उनके पास बिल्कुल न बचा था। कुकर्मियों ने इसी का सारा लाभ लूट लिया।

यह बात भी जरूर कह दूं कि आंदोलन धीरे-धीरे बेदम होता जा रहा था और इमरजेंसी लागू होते ही वह करीब-करीब टूट ही गया। जे० पी० सहित जब देश के छोटे-बड़े अनेक विरोधी नेता गिरफ्तार कर लिए गए, तो बिल्कुल मुर्दनी छा गई। कहीं कोई प्रतिकार न हुआ। किसकी क्या स्थिति हो चली थी यह तो जे० पी० के ही उस पत्र से पता लग जायगा जो 12 नवम्बर, 76 को उन्होंने विनोबा जी को भेजा था ? लिखा था :

पूज्य बाबा :

वर्तमान परिस्थिति से व्यथित होकर यह पत्र लिख रहा हूं। आज से ठीक एक साल पूर्व मैं नजरबंदी से रिहा हुआ था। तब से जीवन और मृत्यु के बीच झूलता रहा हूं। आज भी स्थिति कुछ वैसी ही है। फिर भी जीवित हूं, यही क्या कम है।

इस अर्से में देश कहां से कहां चला गया। बदल तो मैं भी चाहता था, परंतु जो बदल हो रहे हैं, वे उल्टी दिशा में हो रहे हैं। मैं खुद बीमार हूं। कुछ कर नहीं सकता। और अपने को इस योग्य नहीं समझता कि आप को सलाह दूं। केवल अपने अंतर की व्यथा प्रकट करने के लिए यह पत्र लिख रहा हूं।

....

इधर इमरजेंसी के बहाने राष्ट्र के मुंह पर ताला जड़ दिया गया है। कोई कुछ बोल नहीं सकता। आपको भी उम्मीद थी कि इसी अक्तूबर-नवम्बर तक इमरजेंसी उठा ली जाएगी। सेंसरशिप हट जाएगी, जेलों में पड़े राजबंदी रिहा कर दिए जाएंगे और अगले फरवरी-मार्च में चुनाव कराने की घोषणा भी हो जाएगी। लेकिन कुछ नहीं हुआ। उल्टे चुनाव की तारीख और आगे बढ़ा दी गयी है। यद्यपि कोई मौजूं कारण नहीं है ऐसा करने का। आज देश में सर्वत्र शांति है, कहीं कोई तोड़-फोड़ नहीं हो रही है। फिर भी शासकों की ओर से यह मिथ्या प्रचार किया जा रहा है कि विपक्षी लोग फिर गड़बड़ करने वाले हैं। इमरजेंसी को कायम रखने का यह एक बहाना मात्र है।

और कांग्रेस जो आजादी के लिए लड़ी थी, निष्प्राण, निर्जीव-सी हो गई लगती है। उसके वरिष्ठ नेता चुप हैं, भयग्रस्त हैं। जो कुछ हो रहा है, वह गलत है, ऐसा मानते हुए भी वे उसके विरोध में कुछ बोल नहीं सकते, कोई कदम उठा नहीं सकते। उनकी स्थिात वैसी ही लगती है जो द्रौपदी के चीर-हरण के समय भीष्म, द्रोण आदि की हुई थी।

जो थोड़े लोग बाहर हैं, वे किंकर्तव्यविमूढ़ हैं। शांति के रास्ते इस परिस्थिति का प्रतिकार कैसे किया जाय, यह उन्हें नहीं सूझता। मुझे भी नहीं

सूझता। ऐसी स्थिति में सारा देश आपकी ओर देख रहा है।

मैं मानता हूं, और देश मानता है कि आपमें ही वह आध्यात्मिक और नैतिक शक्तिपुंज है जिसके प्रकट होने से स्थिति में परिवर्तन हो सकता है। अत: आपसे मार्ग-दर्शन की अपेक्षा देश को है।

मैं और क्या लिखूं। लिखने की आवश्यकता भी नहीं। आप सब कुछ देख-सुन रहे हैं।

सविनय प्रणाम सहित,
जयप्रकाश नारायण

सच्ची बात तो यह है कि इंदिरा जी ने स्वयं ही इमरजेंसी समाप्त करके चुनाव कराने की घोषणा न कर दी होती, तो किसी में शक्ति न थी कि स्थिति को उनकी मुट्ठी से छीन लेता। हां, चुनाव होता तो ज़रूर वे बुरी तरह हार जातीं, और हार ही गईं। लेकिन चुनाव में हरा देने की ताकत और चुनाव करा लेने की ताकत, ये दोनों बिल्कुल अलग-अलग बातें हैं। लगता है, इंदिरा जी को उनके अफसरों खास कर इंटेलिजेंस वालों ने शायद जान-बूझ कर गुमराह कर दिया। जे० पी० जब चंडीगढ़ जेल से बीमार होकर पटना आए और यहीं रहने लगे, तो उन दिनों मैं उनके यहां ज्यादा जाने लगा था। तब इक्के-दुक्के लोग ही उनके यहां आते-जाते थे क्योंकि उनकी सारी गली और आहाते में पुलिस और इंटेलिजेंस वालों की घेराबंदी रहती थी। पूछ-ताछ करते, नाम-पता नोट कर लेते थे। एक दिन तीसरे पहर जब मैं नीचे सच्चिदा जी के कमरे में बैठा यों ही गप-शप कर रहा था, तो वहीं बगल में एक इंटेलिजेंस अफसर भी बैठे अपनी ड्यूटी बजा रहे थे। नाक-नक्शा से लगता था, दिल्ली के आस-पास कहीं के आदमी हों। तो बात ही बात में उन्होंने हम लोगों से कहा : 'यू सी, मैडम गांधी इज नॉट गोइंग टू कन्टिन्यू आफ्टर सेवेंटी-सेवेन।' यह मैं आपको सितम्बर-अक्तूबर, 76 की बात बता रहा हूं। मैंने उनसे पूछा, 'ह्वाई ?' उन्होंने कहा, 'वेल, दैट इज नॉट फॉर मी टू टेल यू। स्टिल यू मे टेक इट फ्रॉम मी।' थोड़ी देर बाद जब वे साहब हटे तो मैंने सच्चिदा जी से कहा, सुना आपने ये हजरत क्या फरमा रहे थे ? उन्होंने कहा, 'हम लोगों से हमदर्दी दिखलाना चाह रहे हैं ताकि हम लोग इनके सामने खुल कर अपनी बात किया करें; और कोई बात नहीं।' शायद बड़े अफसरों के बीच भी इंदिरा जी के विरुद्ध षड़यंत्र चल रहा था। एक शाम दिल्ली में अपने एक परिचित केन्द्रीय अफसर के डेरे पर मैं गया। उनके साथ दो-एक और अफसर मित्र पहले से ही बैठे थे। चुनाव की बात चली तो सभी चुप लगा गए। उससे भी मुझे लगा, सरकार के प्रति अफसरों का रुख ठीक नहीं। क्योंकि वे सरकारी नौकर थे, तो सरकारी पार्टी के समर्थन में तो बोल ही सकते थे। उसमें तो कोई भय नहींथा। 18

मार्च, 77 को मतदान के दिन अफसरों ने जनता उम्मीदवारों को सचमुच बड़ी मदद पहुंचाई। उस दिन मतदान केन्द्रों पर जनता उम्मीदवारों ने तीन-तीन, चार-चार लाख के 'बैलेट- ओवर ड्राफ्ट' जो भंजा लिए वह सब अफसरों का ही कृपाप्रसाद था। दस-बारह साल का लड़का भी वोट डाल आया, वह भी एक बार नहीं, पच्चीमों-पचासों बार। और कहीं कोई रोक-टोक नहीं।

हालांकि इमरजेंसी का अपना ही रंग साल-छह महीने में उड़ने लग गया था। इमरजेंसी में कोई खास काम-वाम नहीं हो रहा था, बस हौआ और ढिंढोरा ज्यादा। उसकी भी कुछ झांकियां देख ही लीजिए :—

मोतीहारी में मेरे एक वकील मित्र हैं, आनन्दस्वरूप जी। सदाबहार चेहरा। मस्त-मौला आदमी। बिना कोट-पैंट के ही कचहरी कर आते हैं। एक रोज कचहरी जा रहे थे, तो रास्ते में एल० एन० डी० कालेज के पास पुलिस सिपाही ने पकड़ लिया—'चलऽ बइठऽ इम्तीहान में।' लाख समझाया कि स्टूडेंट नहीं, वकील हैं, पर सिपाही मानने को तैयार नहीं : 'ढेर उड़ जन। चुपचाप चल के इम्तीहान द, न त इमरजेंसी बा। सीधे चालान हो जइब।' एक लेक्चरर ने पहिचाना तो उनकी जान बची।

नारायणपुर कालेज के प्रिंसिपल आंदोलन-समर्थक थे। उन्हें डी०आई०आर० के अंतर्गत गिरफ्तार कर लिया गया। 'ग्राउंड्स ऑफ डिटेनशन' में एक ग्राउंड यह भी था : "आपने परीक्षा में बहुत सख्ती बरती जिसके कारण बहुत से परीक्षार्थी परीक्षा छोड़ कर चले गए, इस प्रकार आपने परीक्षा-संचालन कार्य में बाधा पहुंचाई।"

बिहार के एक कैबिनेट मंत्री, बैठाजी ने चम्पारण जिले के अफसरों की मीटिंग में कहा : "सुनिए साहब ! हम एके गो बात जानते हैं। भर इमरजेंसी घूस-रिसवत रोक देना है। इमरजेंसी खतम हो जाए, त हम लोग भी चालू हो जाएंगे, आप लोग भी चालू हो जाइएगा।" यह मुझे खुद जिलाधीश महोदय ने सुनाया था। हालांकि कहीं कुछ रुका नहीं, सब जैसे का तैसे चलता ही रहा।

पटना के बांकीपुर पोस्ट आफिस में एक दिन पोस्टकार्ड के लिए हम लोग लाइन में काफी देर तक खड़े रहे। काउंटर-क्लर्क नदारद। आध-पौन घंटे बाद चाय-वाय पीकर लौटा तो लोग उस पर बरस पड़े—"···इमरजेंसी को मजाक बना दिया···काम-धाम से कोई वास्ता नहीं···घंटों गायब।" वह पट्ठा भी डट गया : "बेसी बोलिए मत, प्रधानमंत्री जी रोज कहती हैं कि इमरजेंसी में खूब काम हो रहा है···और इ हल्ला किए हुए हैं कि कोई कामें नहीं हो रहा है··· चढ़ाइए पैसा।' अजीब अभागा है यह देश, इसका जो हाल सामान्य काल में, वही आपात्काल में।

सन् 1976 के मार्च-अप्रैल मे ही लोग जेलों से छूटने लग गए थे। जून-जुलाई

आते-आते, कुछ प्रमुख नेताओं और कार्यकर्ताओं को छोड़, बहुत सारे आंदोलन-कारी रिहा कर दिए गए। अधिकतर लोग इमरजेंसी के पांच-छह महीने बाद से ही उकताने लगे थे और उनका खयाल था कि आंदोलन में अब कोई दम नहीं है, इसे उठा ही लेना चाहिए। प्रतिष्ठा कैसे बची रह जाए, यही युक्ति किसी को नहीं सूझ रही थी। बिहार के एक प्रमुख नेता और भूतपूर्व मुख्यमंत्री, जो मिसा में गिरफ्तार कर पटने में ही रखे गए थे, बाहर निकलने के लिए इतने बेचैन हो उठे कि उन्होंने कई हिकमतें लगानी शुरू कर दीं। उनसे भी बड़े-बड़े और कई लोग थे जो बीस-सूत्री कार्यक्रम तक के समर्थन में इंदिराजी तक अपना कातर-संदेश पहुंचवा चुके थे। बाला साहब देवरस बहुचर्चित व्यक्ति रहे हैं। उन्हीं दिनों चौधरी चरणसिंह ने अपने दल के लोगों के पास एक साइक्लोस्टाइल्ड परिपत्र भेजा था जिसमें उन्होंने आंदोलन और जे०पी० की निंदा की थी। उन्होंने लिखा था कि इस तरह के आंदोलन का लाभ बड़े थैलीशाहों और उद्योगपतियों को ही मिलेगा। सत्तापक्ष के लोग तो जे० पी० को फासिस्ट कहने ही लगे थे, चौधरी साहब को भी वे एक तानाशाह नजर आ रहे थे। यहां मैं एक यह बात भी कह देना चाहता हूं कि सत्तापक्ष के समर्थकों ने जे० पी० को फासिस्ट और प्रतिपक्ष के लोगों ने इंदिराजी को तानाशाह बताकर आरोप-प्रत्यारोप का जो कुत्सित-वाक्युद्ध छेड़ रखा था, उसका कोई संबंध वास्तविकता से नहीं, दोनों पक्षों की कटुता और हठधर्मिता से था। स्वर्ग से देवदूत भी उतर कर धरती के लोगों को यदि यह विश्वास दिलाना चाहते कि जे० पी० फासिस्ट थे, तो उन्हें स्वयं ही उपहासित होकर लौट जाना पड़ता। और जो लोग इंदिरा जी को तानाशाह कहते रहे हैं, असल में उन्हें किसी तानाशाह से कभी पाला ही नहीं पड़ा। इंदिरा जी सचमुच तानाशाह होतीं, तो '77 में संसद का चुनाव हर्गिज नहीं हुआ होता। जनआक्रोश की सच्ची और पूरी खबर यदि उन्हें थी, और उन्होंने जान लिया था कि हवा का रुख बिल्कुल उनके खिलाफ है, फिर भी उन्होंने चुनाव कराने की घोषणा कर दी और मुक्त मतदान होने दिया—यह क्या किसी तानाशाह का लक्षण है? पाकिस्तान तो बिल्कुल पड़ोस में ही है। वहीं देख लीजिए। इंदिरा जी एक दृढ़संकल्प व्यक्ति और अति सशक्त प्रशासक हैं, तानाशाह नहीं। यह बात अलग है कि एक लोकतंत्र को अपने प्रधान मंत्री से संकल्प और शक्ति के अति-रिक्त और भी कई श्रेष्ठ अपेक्षाएं रहती हैं। लेकिन प्रतिपक्ष से कोई श्रेष्ठ अपेक्षा नहीं रहती क्या? जनता से नहीं रहती क्या? संसदीय लोकतंत्र को इंदिरा जी से तो अपेक्षा थी कि हाईकोर्ट के फैसले के बाद पदत्याग कर सत्ता से विलग हो जाएं, किन्तु मोरारजी भाई से अपेक्षा क्या यह थी कि संसद में बहुमत खो देने के बाद भी प्रधान मंत्री बने रहने का अपना दुराग्रह कदापि न छोड़ें? इंदिरा जी से अपेक्षा थी कि मारुति के मामले में तुरंत जांच-आयोग बिठा दें, और कांति देसाई

के मामले में मोरारजी भाई जांच की मांग को लगातार ठुकराते ही चले जाएं? देश का और अपना भला चाहते हैं तो सारी बातों पर सच्चाई और निष्पक्षता से विचार करना होगा। मुझे तो ऐसा लगता है कि इंदिरा जी में शुभ और अशुभ, दोनों ही प्रवृत्तियां बड़ी प्रबल एवं अपराजेय हैं। देश का दुर्भाग्य यह हुआ कि इंदिरा जी के प्रधानमंत्री बनने के कुछ ही वर्ष बाद से उनके दल और बाहर के प्रतिपक्षी सदा उनकी अशुभ प्रवृत्तियों से ही अपनी प्रतिस्पर्धा बनाए रहे और निरंतर पराजित होते चले गए। प्रतिस्पर्धा और टक्कर यदि उभय पक्ष की शुभ-प्रवृत्तियों के बीच हुई होती, तो उस पुण्य-पथ में स्वयं पराजित होकर भी लोग देश को निहाल कर जाते।

इमरजेंसी के दिनों में जो लोग बाहर थे, उनमें ऐसे भी कई लोग थे जो आंदोलन के भोले-भाले समर्थकों और सहायकों के समक्ष बड़ी-बड़ी जीभ निकाल कर हांफते हुए यह प्रदर्शित करना चाहते थे कि वे अकेले अपने ही कंधों पर सारे आंदोलन का भार ढोते फिर रहे हैं। यह जता कर कि पाताल लोक में वे एक जबरदस्त गुप्त तैयारी में जुटे हैं जिसके परिणामस्वरूप भयंकर भूचाल होने वाला है, कई सूत्रों से वे मोटी-मोटी रकमें ऐंठते रहे। पैसा देने वालों को पाताल लोक का रास्ता कहां मालूम था कि स्वयं जाकर देख आएं कि वहां सचमुच क्या हो रहा है। इमरजेंसी जितने अधिक दिनों तक चलती, उन प्रपंचियों के उतने ही अधिक पौ-बारह थे। लेकिन हमारे कुछ ऐसे भी साथी थे जिन्हें लगता था, देशहित में सामान्य स्थिति का लौट आना अत्यावश्यक है। हमने आपस में विचार किया कि अब इस दिशा में कुछ प्रयास चलाना चाहिए। बिल्ली के गले में घंटी कौन बांधे, यही समस्या थी। मैंने एक छोटा-सा प्रेस वक्तव्य तैयार किया। बिहार के एक प्रमुख अंग्रेजी दैनिक के संपादक, जिनसे मेरा प्रेम-भाव चला करता है, उनसे जब मिला तो वक्तव्य पढकर वे चौंके। बयान यद्यपि बहुत नपा-तुला और छोटा था, फिर भी उसमें 'रिकैल्सिट्रंस' और 'बिटरनेस' शब्द प्रयुक्त हुए थे जो सरकार पर भी लागू हो जाते थे। उन्होंने मुझे बयान नहीं प्रसारित करने की सलाह दी। इमरजेंसी और सेंसरशिप के कारण उन्हें भय था कि इससे हम दोनों ही बड़े झमेले में पड़ जाएंगे। मैंने उनसे कहा कि वे मेरी चिंता न करें; हां, यदि वे स्वयं झमेले में फंसते हों, तो उसे छोड़ दें। बयान अंग्रेजी के किसी अखबार में तो नहीं छपा, लेकिन चार-पांच दिनों बाद, 2 फरवरी '76 को बिहार के एक प्रमुख हिन्दी दैनिक, 'प्रदीप', में वह कट-छंट कर प्रकाशित हुआ :

> बिहार राज्य सोशलिस्ट पार्टी के जन सम्पर्क सचिव श्री अरुण भोले ने एक प्रेस वक्तव्य प्रसारित कर सरकार तथा आंदोलनकारियों से अपील की है कि वे देश में एक ऐसी सामान्य स्थिति उत्पन्न करें जिसमें देश के समक्ष उप-स्थित व्यापक प्रश्नों पर दोनों पक्ष एक-दूसरे के दृष्टिकोण को ठीक-ठीक

समझने में समर्थ हो सकें। उन्होंने कहा है कि कटुता और दुराग्रह से मुक्त हुए बिना किसी भी पक्ष के लिए ऐसी स्थिति उत्पन्न करना संभव नहीं, तथापि इस दिशा में पहल करने के लिए सरकार ही अधिक सक्षम है।

और भी कई कोने से वैसी आवाज हल्के-हल्के उठने लगी। शनिवार, 13 नवम्बर '76 को, जे० पी० के कदमकुआं निवास पर अखिल भारतीय विरोधी दलों के नेताओं की जो बैठक हुई, उसमें राष्ट्रपति श्री फ़खरुद्दीन अली अहमद से हुई अपनी पिछली भेंट की चर्चा करते हुए जे० पी० ने श्री अशोक मेहता को बताया कि उन्होंने राष्ट्रपति से यह जानना चाहा था कि सामान्य स्थिति की पुनः स्थापना के लिए इंदिरा जी को जे० पी० अथवा विरोधी दलों से क्या अपेक्षाएं हैं और वे किन बातों से संतुष्ट होंगी ताकि उन बातों पर विचार किए जा सकें। लेकिन इंदिरा जी के पक्ष से उस संबंध में उस दिन तक जे० पी० के पास कोई संदेश नहीं पहुंचा था।

पटने में विरोधी दलों की वह बैठक दो दिनों तक चलती रही जिसमें संगठन कांग्रेस की ओर से दल के अखिल भारतीय अध्यक्ष अशोक मेहता, महासचिव रानी पाटियाला, विहार राज्य अध्यक्ष सत्येन्द्र नारायण सिंह, भारतीय लोकदल की ओर से भानुप्रकाश सिंह एम० पी०, भारतीय जन संघ की ओर से ओमप्रकाश त्यागी; सोशलिस्ट पार्टी के एन० जी० गोरे, सुरेन्द्र मोहन तथा सर्वोदय की ओर से दादा धर्माधिकारी आदि बैठे थे। नीचे वाले कमरे में रामसुन्दर दास और मंजे लाल के साथ मैं भी बैठा था: मीटिंग ऊपर वाले कमरे में चल रही थी। एक नई पार्टी के गठन की दिशा में पिछले कुछ महीनों से जे० पी० जो प्रयास चला रहे थे, उसमें गतिरोध बना ही रह गया।

पहला विवाद तो यही उठा कि : अंडा तोड़ कर मुर्गी निकले या निकल कर मुर्गी अंडा तोड़े—पुरानी पार्टियों को पहले विघटित कर दिया जाए, तब नई पार्टी बने अथवा पहले नई पार्टी बना ली जाए तब पुरानी पार्टियां विघटित हों। अशोक मेहता का कहना था कि वर्तमान दलों के विघटन के प्रश्न पर पहले विचार हो जाए, लेकिन लोकदल के भानुप्रताप चाहते थे कि नए दल की उत्पत्ति के संबंध में ही विचार हो; उसी में जो आना चाहें, आएं। पुराने दलों के विघटन का प्रश्न, यदि आवश्यक हो तो, बाद में उठे। सुरेन्द्र मोहन ने जब यह कहा कि सभी पार्टियों ने जे० पी० को अधिकृत कर दिया है कि वर्तमान पार्टियों के विघटन तथा नई पार्टी की स्थापना के संबंध में वे निर्णय लेकर स्वयं ही इसकी घोषणा कर दें, तो अशोक मेहता ने उसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि उनकी पार्टी (संगठन कांग्रेस) ने तो ऐसा अधिकार जे० पी० को कभी नहीं सौंपा था। और जब तक ऐसा कहने और करने का स्पष्ट पार्टी-आदेश स्वयं मेहता जी को ही नहीं मिल जाता, पार्टी-अध्यक्ष होते हुए भी, अपनी ओर से जे० पी० को ऐसा कोई

अधिकार देने में अभी वे अक्षम हैं। इन सब बातों से जे० पी० इतने खिन्न हो उठे कि एक बार झल्ला कर उन्होंने कहा : "मैं अब इन सब झमेलों में नहीं पड़ूंगा। आप लोगों के जो जी में आए, कीजिए।" बैठक अगले दिन, रविवार को भी हुई।

सुरेन्द्र मोहन ने एक योजना प्रस्तुत की : एक नया दल बने जिसका नाम नेशनल डेमोक्रॉटिक सोशलिस्ट कांग्रेस हो। दल का अध्यक्ष पद, भारतीय लोक-दल (चौधरी चरणसिंह) को तथा उपाध्यक्ष पद, संगठन कांग्रेस को दिया जाए। दो महामंत्री हों, जिनमें एक जनसंघ से लिया जाए और दूसरा, चंद्रशेखर या कृष्णकांत या अन्य कोई जो रूलिंग कांग्रेस से आएं, उनमें से ले लिया जाए। कार्य-कारिणी की सदस्य संख्या 35-40 हो लेकिन सभी सदस्य निर्वाचित हों, कोऑप्टेड नहीं। सुरेन्द्र मोहन ने जब यह कहा कि ये सब उनके आकस्मिक विचार (स्ट्रे थॉट्स) हैं तो अशोक मेहता ने उनसे कहा कि अच्छा हो, पहले सुरेन्द्र जी अपने विचारों को सुव्यवस्थित (ऑर्गॅनाइज) कर लें। जे० पी० ने भी दो बातें कहीं : दल के नाम में 'कांग्रेस' शब्द छोड़ ही दिया जाय तो अच्छा रहे तथा 'कोऑपशन' की विधि अप्रजातांत्रिक नहीं। जब वे लोग सोशलिस्ट पार्टी में थे, तब भी यह रिवाज था।

गठन-विघटन, नाम, अध्यक्ष-पद आदि प्रश्नों पर दलों के पारस्परिक मतभेदों के कारण नए दल की योजना दलदल में ही फंसी रह गई और बैठक उस बार यों ही समाप्त हो गई।

कोई महीना-डेढ़ महीना पहले, अशोक मेहता और चौधरी चरणसिंह के बीच भी नई पार्टी की स्थापना के संबंध में अलग से वार्ता और पत्राचार हो चुके थे। नई दिल्ली से 28 सितम्बर को अशोक मेहता ने चौधरी साहब के पास जो पत्र लखनऊ भेजा था, उससे लगता है कि उन दोनों के बीच प्रस्तावित पार्टी के नाम, उद्देश्य, कार्य-पद्धति आदि कई बिन्दुओं पर सहमति हो चुकी थी। केवल अध्यक्ष-पद के संबंध में निर्णय के लिए मोरारजी भाई की रिहाई या राय की प्रतीक्षा की जा रही थी। लेकिन, लखनऊ से 24 अक्टूबर को चौधरी साहब ने अशोक मेहता को जो पत्र भेजा, उसमें वे पिछली बातों से बिल्कुल मुकर गए। उन्होंने लिखा कि अपनी ओर से अब तक मेहता साहब को उन्होंने जो भी बातें कही या लिखी थीं, वे सब उनके निजी विचार थे, दल के नहीं। और उन्होंने मेहता साहब को भी उनकी निजी हैसियत में ही लिखा था, संगठन कांग्रेस के अध्यक्ष के नाते नहीं। चौधरी साहब ने आगे यह भी लिखा कि असल में उनसे कुछ जल्दबाजी हो गई जिसके लिए उन्हें खेद है। उनके दल (भालोद) अथवा जनता को उनका निर्णय पसंद नहीं। और चूंकि वे सभी प्रश्न राष्ट्रीय महत्त्व के हैं, इस-लिए दल या जनता के विचारों की अवहेलना बिल्कुल नहीं की जा सकती।

नई पार्टी की स्थापना और गठन के सिलसिले में सबसे जटिल प्रश्न, अध्यक्ष-पद बन गया था। उस गतिरोध को दूर करने के इरादे से अपने कुछ मित्रों की आपसी बात-चीत में हम इस राय पर पहुंचे थे कि यदि श्री चंद्रशेखर राजी हो जाएं, तो अध्यक्ष-पद पर उनका मनोनयन वर्तमान परिस्थिति में श्रेयस्कर होगा। साथ ही, हम यह भी चाहते थे कि गांधी जी के पौत्र, श्री राजमोहन गांधी को भी नई पार्टी में सम्मिलित करने का प्रयास किया जाए। चंद्रशेखर जी जेल में थे और इमरजेंसी का जमाना था। उनसे संपर्क करना हम लोगों के लिए संभव नहीं था। फिर, जब तक बड़े लोग न पड़ते, इतनी बड़ी बात में हमारे किए कुछ हो भी नहीं सकता था। जयप्रकाश जी बीमार होकर बम्बई के जसलोक अस्पताल में पड़े थे। वहां जाना भी कोई आसान न था। सीधे उनके पास पत्र भेजता, तो इंटरसेप्सन का खतरा। इसलिए मैंने सोचा, प्रभावती जी के छोटे भाई शिवनाथ बाबू को कलकत्ता पत्र लिख कर उनसे आग्रह करूं कि वे जे० पी० तक हमारा संवाद पहुंचा दें। वे जे० पी० को देखने बराबर बम्बई आया-जाया करते थे। मैंने 20 अक्तूबर को पत्र लिखकर उनसे आग्रह किया कि श्री चंद्रशेखर के अध्यक्ष-पद पर मनोनयन एवं श्री राजमोहन गांधी को प्रस्तावित पार्टी में सम्मिलित किए जाने के संबंध में हमारा सुझाव वे जे० पी० तक यथाशीघ्र पहुंचाने की व्यवस्था कर दें। अगले वर्ष भी, 18 अप्रैल '77 को इस संबंध में मैंने जे० पी० को फिर एक पत्र बम्बई भेजा। मैंने उन्हें लिखा कि जनता पार्टी के वर्तमान अध्यक्ष श्री मोरारजी भाई अब तो देश के प्रधान मंत्री बन चुके हैं। सरकार को उनके नेतृत्व की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में जनता पार्टी के अध्यक्ष पद के कार्यभार से भी उन्हें बोझिल रखना शायद उचित न हो। तब, जनता पार्टी के अध्यक्ष-पद का महत्त्वपूर्ण दायित्व सौंपने के लिए किसी अन्य सुयोग्य पात्र के चयन की दिशा में भी लोगों को सर्वाधिक अपेक्षा जे० पी० से ही रहेगी, यह नितांत स्वाभाविक है। मैंने आगे लिखा कि ऐसे अवसर पर मेरे जैसे अनेक लोगों के मन में भाई चंद्रशेखर बरबस चले आते हैं। निष्ठा, साहस और सच्चरित्रता जैसे सद्गुणों से युक्त होने के कारण उनकी जन-छवि जितनी आकर्षक और लोकप्रिय बन कर उभरी है, जनता पार्टी के अध्यक्ष-पद की गरिमा के साथ उसका संयोजन लोकप्रेरक सिद्ध होगा, हमें इसकी पूरी आशा है।

1 मई '77 को दिल्ली में जनता पार्टी के उद्घाटन-सम्मेलन के एक दिन पूर्व विट्ठलभाई पटेल भवन में सोशलिस्ट पार्टी का समापन सम्मेलन हुआ। अध्यक्षता जार्ज फर्नाण्डिस कर रहे थे। एक प्रस्ताव था कि मधुलिमये को अधिकृत कर दिया जाए कि सर्वदलीय-समिति के समक्ष जनता पार्टी के अध्यक्ष के निर्वाचन के प्रश्न पर सोशलिस्ट घटक के विचारों का प्रतिनिधित्व वे ही करें। अध्यक्ष-पद के लिए लिमये स्वयं ही मन-लड्डू बांध रहे थे। तब बिल्कुल साफ था,

कि वे समिति में क्या कहेंगे और क्या करेंगे। इसलिए मैंने उस प्रस्ताव का बहुत विरोध किया। मैंने एक संशोधन रखा था कि सर्वश्री एच०वी० कामथ, समर गुहा एन०जी० गोरे, जार्ज फर्नाण्डिस, बसावन सिंह, सरदार हरभजन सिंह आदि नौ सदस्यों की एक उप-समिति गठित कर दी जाए जिसकी राय ही मधुलिमये सर्व-दलीय-समिति में पेश करें, अपनी स्वतंत्र राय नहीं। जब मैं बोलने उठा, तो लिमये-समर्थकों ने हल्ला मचाना शुरू कर दिया, बैठ जाओ···बैठ जाओ। लगभग पंद्रह मिनटों तक उस शोर-शराबे के बीच मैं डटा रहा। लेकिन लिमये एण्ड कम्पनी ने मेरे संशोधन का गला घोंट दिया। असल में मेरी नीयत थी कि जनता पार्टी के अध्यक्ष भाई चन्द्रशेखर निष्कंटक निर्वाचित हों। मेरी समझ यह रही कि जनता पार्टी के रूप में जब हमारा नया जन्म हो रहा है, तो हमें अपने पूर्व जन्म की बातें बिल्कुल भुला ही देनी चाहिए। एक योग्य और चरित्रवान व्यक्ति, पहले चाहे जिस भी घटक अथवा दल से सम्बद्ध रहा हो; जनता पार्टी के प्रति निष्ठावान और समर्पित है, तो उसकी पूछ पहले होनी चाहिए। मुझे सचमुच बड़ी खुशी हुई जब अंततो-गत्वा भाई चन्द्रशेखर ही अध्यक्ष बने। लेकिन आगे चलकर मुझे इसकी बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। कुछ ही महीने बाद, टिकटों के बंटवारे के समय जनता पार्टी में मैं सोशलिस्ट घटक का ही विशेष कोपभाजन बना। और जिस चंद्रशेखर भाई के लिए मैंने उतना सब कुछ किया था, मेरी गुहार पर उनके कान में जूं तक न रेंगी।

राज्यों में विधान सभाओं के चुनाव अभी हुए नहीं थे, केवल टिकट ही बंटे थे। टिकट बंटवारे के तुरंत बाद मैंने चंद्रशेखर को एक पत्र लिखा था। पत्र है तो लम्बा, फिर भी जब आपने इतना सब कुछ पढ़ा है, तो थोड़ा और धैर्य रख कर इसे भी पढ़ ही लीजिए। रस तो मिलेगा ही, जनता पार्टी की संपूर्ण जन्मकुंडली और उसके फलाफल भी इसी से मालूम हो जाएंगे :

राजेन्द्रनगर, पटना
26 मई, 1977

प्रिय चन्द्रशेखर भाई,

शायद आप यह पत्र पढ़ें भी नहीं। पत्रोत्तर की लालसा तो मात्र एक दुराशा है। आपको इतनी फुर्सत ही कहां होगी! फिर भी अपने को रोक नहीं पा रहा हूं।

मुजफ्फरपुर से दिल्ली एक लाइटनिंग-कॉल पर लगभग अस्सी रुपये खर्च आते हैं। विगत 16 से 18 मई के बीच मैंने आपके पास वैसे तीन लाइट-निंग और कोई चार अरजेंट ट्रंककॉल किए थे। फोन उठाने वाले सज्जन पूछते—'कौन बात करेंगे?' और जब उन्हें मालूम होता कि अरुण भोले नामक कोई अदना आदमी है, तो फिर—'अभी बाहर हैं,' कह कर फोन

रख देते। मुझे भांपते देर न लगती कि आप बाहर नहीं, वहीं हुआ करते थे। सोचिए ! कितनी निराशा होती होगी। मुझ जैसा मध्यवर्गीय आदमी नाहक लाइटनिंग या अरजेंट ट्रंककॉल की विलासिता की औकाद तो नहीं ही रखता। कोई वैसी ही असामान्य स्थिति उत्पन्न हुई होगी या वैसा ही कोई अत्यावश्यक कारण हुआ होगा, तभी तो उतना खर्च उठाने की मैंने हिम्मत की होगी। शायद आपका ध्यान इस मामूली-सी बात की ओर नहीं गया।

कई साल हुए, दिल्ली के 3 साउथ एवेन्यू लेन के अहाते में दक्षिण भारत के किसी एक व्यक्ति के विरुद्ध अनेक व्यक्ति कुछ मांगें लेकर कांग्रेस के युवा तुर्क से बहस कर रहे थे। वह असहाय अकेला आदमी चुपचाप किनारे खड़ा था। तभी उसके कंधे पर हाथ रखते हुए विपक्षियों से युवा तुर्क दृढ़ स्वर में बोला : "···कल जब बहुत-से लोग मेरे साथ नहीं थे, तब इसने मेरा साथ दिया था। आज, जब मेरे आगे-पीछे बहुत-से लोग खड़े हैं, और यह अकेला पड़ गया है तो मैं इसका साथ छोड़ आप लोगों का साथ दूं, यह नहीं हो सकता···' पता नहीं आपको कुछ याद भी है या नहीं। लेकिन उसी घड़ी वह युवा तुर्क चन्द्रशेखर मेरे मन में जम गया। इतना सच्चा साथी, निर्भर योग्य व्यक्ति, राजनीति में मिलता ही कहां ? उस चन्द्रशेखर के प्रति मेरे मन में विश्वास जगा। तभी से मैं उसका प्रशंसक एवं समर्थक रहा हूं।

अपने संकट की घड़ी में मैं भी उसी चन्द्रशेखर भाई को उस दिन फोन पर खोज रहा था। परंतु वे मिले नहीं। घोर निराशा हुई। शायद, अब वे चन्द्रशेखर नहीं रहे।

उस दिन आपकी सहायता तो मैं अपने लिए ही चाहता था। लेकिन, सच पूछिए तो संकटग्रस्त स्वयं बिहार की राजनीति हो चुकी थी। प्रश्न किसी एक अरुण भोले का नहीं, बल्कि उन मूलभूत नीतियों और सिद्धांतों का था जिनकी घोर अवहेलना कर अनेक अरुण भोले काट दिए गए। आप पार्टी के अध्यक्ष थे, सामर्थ्यवान थे। अनीतियों को रोकते तो संकट से अरुण भोले ही नहीं, नवजात जनता पार्टी भी उबर जाती। लेकिन समय पर लोग पुकार सुनते ही कहां ! कुछ करने की बात तो दूर रही। परिणाम ? वही, जो होता आया है—स्वास्थ्य के नियमों की अवहेलना कीजिए, शरीर रोगग्रस्त और दुर्बल हो जाएगा, और शायद अकाल मृत्यु भी हो जाए। कारण-कार्य के सार्वभौम नियम का अपवाद नहीं हुआ करता।

उस दिन तो मुझे भी नहीं मालूम था कि टिकट के बंटवारे में जात-पात, भाई-भतीजावाद, व्यक्तिगत सम्बद्धता, कोटा-सिस्टम को आधार मान इतने बड़े पैमाने पर अंधेर किया जा रहा है। मैं तो समझता था कि मेरे जैसे कुछ ही लोग हैं जो कतिपय कारणों से कुछ सबल लोगों का कोप-भाजन

बन रहे हैं। अब, जब सारी बातें सामने आई हैं, तो जान पाया कि टिकट के बंटवारे में पिछले दिनों पटना से दिल्ली तक क्या कुछ नहीं हुआ। अनीतियों की बहती गंगा में सबों ने प्रेमपूर्वक हाथ धोए। किसने कम, किसने ज्यादा—यह प्रश्न निरर्थक है। 'को बड़-छोट कहत अपराधू'।

जनता पार्टी का न कोई अनुयायी था, न नेता। जनता पार्टी—एक ढकोसला : जनसंघ के कोटे में 64, सोशलिस्ट पार्टी के कोटे में 55, 'भालोद' के कोटे में 53, संगठन कांग्रेस के कोटे में 48, कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी के कोटे में 18। अभागी जनता पार्टी के कोटे में एक भी नहीं। कोटा में भी सब-कोटा। कुछ राजपूत कोटा, कुछ भूमिहार कोटा; कुछ ब्राह्मण कोटा, कुछ यादव कोटा; योग्यता कोटा कहीं नहीं। और सबसे ऊपर कुछ सिंहजी के, कुछ तिवारीजी के; कुछ ठाकुरजी के, कुछ रामजी के; और एकाध सहायजी के भी। इतना ही नहीं : बाप एम०पी० बेटा एम० एल० ए०; पति एम० पी० पत्नी एम० एल० ए०; पत्नी एम० एल० सी०, पति एम० एल० ए०, बेटा एम० एल० ए०; एक भाई एम० पी० दूसरा भाई एम० एल० ए०; ससुर एम० पी० दामाद एम० एल० ए०; भाई एम० एल० ए०, पत्नी एम० एल० ए०, खुद राज्यसभा प्रवेश की प्रतीक्षा में। मात्र दो माह की अल्पावधि में ही, दो चुनावों के बीच, यह सब धड़ल्ले से चला। चाहेंगे, तो नाम गिना दूंगा। इंदिरा गांधी बहुत बुरी थीं। बेटे को बढ़ा कर डाइनेस्टी रूल कायम करना चाहती थीं। अंधेर कर दिया था! लेकिन यहां जो अनेक डाइनेस्टीज पनप रही हैं? इससे अंधेर नहीं होगा? यह क्या लोकतंत्र के स्वर्णिम भविष्य का द्योतक है? उत्तर समय देगा।

छात्र-कोटा की तो बात ही मत पूछिए। किसी प्रतिष्ठान का कर्मचारी, कालेज का व्याख्याता, बरसों पहले शिक्षा समाप्त कर विद्यालय से विलग हुए लोग; अनेक अपराधकर्मी जिनके विरुद्ध बलात्कार, डकैती, हत्या के अभियोग विचाराधीन हैं—ऐसे अनेक लोग छात्र-कोटा में विराजमान हैं, कल एसेम्बली को सुशोभित करेंगे। समझ लीजिए, कैसी राजनीति चलेगी, कैसा प्रशासन होगा। सुनते हैं विगत संसदीय निर्वाचन के दौरान चौधरी साहब ने ऐसे ही एक देदीप्यमान नौजवान की मार्फत 'भालोद' से संबद्ध बिहार के कुछ प्रत्याशियों की मदद के लिए एक मोटी रकम भेजी थी। हजरत ने थोड़ा बांटा और बाकी सब हजम कर गए। अब चौधरी साहब को मुंह नहीं दिखाते। नया आका बनाया है राजनारायण जी को। 18 मई को नामांकन-पत्र दाखिल करने मोतिहारी पहुंचे और घोषणा कर दी—'और किसी को हो न हो, मुझे तो मोतिहारी से टिकट मिल गया।' सैकड़ों लोगों ने उन्हें घेर कर गालियों और भद्दे नारों से स्वागत, किया—'राजनारायण

का (गाली) वापस जाओ, वापस जाओ।' जनताप्रत्याशी की जन-छवि देखिए :

कहते हैं, बाढ़ संसदीय क्षेत्र से कलकत्ते के जिस बदनाम व्यापारी और पदच्युत मेयर को टिकट मिला, वह राजनारायण का ही कृपा-प्रसाद था। सुना है पचहत्तर हजार में सौदा पटा। इधर-उधर के नहीं, जवाबदेह लोगों का कहना है। जांच करवाइए। मुजफ्फरपुर के एक व्यवसायी, जिन पर तस्करी के आरोप लगाए जाते हैं; आदरणीय श्री कर्पूरी ठाकुर के कृपा-पात्र बन गए हैं। पिछले चुनाव में ठाकुर जी की भक्ति-भाव से भरपूर पूजा की थी। ठाकुर जी ने प्रसन्न होकर संकटग्रस्त व्यापारी को अभय-दान दे दिया है। बोकारो के इमामुल हई खां और सिंदरी के तपेश्वर सिंह पर पूज्य रामानंद तिवारी जी का वरद्-हस्त है। जनता राज्य में बिहार के औद्योगिक विकास की अच्छी पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी है।

प्रत्याशियों के चयन के लिए प्रारंभ में जो प्रमाप (क्राईटेरिया) बहुचर्चित हुए, वे थे :

(क) विगत आंदोलन में सक्रिय योगदान तथा गिरफ्तारी

(ख) राजनैतिक सेवाकाल, योग्यता एवं चरित्र

(ग) संबद्ध क्षेत्र में लोकप्रियता एवं जनसमर्थन।

इन प्रमापों के संबंध में जिसने भी सुना, बड़े संतुष्ट हुए। लेकिन, तब उन्हें क्या पता था कि वे तो हाथी के दिखानेवाले दांत हैं। जनता हाथी तो खाएगा अपने अंदर वाले छिपे दांतों से ही और चबा-चबा कर सिट्ठी कर देगा सारे मान्य सिद्धांतों को। टिकट के बंटवारे में जनता नेताओं ने जो पाप किए हैं, मुझे इसमें कतई संदेह नहीं कि उसका फल पार्टी को भुगतना ही पड़ेगा। संतोष की बात इतनी जरूर है कि हमारी संसदीय लोकतांत्रिक पद्धति इससे अवश्य लाभान्वित होगी। सशक्त प्रतिपक्ष संसदीय प्रणाली की रीढ़ है, और टिकट के बंटवारे में जो तरीके अपनाए गए हैं उनके परिणामस्वरूप इस बार सदन प्रतिपक्षी सदस्यों से भी खचाखच भरा रहेगा, इसकी पूरी संभावना है। इस दृष्टि से जनता पार्टी के नेताओं ने अनजाने ही लोकतंत्र की एक महत्त्वपूर्ण सेवा कर दी है।

मानता हूं, जो खेत चिड़िया चुग गई उस पर पछताने से क्या लाभ। लेकिन आगे की खेती तो बचाई ही जा सकती है। अगर वह भी नहीं किया गया तो भयंकर दुर्भिक्ष का सामना करने की तैयारी ही करनी चाहिए। अन्य कोई विकल्प नहीं।

प्रणाम।

भवदीय

अरुण भोले।

मेरी तीनों भविष्यवाणियां ठीक निकलीं : उस बार बिहार विधानसभा में गैर-जनता सदस्यों की भरमार हो आई—सदन प्रतिपक्षी सदस्यों से खचाखच भर गया। ढाई साल भी बीत न पाए कि जनता सरकार की अकाल मृत्यु हो गई। और तब से आज तक जनता पार्टी को भयंकर 'दुर्भिक्ष' का सामना भी करना पड़ रहा है।

ऐसे कई योग्य लोग थे जिनकी टिकट के मामले में घोर उपेक्षा की गई थी। श्री कृष्णबल्लभप्रसाद सिंह ऐसे ही उत्तम पुरुषों में हैं जिन्हें उच्च राजनैतिक संस्कार अपने पिता, गंगेया के स्व० बाबू मथुरा प्रसाद सिंह, से विरासत में प्राप्त हुए थे। राजेन्द्र बाबू ने आत्म-कथा में कई जगहों पर बड़े प्रेम और प्रशंसा से मथुरा बाबू का उल्लेख किया है। उनकी गणना मुजफ्फरपुर जिला कांग्रेस के संस्थापक एवं संचालकों में की जाती थी। राजेन्द्र बाबू, श्री बाबू, अनुग्रह बाबू, सभी लोग उनका बड़ा आदर करते थे। मथुरा बाबू की एकमात्र संतान कृष्णवल्लभ जी का लालन-पालन देशप्रेम, संघर्ष और त्याग के वातावरण में हुआ था। एक अति प्रबुद्ध एवं सुसंस्कृत व्यक्ति हैं कृष्ण वल्लभ चाचा जिनमें आचार-विचार की सदा से इतनी ऊंचाई रही कि उनसे अधिक उम्र के लोग भी उनकी इज्जत करते रहे हैं। किसी विषय पर बोलना शुरू करें, तो तबीयत होगी, वे बोलते ही जाएं। आप यदि तत्त्वग्राही हों, तो आपका मन ही न अघाए। लेकिन छांट दिया जनता लीडरों ने उनको केवल इसलिए कि वे किसी व्यक्ति या जात के गुट में नहीं थे।

ऐसी बेमुरव्वत और कमीनी चीज है राजनीति कि इसमें उसी के हाथों आपकी गरदन उतर जाएगी जिस पर आप फिदा रहे होंगे और जिसके लिए आपने कभी खून-पसीना एक कर दिया होगा। सन् 1977 के लोकसभा चुनाव के वक्त सत्येन्द्र बाबू ने उम्मीदवारों की जो सूची बनाई थी उसमें मोतीहारी लोकसभा क्षेत्र के लिए मेरा नाम पहला रखा। मैंने कहा, ठाकुर साहब हमारे सीनियर लीडर हैं। हमारी पार्टी के राज्याध्यक्ष रह चुके हैं। एम० एल० ए० थे—जे० पी० के आह्वान पर इस्तीफा दे दिया था। मेरे पिताजी के मित्रों में रहे हैं—उनके रहते मैं उस सीट का प्रत्याशी नहीं बन सकता। फातमी चाचा और कुछ लोग जे० पी० से भी कह चुके थे, अरुण पार्लियामेंट में हमलोगों के लिए 'ऐसेट' होगा। लेकिन ठाकुर साहब के लिए अपनी ओर से ही मैंने मैदान खाली कर दिया और उनके चुनाव में तन-मन-धन से जितना परिश्रम किया उससे अधिक यदि मैं स्वयं भी उम्मीदवार होता तो नहीं कर सकता था। मुझमें जितनी शक्ति-सामर्थ्य थी, पूरी की पूरी लगा दी। वे विजयी हुए। लेकिन तीन ही महीने बाद जब ऐसेम्बली का चुनाव आया तो उसी ठाकुर महोदय ने मेरी पीठ में पहला छुरा भोंका था। एक और मित्र थे जिनके बारे में यदि कहूं कि राजनीति में मैंने ही उनका प्रवेश-परिचय कराया था जब उनकी

कहीं कोई हैसियत न थी, तो मेरा कहना गलत न होगा। उनके दुर्दिन में मेरे घर का दरवाजा सदा उनके लिए खुला रहता था। मित्र की हालत जब बहुत नाजुक हो चली थी तो मैंने अपने फूफा के बोकारो सिनेमा में उन्हें काफी अच्छी तनख्वाह और ठाठ की मैनेजरी दिलवा दी। कृष्ण वल्लभ चाचा जैसे मुजफ्फरपुर के कई गण्यमान्य लोग सारी बातों के गवाह हैं। लेकिन अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा पूरी कर लेने के लिए उस मित्र ने मेरी तड़पती लाश पर खड़े होकर छलांग लगाई। जनता सरकार में वे जनस्वास्थ्य-अभियंत्रणा मंत्री बने। अब परलोकवासी हो चुके हैं। आगे चल कर कांग्रेस (इ०) में भी मेरे साथ फिर वैसी ही दुर्घटना हुई। उस प्रसंग में केवल इतना ही कह दूं कि डॉ० जगन्नाथ मिश्र में लोग भले ही कुछ ऐब भी बतावें, लेकिन बिहार कांग्रेस में मुझे तो ऐसा कोई नहीं दीखता जो उनसे अच्छा हो। डा० मिश्र में कई खूबियां हैं। एक बहुत बड़ी खूबी मित्रों के प्रति उनकी वफादारी है। वे निभाना खूब जानते हैं। यह एक बड़ी बात है। यद्यपि मैं पहले भी उनका प्रशंसक था और आज भी हूं, लेकिन मेरा निजी दुर्भाग्य यह रहा कि मैं उनका मित्र नहीं बन पाया इसलिए मुझे उनसे कोई मदद न मिली, तो उनका दोष नहीं। बिहार कांग्रेस की राजनीति के बारे में सब कुछ जान-समझ कर भी कोई आत्म-हत्या कर लेने पर तुल जाए तो केदार पांडे और विद्याकर कवि पर भरोसा कर लेना ही उसके लिए काफी होगा। मैंने भी वही किया था। लेकिन अब छोड़िए उन गंदी बातों को। वैसे ही लोगों के बारे में कबीर कह गए: गहरा मार कबीर का कि चित से दियो उतार।

मुझे कभी टिकट नहीं मिला उसका उतना रंज नहीं। मेरे बदले किसी ज्यादा लियाकतमंद को दिया जाता तो संतोष होता। किसी बराबरी वाले को भी मिल जाता तो गिला न था। लेकिन संस्कृत का एक श्लोक है:—

अग्निदाहात् न मे दुखं न दुखं लौह ताडनात्।
इदमेव मया दुखं गुन्जया सह तौलनम्॥

सोना सुनार से कहता है: जब तू मुझे अग्नि में तपाता है, तो मुझे पीड़ा नहीं होती। जब लोहे के हथौड़े से पीटता है तब भी कष्ट नहीं होता। किंतु, जब तू मुझे तुच्छ करजनी के साथ तौल देता है तो मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। अपनी चुनाव-व्यथा के संबंध में इससे अधिक मैं कुछ कहना नहीं चाहता।

जे० पी० से मेरी अंतिम बातचीत 24 जनवरी (1978) को हुई थी। कई महीनों बाद गया था। मुझ से पूछ बैठे, "बहुत दिन पर अएलऽ।" मैंने भी अपना क्षोभ प्रकट कर दिया—"एक समय था जब आप से मिलवाने के लिए लोग मुझको पकड़ते थे। अब अगर खुद मुझे ही आपसे मिलने के लिए दूसरों को पकड़ने की जरूरत पड़ जाए, तो अच्छा है मैं नहीं ही मिला करूं।" उन्होंने पूछा,

"हुआ क्या ?" मैंने कहा, "बस इतना ही कहूंगा।" लेकिन उतने से ही वे सब समझ गए। (सदा की भांति उस बार भी हमलोगों की सारी बातें अपनी घरेलू बोली भोजपुरी में ही हुई थीं लेकिन यहां उनका उल्लेख मैं हिन्दी में कर दे रहा हूं) पांच-सात मिनटों के बाद मैं उठने लगा तो उन्होंने रोका—"अभी बइठऽ।" मैं बैठ गया। तब लगभग सवा घंटे तक उनके पास बैठा चर्चाओं में भाग लेता रहा। गंगा बाबू और श्री धर्मवीर भी बैठे थे। कर्पूरी-सरकार के कार्यकलापों का प्रसंग छिड़ गया। धर्मवीर कर्पूरी बाबू की बड़ी नुक्ता-चीनी कर रहे थे। जे० पी० मुझ से पूछ बैठे, "यह सब ऐसे क्यों चल रहा है ?" जी में आया कह दूं, मैं न तो मंत्रिमंडल में हूं, न विधानमंडल में; तो मैं क्या जानूं ? किंतु जब एक अवसर मिल ही गया, तो मैं चूकना भी नहीं चाहता था। एक बात जबान पर आते-आते रुक गई; कहना चाहता था, "जमानतदार तो आप ही बने थे।" लेकिन बड़ी ज़बानदराजी हो जाती, सो मेरी भाषा बदल गई। मैंने उन्हें याद दिलाते हुए कहा : "गांधी मैदान की जनसभा में आपने ही कहा था, 'जब तक मैं हूं, एक भी गलत आदमी एसेम्बली या पार्लियामेंट में नहीं जाने पावेगा,' लेकिन जब एसेम्बली का चुनाव आया, तो दुर्भाग्यवश आप अलग रहे। नतीजा यह हुआ कि सही लोग एसेम्बली में मुश्किल से पहुंच पाए। वहां गलत लोगों की ही भरमार हो आई। अब सरकार चाहे कर्पूरी जी बनावें या सत्येन्द्र बाबू अथवा कैलाशपति मिश्र या रामानंद तिवारी; एसेम्बली में जैसे तत्त्व उपलब्ध हैं, सरकार गठित करने में उन्हीं का उपयोग तो करना होगा।" जे० पी० को मेरी बात कुछ लग गई, सो झुंझलाते हुए बोले—"मैं नहीं मानता कि वे लोग हैं तो सब गड़बड़ है, तुम रहते तो सब ठीक रहता।"

मैं तो पहले से ही जला था, उस पर यह नमक पड़ गया तो जवाब भी तीखा ही निकला—"मैं यह नहीं कहता कि मैं अकेले सब ठीक कर देता, लेकिन मेरे ही जैसे लोग ज्यादा रहते तो जरूर सब ठीक कर देते। मेरी एक कठिनाई यह भी रही कि आपके-मेरे बीच पिता-पुत्र का सा संबंध रहा और बेटा बूढ़ा भी हो जाए, तो भी बाप की नजर में नाबालिग ही बना रहता है। असल में आपको मेरा मोल कभी समझ में आया ही नहीं।" अपना संताप प्रकट करते हुए कर्पूरी बाबू ने एकाधिक बार मुझसे कहा था कि जितने भी एम० एल० ए० उनसे मिलने आते थे, उनमें सैकड़े में से 95 लोग केवल ट्रांसफर-पोस्टिंग के चक्कर में ही पहुंचते। जनता की समस्याओं की तो कोई बात ही नहीं करता। और भारी विपदा यह कि पांच विधायक चिल्लाते, अमुक अफसर बड़ा बेईमान है उसको तुरंत हटाइए और पांच कहते, वह बड़ा ईमानदार अफसर है, उसको हटाना अन्याय होगा। मैंने वह सब भी जे० पी० को बता दिया।

उन दिनों जे० पी० के इर्द-गिर्द जिस 'कॉकस' की घेराबंदी हो चली थी

उसमें कोई मोरारजी भाई से तो कोई चौधरी चरण सिंह से, कोई जगजीवन राम से तो कोई कर्पूरी जी आदि से पोषित होता था। तटस्थ और निष्पक्ष लोगों का जे० पी० तक पहुंच पाना लगभग असम्भव था। बीमार और विस्मृतिग्रस्त जे० पी० के दुरुपयोग की होड़ में अक्सर अखबारों में खंडन-मंडन के समाचार आ जाते। जे० पी० के दस्तखत से अनेकों अजीबो-गरीब चिट्ठियां शायद अब भी बिहार और भारत सरकार की फाइलों में कहीं न कहीं दबी पड़ी हों। उन दिनों बहुत-सी ऐसी बातें हुईं जिनकी चर्चा करूं तो आपको दिलचस्प लगे। लेकिन कहानी लम्बी है और दिक्कत है—

बड़े शौक से सुन रहा था जमाना
हम ही सो गए दास्तां कहते-कहते

सच्चाई यह है कि जनता पार्टी या जनता सरकार में सिद्धांत की नहीं, स्वार्थ की ही सारी लड़ाई चली। इस से बड़ी सच्चाई यह है कि जनता पार्टी कभी बन ही न पाई। तो उसके चलने का सवाल कहां था? चली थी जनता सरकार और लोग भ्रम में रहे कि जनता पार्टी चल रही है। समस्त संसार के लिए यह एक अति विस्मयकारी ऐतिहासिक तथ्य है कि किसी राजनैतिक दल के जन्म लेने से पहले उस दल की सरकार बन गई हो। जनता पार्टी की विधिवत स्थापना 1 मई 1977 को दिल्ली के प्रगति मैदान में हुई थी जबकि सवा महीने पहले ही केन्द्र में जनता सरकार गठित हो चुकी थी। जनता पार्टी के बनने के पहले ही जनता सरकार का बन जाना यदि संभव था, तो यह भी संभव था कि जनता पार्टी के बिना भी जनता सरकार कुछ दिनों तक चल जाए। सो लष्टम-पष्टम दो-ढाई साल तक भारत में जनता सरकार चल गई।

सन् '74 से '79 के पांच बरसों में जो कुछ भी हुआ, उसका सबसे दुर्भाग्यपूर्ण नतीजा यह निकला कि अब लाख कोई चिल्लाए, 'बचाओ! बचाओ! भेड़िया आया भेड़िया आया' किंतु उसकी गुहार पर कोई भी न दौड़ेगा; भले ही एक दिन सचमुच भेड़िया आकर उसे खा जाए। भारतीय लोकतंत्र के सामने यह खतरा आने ही वाला है। और ऐसा न समझिएगा कि खतरा इंदिरा जी की ओर से आएगा। खतरा तो वास्तव में आएगा इंदिरा जी के बाद। तब देश को विप्लव और विघटन से बचाने वाला शायद कोई न हो। इंदिरा जी एक क्रूर तानाशाह कदापि नहीं बन सकतीं। मुझे इसके दो अति प्रबल कारण दीखते हैं: एक तो, उनकी रगों में जवाहरलाल नेहरू का लोकतंत्रवादी खून और दूसरा, उनका दैव-भीरु होना। ईश्वर का अस्तित्व हो, न हो, यह बिल्कुल अलग बात है, लेकिन ईश्वर का भय मनुष्य को अत्याचारी बनने से तो रोक ही देता है।

प्रश्न इंदिरा जी या किसी की अच्छी या बुरी नीयत का नहीं है। प्रश्न है कर्म-फल का। कार्य-कारण नियम द्वारा संचालित विश्व में कर्म अवश्य फलित

होंगे—आज फलें कल फलें; परसों या बरसों बाद फलें। हो सकता है किसी निर्दोष को ही उनका सारा दंड भुगतना पड़ जाए, जैसे फ़्रांस की राज्यक्रांति के दिनों में वहां के राजा सोलहवें लूई और उसकी पीढ़ी के लाखों लोगों को भुगतना पड़ गया था। सैकड़ों वर्ष से राजकाज के कुप्रबंध और कुव्यवस्था का प्रतिफल थी फ्रांस की राज्यक्रांति। उन्नीस वर्षों के अपने शासन काल में सोलहवें लूई ने फ्रांस की दशा सुधारने के अनेक यत्न किए थे, किंतु पूर्व-कुकृत्यों के डोरे आपस में इस तरह उलझे पड़े थे कि उन्हें सुलझा लेना किसी के लिए भी आसान न था। पाप पूर्वजों का था, गर्दन लूई की उतर गई। उसके बाद लगभग बारह वर्षों तक फ्रांस में खून की होली मची रही। जिन लोगों ने क्रांति की शुरूआत की थी, उनकी नीयत अच्छी थी। उनका इरादा नेक था। वे विशुद्ध लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते थे। उन्होंने राजा को सूली चढ़ा दी। रानी को मार डाला। उसके बच्चों को भी नहीं छोड़ा। राजतंत्र को मिटा दिया। किंतु क्रांति स्वयं भटक गई। वह ऐसी दिग्भ्रमित हुई कि जिस फ़्रांस की जनता ने लूई का सिर उतारकर राजतंत्र का उन्मूलन कर दिया था, उसी ने मात्र बारह बरसों के अंदर, 18 मई 1804 को, नेपोलियन के सिर पर बादशाहत का ताज रख दिया। बीच के बारह बरसों में क्रांति स्वयं अपने ही पुत्रों को एक-एक कर चबाती गई। क्रांति-नायकों ने एक-दूसरे को ढूंढ़-ढूंढ़कर मारा: दांतों, राब्सपियर, मादाम रोलां, मिराबू, मारा, लाफायत, बेली, बार्नवे, हरबर्ट, फिलिप समता, प्रसिद्ध कवि आंद्रे चानियर, आधुनिक रसायन शास्त्र का जनक लेवेज़ियर, विख्यात विचारक कोन्दरसे—सब मरे, सब मिटे। सब संचित कुकर्मों का फल ही तो था।

जिस कुप्रबंध और कुव्यवस्था ने उन दिनों फ्रांस की वैसी दुर्दशा कर दी थी, वही भारतीय लोकतंत्र का भविष्य भी धुंधला करती जा रही है। स्थिति कब बिगड़ जाए और बिगड़ कर कहां से कहां चली जाए, कहना कठिन है। देश की स्थिति संभाल ले चलने के लिए जिन विचारशील, चरित्रवान, कुशल और कर्मनिष्ठ प्रशासकों की आवश्यकता है, वैसे लोगों की संख्या दल और सरकार में निरंतर घटती जा रही है। सत्ताधीशों से कौन कहे कि उनके दलीय अनुशासन और वफादारी का अर्थ यदि वाणी की कैद और कर्म की स्वच्छंदता है, तो वैसी वफादारी की प्रचुरता चापलूसों के ही पास है और वैसे अनुशासन का अधिकतम उपयोग कुकर्मों के लिए ही किया जाता रहेगा।

अब तक सत्ता में जितने लोग आए-गए, उन्होंने बहुत कुछ लूटा, लेकिन सबसे अनमोल रत्न लूट लेने का सौभाग्य बिहार के भूतपूर्व मुख्यमंत्री जनाब अब्दुल ग़फ़ूर साहब को ही प्राप्त हुआ। लगता है सत्ता से हटने के बाद ही वे सही मुकाम पर पहुंच पाए। लेकिन मेरे जैसे लोगों के दिल में उनके लिए अब पहले से भी ज्यादा इज्जत हो गई। उन्होंने एक ऐसा अनमोल बोध-रत्न प्राप्त कर

लिया जिसकी चमक सत्ता में बैठे लोगों की आंखों की पट्टी गिरा दे। हां, जिनकी आंखें बैठ गई हों, उनका कोई इलाज नहीं। गफूर साहब ने अपने एक संस्मरणात्मक लेख में लिखा है—

"जैसे ही आपने मुख्यमंत्री पद की शपथ ली, आप वैसे लोगों के हुजूम से घिर जाएंगे जिन्हें आपने पहले कभी देखा न होगा। हाथों में पुष्पहार लिए विह्वल उच्च स्वर में वे घोषणा करेंगे कि वे आपके मित्र हैं। सच तो यह है कि वे बिल्कुल नहीं हैं। वैसे लोग फ़क़त चापलूस हैं जो उसी वक्त तक आपको घेरे रहेंगे जब तक आप सत्ता में हैं—उसके एक भी दिन बाद नहीं। कुछ ही दिनों में लत इतनी बिगड़ जाती है कि वैसे चापलूसों के बिना जी ही नहीं लगता। आपके सच्चे दोस्त आपसे छूटने लग जाते हैं। उनका स्वाभिमान उन्हें आप तक पहुंचने से रोक देता है। जैसे-जैसे वक्त गुजरता जाता है, मुख्य मंत्री और उसके सच्चे दोस्तों के बीच का फासला भी बढ़ता जाता है। जल्द ही वह गाढ़ा वक्त भी आ पहुंचता है जब बेचारे मुख्य मंत्री को कहीं कोई सच्चा मददगार नहीं मिल पाता।"

काश! यह बोध सत्ता में बैठे वर्तमान लोगों को भी हो जाए, तो देश का भाग्य संवर जाने की उम्मीद बंध जाती।

भारत में अब तक जो भी राजनैतिक गैर-जिम्मेदारियां बरती जाती रही हैं उनका नतीजा देश को भुगतना ही पड़ेगा। देश में तानाशाही अगर कभी आई तो किसी के बुलावे पर नहीं आएगी। वह तो परिस्थितिवश स्वयमेव चली आएगी। वचन से लोकतंत्र का स्तुतिगान तो हमने बहुत किया किंतु अपने कर्म से हम सब ने मिलकर उसकी जड़ें खोखली कर दी हैं: प्रतिपक्ष विरोध की राजनीति से पीड़ित है, सत्तापक्ष खुशामद की राजनीति से ग्रस्त। जनता का दल पर कोई प्रभाव नहीं। दल का सरकार पर अंकुश नहीं। सरकार का प्रशासन पर कोई नियंत्रण नहीं। तो लोकतंत्र के उज्ज्वल भविष्य की लालसा भी लड़खड़ाते-लड़खड़ाते एक न एक दिन गिर ही जाएगी। लोकतंत्र का दर्शन या सिद्धांत जीवन के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण की उपज है। मनीषियों ने बिल्कुल ही ठीक कहा है, कि राजनैतिक दर्शन और व्यवहार के बीच जो वैचारिक रिश्ते हैं, उन्हें भुला दिया जाए, तो राजनीति गंदी होकर सिर्फ सत्ता की छीना-झपटी तक सिमट जाती है। और राजनीति जब मात्र सत्ता और सफलता की बात बनकर रह जाए, तो लोकतंत्र क्या, स्वतंत्रता भी सुरक्षित बचे तो गनीमत मानिए। अभी भी हम एक ऐसे स्वाधीन देश के गुलाम लोग हैं जहां लोकतंत्र की काया तो खड़ी है लेकिन उसमें लोकतंत्र की आत्मा का निवास नहीं। लोकतंत्र के ऊपरी ढांचे में हम चाहे जितना भी रद्दोबदल कर दें—पार्लियामेंटरी गवर्नमेंट की जगह प्रेजिडेंशियल गवर्नमेंट—किंतु उससे कोई अंतर नहीं पड़ेगा, क्योंकि अपने देश में

विफल संसदीय प्रणाली नहीं, बल्कि देश के लोग हो रहे हैं। लोग यदि वैसे ही रहे तो वैकल्पिक प्रणाली भी निश्चय ही निरर्थक सिद्ध होगी। इस प्रसंग में डा० लोहिया की एक बात मुझे याद आ जाती है : भारतीय गणतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के कार्यकाल में हल्के से यह विवाद उठा था कि, राष्ट्रपति की वास्तविक संवैधानिक स्थिति क्या है ? उसकी संवैधानिक शक्तियां अपने व्यवहार रूप में असल में उसकी ही हैं या प्रधान मंत्री की ? दूसरे शब्दों में, राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री में वस्तुतः अधिक शक्तिशाली कौन है ? इस विवाद पर एक अत्यंत सारगर्भित टिप्पणी करते हुए डा० लोहिया ने कहा था कि इसका उत्तर संविधान से नहीं मिलेगा। उत्तर चाहते हो तो जवाहर लाल को राष्ट्रपति और राजेन्द्र बाबू को प्रधानमंत्री बनाकर देख लो; सारी स्थिति स्पष्ट हो जाएगी।

देश के सामने जो समस्याएं हैं, उन्हें गिना देना तो किसी के लिए भी आसान हैं, किंतु उन समस्याओं के समाधान, सच पूछिए तो, किसी के पास नहीं हैं, क्योंकि समस्याओं की गहराई में कोई जाना नहीं चाहता। गहराई में दम फूलने लग जाते हैं। सांस उतने सधे नहीं। किसी में वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं जो समस्याओं की तात्त्विक समीक्षा कर सके और न ही किसी में वह सर्जनात्मक शक्ति है जो उनके असंदिग्ध और उत्कृष्ट समाधान प्रस्तुत कर दे। भाड़े के बुद्धिजीवियों का नौटंकी-सम्मेलन चाहे हम जितना भी करते रहें, रोग उनके वश का नहीं। जो स्थिति साहित्य की, सो ही राजनीति की। साहित्यिक जगत् में किसी काव्य के आलोचक तो अनेक मिल जाएंगे, किंतु स्वयं जो एक उत्तम काव्य की रचना कर सकें—ऐसे रचयिता दुर्लभ हैं। भारत के छिछले और स्वार्थी राजनीतिज्ञों ने राजनीति को नाहक विपदा ढूंढ़ निकालने का विज्ञान और उनके गलत समाधान प्रस्तुत कर देने की कला बनाकर छोड़ दिया है।

दोष बहुत हद तक हमारे राष्ट्रीय चरित्र और सांस्कृतिक परंपराओं का भी है। ढोल तो हमने बहुत पीटे : हम उस पवित्र देश के वासी हैं जहां भगवान भी अवतरित होने को तरसते रहे—राम-कृष्ण का अवतार हुआ; मुनि-महात्माओं की पुण्यभूमि—महावीर-बुद्ध पैदा हुए, गांधी जी जैसे महापुरुष आए; गौरवपूर्ण इतिहास से युक्त एक महान राष्ट्र रहा हमारा, आदि-आदि। सोचिए, सब कुछ सचमुच उतना शानदार और गौरवपूर्ण था, तो हम बार-बार गुलाम क्यों होते रहे ? इतिहास साक्षी है, एक भी बाहरी हमलावर हिंदुस्तान से असफल नहीं लौटा—शक आए, हूण आए; यूनानी और तुर्क आए, पाठान-मुगल आए; डच-फ्रांसीसी और अंग्रेज आए। सबने विजय पाई और इस देश पर अपना राज्य स्थापित कर लिया और सब से बड़ा आश्चर्य यह है कि जो भी आए, मुट्ठी भर आए। उनके मुकाबिले के लिए इस देश के लोगों और फौज की संख्या बेशुमार रही। फिर भी वे ही जीते। यहीं के लोगों ने उनकी मदद की। यही है हमारा

राष्ट्रीय चरित्र। डा० लोहिया ने एक बार कहा था : "पिछले हजार बरस में भारत के राष्ट्रीय चरित्र को समझने के लिए एक वाक्य काफी है कि यहां एक हल्दी घाटी है तो पचास या सौ बक्सर हैं।" हल्दी घाटी वह जगह है जहां 18 जून 1576 को अकबर की सेनाओं के साथ मेवाड़ के राणा प्रताप का घनघोर युद्ध हुआ था। राणा प्रताप करीब-करीब आखिरी सिपाही तक लड़ते रहे। लेकिन 22 अक्टूबर 1764 को बक्सर के मैदान (बिहार) में जब अंग्रेज और भारतीयों का मुकाबिला हुआ तो बंगाल के नवाब मीर कासिम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला और दिल्ली के बादशाह शाह आलम की सम्मिलित सेना में लगभग पचास हजार सिपाही थे और अंग्रेजों की तरफ बस, तीन-चार हजार। लेकिन लड़ाई मुश्किल से पांच मिनट चली और फतह अंग्रेज सेनापति मेजर हेक्टर मुनरो की हुई। है न चौंकने वाली बात ?

लोग कहेंगे कि हमारे यहां ऐसे-ऐसे चमत्कारी तपस्वी, ऋषि-मुनि हो गए जो साधना और तपोबल से शरीर को अजर-अमर बना देने की युक्ति जान गए थे। ऐसी काया-कल्प कर देते कि सौ साल का बूढ़ा भी फड़कता जवान बन जाए। फूंक मार दें तो महारोग भाग जाए। मान लीजिए ये बातें ठीक भी हों, तो भी उसका लाभ ? बताया तो किसी को नहीं। गए, तो सब साथ लिए गए। और उधर विलायत में जिसने पेनिसिलिन की ईजाद की थी, दवा कंपनियां लाखों डॉलर लिए गिड़गिड़ाती रहीं की कंपनी को वह अपनी विधि गुप्त रूप से बताकर पेनि-सिलिन उत्पादन का एकस्त्र अधिकार (पेटेंट राइट) दे दे, लेकिन उसने यह कहते हुए सारी दुनिया पर अपना गुप्त-ज्ञान प्रकट कर दिया—'नो, दिस इज़ इन दि सर्विस ऑफ मैनकाइंड' (नहीं, यह समस्त मानव जाति की सेवा में अर्पित है) पेनिसिलिन की विधि सब जान गए और समस्त चिकित्सा-जगत् में एक चमत्कार हो गया। कहिए! कौन महान् था—हमारे ऋषि-मुनि या पेनिसिलिन का आविष्कर्ता अलेक्जेंडर फ्लेमिंग ?

शाहजहां के शासन-काल में एक अंग्रेज सौदागर-यात्री (बाउटन) भारत आया। दवा-इलाज का भी ज्ञान था उसे। बादशाह की बेटी बीमार थी। यात्री ने इलाज किया। वह चंगी हो गई तो बादशाह ने खुश होकर पूछा, मांगो, क्या मांगते हो ? लेकिन बाउटन ने अपने लिए नहीं, अपनी सारी कौम के लिए मांगा कि उसके देश को हिंदुस्तान के साथ व्यापार करने की इजाज़त दे दी जाए। इसे कहते हैं राष्ट्रीय चरित्र। लोग कहेंगे, हम तो महान थे लेकिन विदेशियों ने हमें गुलाम बनाकर अधम बना दिया। जरा ठीक से सोचिएगा : विदेशियों ने हमें गुलाम बनाकर हमारा नैतिक और चारित्रिक पतन कर दिया या हमारी नैतिक और चारित्रिक निर्बलताओं के कारण विदेशी हमें बार-बार गुलाम बनाने में सफल होते रहे ? आत्म-प्रवंचना के लिए कहीं हमने एक झूठा इतिहास तो नहीं गढ़

लिया ताकि नैतिक और चारित्रिक संकट के निराशापूर्ण वातावरण में, भारत के कभी उतना महान् होने का विश्वास हमें कुछ सांत्वना प्रदान कर दे ? सब कुछ एक सतर्क और सत्यनिष्ठ अन्वेषण का विषय है ।

इस धरती की अधिकतम ऊंचाई है हिमालय की चोटी । न जाने कब से हिमालय धरती के उस भूभाग, जिसे भारत कहते हैं, की सभ्यता-संस्कृति का एक मूक द्रष्टा रहा है । विश्व की दो प्राचीन संस्कृतियों—भारत और चीन—के मध्य खड़ा गिरिराज हिमालय साक्षी है, न केवल भारत के, बल्कि उन सभी देशों के इतिहास का जहां तक उसका उन्नत नेत्र देख पा सकता है । बहुत दुनिया देखी है हिमालय ने । अपने तूफानी जीवन के अंतिम दशक में उसी हिमालय के चरणों में जा पहुंचे थे एम० एन० राय । उनके जीवन का अंतिम भाग देहरादून में बीता था । वहीं उन्होंने एकांत में और निर्लिप्त भाव से अपने सारे ज्ञान और विचारों की समीक्षा शुरू की थी । अपने जीवन के अनुभव को हिमालय के चिर-अनुभव के साथ जोड़ने का प्रयास किया था । भारत के वर्तमान का, इस देश के भूत और भविष्य के साथ तारतम्य स्थापित करने की अपनी चिंतन-प्रक्रिया में भारतीय गणराज्य की उद्घोषणा के ठीक दसवें दिन, 5 फरवरी 1950 को, कलकत्ते के अपने भाषण में एम० एन० राय ने कहा था :

"देश की अवस्था, जिसकी जड़ सांस्कृतिक परंपरा में बहुत गहरी है, को एक यथार्थपूर्ण दृष्टिकोण से देखने पर जनतंत्र के भविष्य के बारे में आशा नहीं बंधती···चूंकि जनतंत्र को किसी की बुरी नीयत से नहीं अपितु देश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से खतरा है, इसलिए हमें हवा में घूंसे तानने और दूसरे की नीयत से झगड़ने के बदले ऐसी अवस्था के निर्माण में लग जाना चाहिए जिसमें तानाशाही असंभव हो···जब तक तानाशाही को उभारने वाली सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक पूर्वावस्थाओं को दूर नहीं किया जाता, तानाशाही के विरुद्ध केवल चेतावनी देने से कुछ नहीं होगा । दरअसल, आज जो लोग तानाशाही के विरुद्ध चेतावनी दे रहे हैं, हो सकता है अवसर पाकर वे स्वयं ही तानाशाही स्थापित कर लें, क्योंकि उन्हें भी उसी वातावरण में काम करना होगा ।

दल और सत्ता की राजनीति में फंसे लोग दूरदर्शी नहीं हो सकते । जनतंत्र की बुनियाद डालना उनके लिए कठिन प्रक्रिया है । वे तो जल्दी से सत्ता प्राप्त कर लेना चाहते हैं । और जल्दी से सत्ता प्राप्त करने का उपाय है--निरंतर दूसरों से भी बढ़कर लंबे-चौड़े वादे करना । ऐसे वादे करना जिनमें न तो स्वयं अपना ही विश्वास हो और न उन्हें अमल में लाने की नीयत । इसलिए अपने देश में जनतंत्र का भविष्य ऐसे लोगों पर निर्भर होगा जो आज या तो राजनीति से बाहर हैं या जिनमें इस अनुचित छीना-

झपटी से बाहर निकल आने का साहस है··· एक आदमी जो आजादी के साथ एक जनतांत्रिक समाज में जीना चाहता है, वह विवेकी और नैतिक मनुष्य की तरह आचरण करके बहुत हद तक अपने को आजाद कर सकता है; भले ही वह सारी दुनिया या भारत की सारी जनता को एक शक्तिशाली इन्कलाब के जरिए आजाद न कर सके···"

देश···आजादी···इन्कलाब की सोच में अब तो थक-सा गया हूं। जी चाहता है आपसे यह आरजू कर सो जाऊं कि जब असली इन्कलाब आ जाए तो मुझे भी जगा दीजियेगा। यकीन मानिए, मेरी नींद बड़ी पतली है। जगते देर न लगेगी। हां, यह भी जरूर अर्ज करता जाऊंगा—

बुझ रहे हैं चिरागे दर-ओ-हरम।
दिल जलाओ कि रोशनी कम है॥

□□

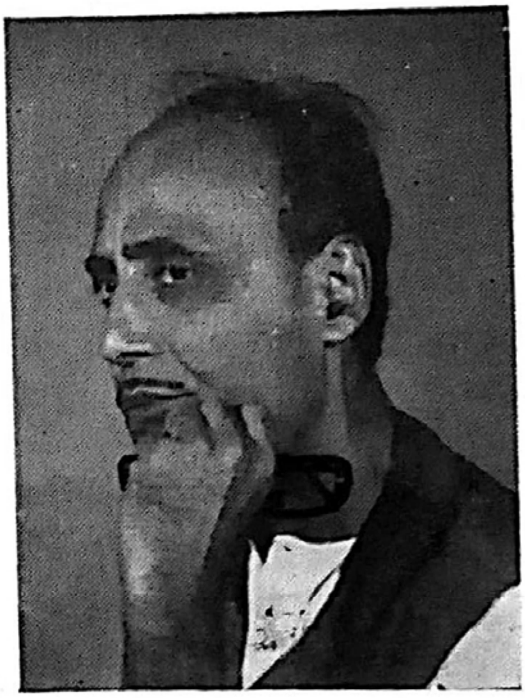

अरुण भोले

जन्म : १५ नवंबर, १९३३; स्थान : मिश्र-टोला, दरभंगा; पैतृक ग्राम : सुबइया, थाना : केसरिया, जिला : चम्पारण (बिहार)

शिक्षा : एम० ए०, बी० एल० ।

समाजवादी आंदोलन से प्रतिबद्ध, कर्मठ जन-सेवी एवं विचारक । सन् '७४ के दिनों में बिहार राज्य सोशलिस्ट पार्टी के एक सचिव तथा जे० पी० आंदोलन के प्रमुख सहभागी । राजनीति के अतिरिक्त अध्यापन, पत्रकारिता और वकालत से भी कुछ दिनों तक संबद्ध रहे । छिट-पुट कई रचनाएं प्रकाशित हुई हैं किंतु पुस्तक-रूप में यह प्रथम कृति ।

आवास : ब्लाक-१२, फ्लैट-१०७,
राजेंद्रनगर, पटना
फोन : ५१३९८